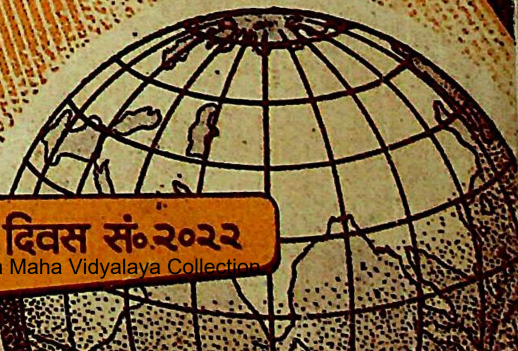
वेद

आर्योदय

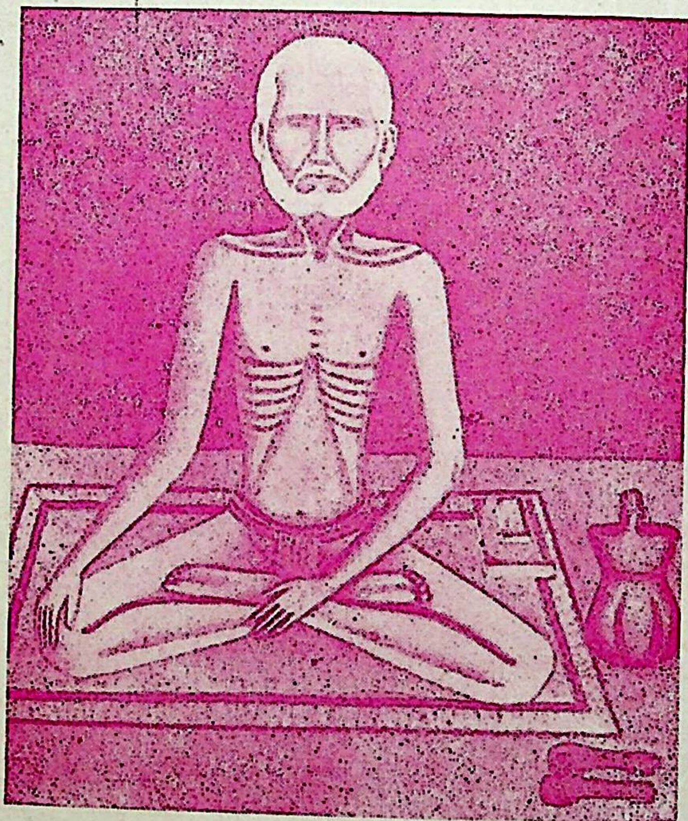
हिन्दी साप्ताहिक

वेदाङ्क



आर्यसमाज स्थापना दिवस सं० २०२२

महर्षि दयानन्द के आचार्य—



स्व० स्वामी विरजानन्द सरस्वती

आप के चरणों में बैठ कर जिज्ञासु दयानन्द ने शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। गुरु दक्षिणा के समय गुरु ने आदेश दिया था कि, वत्स ! संसार "वेद" को भूल चुका है, "वेद" के प्रकाश से संसार का अंधकार दूर करो…गुरु की आज्ञा का पालन ही दयानन्द का जीवन लक्ष्य बन गया और इस तरह संसार को पुनः "वेद" का प्रकाश मिला……………

आर्योदय

आर्य समाज स्थापना दिवस

(२३ मार्च १९६६)

चैत्र सुदी प्रतिपदा

वेदाङ्क

ईश्वर का आदेश

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः
सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँसि जज्ञिरे
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

यजु० ३१-७

पदार्थ—हे मनुष्यो ! तुमको चाहिए कि (तस्मात्) उस पूर्ण (यज्ञात्) अत्यन्त पूजनीय को (सर्वहुतः) जिसके अर्थ सब लोग समस्त पदार्थों को देते वा समर्पण करते हैं उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद

हैं (तस्मात्) जिस परमात्मा से (छन्दांसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होता और (तस्मात्) जिस पुरुष से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न होता है उसको जानो।

भवार्थ—हे मनुष्यो ! आप लोग जिससे सब वेद उत्पन्न हुए हैं उस परमात्मा की उपासना करो, वेदों को पढ़ो और उसकी आज्ञा के अनुकूल वर्त्त के सुखी होओ।

—महर्षि दयानन्द

आर्य प्रतिनिधि सभा
पंजाब का मुख पत्र

सम्पादक
रघुवीरसिंह शास्त्री
—भारतेन्द्रनाथ

वार्षिक मूल्य ८)
एक प्रति का
२० पैसे
इस अंक का
१.२५ पैसे

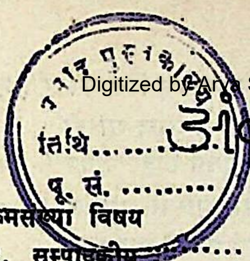
'आर्योदय',
हिन्दी साप्ताहिक

कार्यालय
१५ हनुमान रोड
नई दिल्ली

फोन ४४९१७

२० मार्च
१९६६

वर्ष ८ — अंक ३०-३१



अंक में पढ़िये

क्रमसंख्या विषय — लेखक — पृष्ठ संख्या

English Section **Page 60**

मुद्रक और प्रकाशक भारतेन्द्रनाथ 'साहित्यालंकार' द्वारा सत्साहित्य केन्द्र प्रिंटर्स, १७३-डी, कमलानगर, दिल्ली-७ व श्रीमहामायाप्रिंटर्स, सीतारामबाजार, दिल्ली से छपवाकर "आर्योदय" कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१ से प्रकाशित।


पु०सं० 2355

वेदोद्धारक—युग प्रवर्तक—



आर्य समाज संस्थापक

महर्षि दयानन्द सरस्वती

सम्पादकीय

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संसार पर जो महान उपकार किए हैं उन में सर्वोपरि है, मनुष्य मात्र को पुनः महान् ईश्वरीय ज्ञान भंडार "वेद" के सत्य स्वरूप से परिचित करना ।

"वेद" क्या हैं, उन की विशेषताएं क्या हैं ? उन्हें ही क्यों ईश्वरीय ज्ञान माना जाए, यह शंकाएं प्रायः सर्वत्र उठती हैं, । पाश्चात्य विद्वानों ने संसार की इस महान् निधि को नष्ट करने के लिए जो दुरभिसन्धियाँ की हैं, उन से धीरे-धीरे "वेद" के प्रति श्रद्धा की समाप्ति होती जा रही है ।

इसी श्रद्धा को पुनः जगाने के लिए आर्य समाज स्थापना दिवस पर, "वेद" के सत्य स्वरूप से परिचित कराने का हमारा यह लघु प्रयास "वेदांक" आर्य समाज के लक्ष्य का एक स्वल्प प्रयत्न मात्र है । आवश्यकता इस बात की है कि सभी मानव प्रेमी, संसार की सुख-शांति-समृद्धि के इच्छुक, अज्ञान ईर्ष्या-द्वेष के प्रसारक मत-ग्रंथ, कुरान, पुराण, बाईबिल आदि को छोड़ सत्य ईश्वरीय ज्ञान द्वारा धरती को स्वर्ग बनाने का संकल्प लें ।

"वेद" के प्रति श्रद्धा, वेद-प्रसार के लिए उत्साह यदि कुछ पाठकों के मन में भी इस अंक द्वारा उत्पन्न हो सका तो, हम अपना श्रम सफल समझेंगे ।

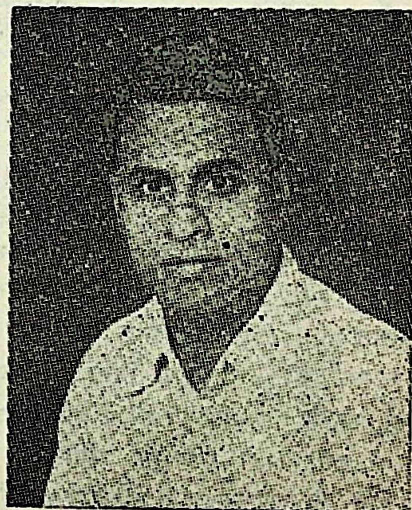
हिन्दी से अपरिचित व्यक्तियों के लिए इस अंक में ६० पृष्ठ अंत में दिए गए हैं । हमें आशा है कि आंग्ल भाषा विज्ञ भी इन्हें पढ़ कर "वेद" के सत्य स्वरूप को समझने की प्रेरणा पा सकेंगे ।

अंक के प्रकाशन में जिन महानुभावों का भी सहयोग प्राप्त हुआ है उनके हम आभारी हैं । विशेष रूप से विद्वान् लेखकों के, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर लेख भेजने की कृपा की ।

परमात्मा हम सभी को वेद को समझने की, "वेद" के प्रसार की प्रेरणा करें । हम सच्चे अर्थों में आर्य बनें और परमात्मा की सौंपी हुयी जो महान् निधि हमारे पास है, उसे संसार को देकर मानवता को विनाश से बचाने का पुण्य लाभ प्राप्त करें ।

—भारतेन्द्र नाथ

संसार के सभी मत वाले अपने अपने धर्म ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं, तब प्रश्न उठता है कि वेद ही क्यों ? इस प्रश्न का सुलझा उत्तर आर्य समाज के उच्च कोटि के विद्वान्, वक्ता और पत्रकार लेखक की लेखनी से पढ़िए।



वेद ही क्यों ?

क्षितीश कुमार वेदालंकार

वेद ही क्यों ?

इस प्रश्न को उपस्थित करने वाले दो प्रकार के वर्ग हैं। एक वर्ग को हम आस्तिक या धार्मिक लोगों का वर्ग कह सकते हैं और दूसरे वर्ग को नास्तिक या अधार्मिक लोगों का वर्ग।

जो नास्तिक या अधार्मिक लोग हैं वे तो ईश्वर या धर्ममात्र के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में सभी धर्मग्रन्थ त्याज्य हैं, इसलिए वे किसी भी धर्मग्रन्थ के गुणावगुण पर विचार करने को भी तैयार नहीं। परन्तु जो धार्मिक लोग हैं, वे भी नाना सम्प्रदायों और अनेक मत मतान्तरों में बंटे हुए हैं और

हरेक मतवादी अपने ही धर्मग्रन्थ को सर्वश्रेष्ठ मानता है। ऐसा मानना स्वाभाविक भी है। मतवादियों को अपने मत से मोह होता ही है। इस मोह के वशीभूत होकर यदि कोई अपने मत को अन्य मतों से तथा अपने धर्मग्रन्थ को अन्य धर्मग्रन्थों से उत्कृष्ट सपझे तो इसे अनुचित कैसे कहा जाए ? प्रत्येक माता को अपना पुत्र ही संसार में सबसे सुन्दर लगता है न !

विभिन्न मतवादी लोग अपने मत की उत्कृष्टता सिद्ध करने में इस सीमा तक आगे बढ़ गये हैं कि वे अपने धर्मग्रन्थ को ही ईश्वर-कृत मानते हैं और अपने धर्मग्रन्थ की भाषा को भी ईश्वरीय या दैवीय भाषा मानते हैं। प्राचीन यहूदी लोगों का विश्वास था कि परमात्मा को केवल हिब्रू भाषा ही आती है, उसी हिब्रू भाषा में उसने संसार को धर्म का उपदेश दिया। जैनी लोग चिरकाल तक यह मानते रहे हैं कि तीर्थंकरों की भाषा केवल मागधी थी। यही दिव्य भाषा है इसलिए उसी में उपदेश दिया गया है। यहां तक कि उनके विश्वास के अनुसार संसार भर के पशु-पक्षी भी मागधी भाषा ही जानते हैं।

अधार्मिक या नास्तिक लोगों की बात फिलहाल छोड़ दें। उनकी आवाज में जितना कोलाहल का जोर है उतना तर्कों का औचित्य नहीं। नास्तिकता एक फैशन बन गया है और फैशन तर्कातीत होता है। परन्तु जो आस्तिक हैं और धार्मिक हैं, उनमें भी परस्पर इतने मतभेद हैं कि बहुत बार इनकी परस्पर सिर फुटौवल देखकर यही मनमें आता है कि इनसे तो नास्तिक ही अच्छे !

परन्तु नास्तिकता से भी मनुष्य की बुद्धि को सन्तोष नहीं होता। वह ऊहापोह करती ही रहती है। मनुष्य के मन में मोह का समावेश भी होता ही रहता है—परन्तु उस मोह के कारण क्या वह इतना अन्धा हो जाए कि सत्य और असत्य तथा न्याय और अन्याय में विवेक करना भी छोड़ दे !

तो फिर सत्य को पहचानने का उपाय क्या है? हरेक धर्मावलम्बी अपने धर्मग्रन्थ के ही सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करे तो उन दावों की परीक्षा कैसे की जाए ?

एक अचूक उपाय

इस का उपाय बड़ा सरल है। कोई भी इतिहास का विद्यार्थी यदि अपनी आंखों पर से पक्षपात की ऐनक उतार कर संसार भर के धर्मग्रन्थों का

अध्ययन करे तो वह एक बात देखकर चकित रह जाएगा। उसे उन सब धर्मग्रन्थों की कुछ बातों में परस्पर समानता प्रतीत होगी। (यहाँ यह कहने का हमारा अभिप्राय नहीं है कि सब धर्मग्रन्थों में सब बातें समान हैं। परस्पर विरोध भी है, भयंकर विरोध है। पर कुछ बातें मिलती जुलती अवश्य हैं—इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।) यह समानता मानव-बुद्धि की समान चिन्तन-प्रणाली की द्योतक है। यदि ऐसी बात न होती तो अच्छी बात को सारा संसार अच्छा और बुरी बात को सारा संसार बुरा न कहता। न्याय और अन्याय की कसौटी भी नहीं रहती।

वह सहज और सरल उपाय यही है कि सब धर्मग्रन्थों में जितनी बातें समान हैं उन्हें एकत्र कर लीजिए और जिन बातों में परस्पर विरोध है, उन्हें छोड़ दीजिए। सब धर्मग्रन्थों की परस्पर समान बातें ही धर्म हैं, ग्राह्य हैं, आदेय हैं और परस्पर-विरुद्ध बातें अधर्म हैं, अग्राह्य हैं और हेय हैं।

स्वभावतः प्रश्न होगा कि वेद ही क्यों—इस प्रश्न के साथ उक्त कथन की क्या संगति है ? उत्तर से पहले हम पूछते हैं कि विभिन्न धर्मग्रंथों से चुन-चुनकर जो परस्पर समान बातें आपने एकत्र की हैं—जिन्हें धर्म का शुद्ध स्वरूप कहा जा सकता है, उन सबका मूल आधार क्या है ?

क्या कुरान ? क्या पुराण ? क्या बाइबिल ! क्या जिन्दावस्ता ? क्या त्रिपिटक ? क्या कोई अन्य धर्मग्रन्थ ?

उत्तर में वितण्डा की आवश्यकता नहीं। यह सीधा इतिहास का प्रश्न है। इतिहास की शरण लीजिए और सही उत्तर को खोजिए।

संसार के समस्त इतिहासज्ञ जानते हैं कि अबसे लगभग १४००वर्ष पहले हजरत मुहम्मद साहब इस संसार में नहीं थे। जब इस्लाम के पैगम्बर ही नहीं थें तो उनके पैरोकार कहाँ से होते ? कहां से होती उनकी कुरान ? स्पष्ट है कि अबसे लगभग १४०० साल. पहले इस दुनियाँ में हजरत मुहम्मद साहब, कुरानशरीफ और इस्लाम का नाम लेने वाला कोई नहीं था, उनका अस्तित्व नहीं था।

फिर रही बाइबिल। बाइबिल को अधिक से अधिक १९६६ साल पुराना माना जा सकता है क्योंकि ईसा के साथ सम्बद्ध ईस्वी सन् इससे आगे बढ़ने की अनुमति नहीं देता। यद्यपि सत्य तो यह है कि बाइबिल का कोई भी भाग

ईसा के समय नहीं बना था, वह उनके शिष्यों की ही कृति है, ठीक वैसे ही जैसे कि त्रिपिटक महात्मा बुद्ध की नहीं प्रत्युत उनके शिष्यों की कृति है। जो भी हो, बाइबिल का या न्यू टेस्टामेंट का समय और पीछे नहीं ले जाया जा सकता। जब १९६६ वर्ष पहले हजरत ईसामसीह ही नहीं थे तो ख्रीस्ती धर्म या उनका धर्मग्रन्थ बाइबिल भी कहां से होता।

तो क्या यहूदियों का धर्मग्रन्थ पैंटाट्यूक या पंजनामा उस समानता का आधार है? परन्तु यहूदियों के पैगम्बर हज़रत मूसा का काल ३५०० वर्ष से अधिक पीछे नहीं जा सकता। स्वयं यहूदी भी वैसा ही मानते हैं। जब हजरत मूसा का ही प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब यहूदी मत के प्रादुर्भाव का प्रश्न ही नहीं। इसलिए यह निर्विवाद है कि अब से लगभग ३५०० वर्ष पहले संसार में यहूदी मत का अस्तित्व नहीं था।

क्या जिन्दावस्ता—पारसियों का धर्मग्रन्थ—उस का आधार है? पारसी मत के प्रवर्तक हजरत जरदुश्त का समय अबसे ३८०० वर्ष पूर्व माना जाता है। कुछ विद्वान् हजरत मूसा और हजरत जरदुश्त की समकालीनता, परस्पर भेंट, कुछ काल तक एक ही शहर में निवास और परस्पर विचारों के विनिमय की बात को सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानते और वे हजरत जरदुश्त का समय खींच कर ४१०० साल पहले तक ले जाते हैं। परन्तु इसके आगे उनकी भी गति नहीं है। कहने का भाव यह है कि हजरत जरदुश्त और उनके द्वारा प्रचलित पारसी मत तथा उनके धर्मग्रन्थ को किसी भी हालत में ४१०० वर्ष से अधिक पुराना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

भारतीय मत

जहां तक भारत में प्रचलित मतों का प्रश्न है—उनमें बौद्ध और जैन मत प्रमुख हैं, जिनको वैदिक परम्परा से भिन्न परम्परा में गिना जा सकता है। शैव, शाक्त या वैष्णव आदि सम्प्रदाय तथा उनकी अनेकानेक शाखाएं वैदिक परम्परा के ही अंग हैं—उनमें विकार चाहे कितना ही आ गया हो, किन्तु इन सम्प्रदायों ने वेद के प्रामाण्य का खण्डन करने का कभी साहस नहीं किया। कबीरपंथ, नानकपन्थ अर्थात्-सिख मत, या राधास्वामी मत आदि मत इतने अर्वाचीन हैं कि प्राचीनों की सभा में इन अर्वाचीनों का प्रवेश समीचीन नहीं प्रतीत होता। ब्रह्मकुमारी आदि सम्प्रदाय तो विशुद्ध गुरुडम की उपज हैं—

ये भारत भूमि की उस उर्वरा शक्ति के द्योतक हैं जिसके कारण हर बरसात में जगह जगह खुम्बियां या अन्य झाड़-झंखाड़ स्वतः उग आते हैं और किसी भी कुशल किसान को अपनी अनाज की फसल बोने से पहले खेत से उन्हें साफ करना ही पड़ता है। प्राचीनों की सभा में इन झाड़-झंखाड़ों का प्रवेश तो क्या, उन्हें दौवारिक की योग्यता का पात्र भी नहीं समझा जा सकता।

महात्मा बुद्ध का समय प्रायः सभी इतिहासकारों की दृष्टि में ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार उनका समय हुआ— १९६६+४०० = २३६६ वर्ष पूर्व। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि महात्मा बुद्ध का समय अबसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व है। अर्थात् ढाई हजार वर्ष से पहले महात्मा बुद्ध या बौद्ध मत की कल्पना नहीं की जा सकती।

रहा जैन मत। यदि जैन मत का प्रवर्तक महावीर स्वामी को माना जाए तो वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध दोनों समकालीन थे, उनकी परस्पर भेंट भी हुई, दोनों ही राजकुमार थे और दोनों ने अपने समय की राजनीति को भी काफी प्रभावित किया था। यदि राजनीतिक दृष्टि से तत्कालीन इतिहास का अध्ययन किया जाए—जिसकी कि परम्परा अपने देश में बहुत कम है, तो कदाचित् वैशाली को अपना कार्यक्षेत्र बनाने वाले इन दोनों महात्माओं की सामन्तोचित कूटनीतियों के परस्पर घात प्रतिघात का भी आकलन किया जा सके। पर वह विषयान्तर है। कहने का भाव केवल यह है कि वर्धमान महावीर और शाक्यपुत्र गौतम के समकालीन होने के कारण जैन धर्म को भी बौद्ध धर्म का समकालीन अर्थात् ढाई हजार वर्ष पुराना ही माना जा सकता है।

परन्तु आजकल के जैनियों की प्रवृत्ति अपने मत को इससे बहुत प्राचीन सिद्ध करने की है। वे वेद के अन्दर भी अपने तीर्थंकरों का वर्णन खोजते हैं। परन्तु जैसे "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्"—इस मंत्रखण्ड के आधार पर वेद में हजरत ईसामसीह का उल्लेख सिद्ध करना उपहासास्पद है या "पश्येम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्"—इस मंत्रखण्ड में मक्का मदीना का उल्लेख सिद्ध करना उपहासास्पद है, वैसा ही उपहासास्पद है "त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति" और घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्"—आदि मंत्रखण्डों में से भगवान् ऋषभदेव का वर्णन निकालना। परन्तु यहां हम इस विवाद में

नहीं पड़ते। यदि जैनी लोग अपने मत को ढाई हजार वर्ष पुराना नहीं उससे अधिक पुराना मानते हैं, तो मानें। उससे हमारे युक्तिक्रम में कोई अन्तर नहीं आता। अपने मतप्रवर्तक और मत के प्रादुर्भाव की जो भी तिथि वे निर्धारित करना चाहें, करें। इतना निश्चित है कि इतिहास में उन्हें ऐसा काल-निर्धारण अवश्य करना पड़ेगा जब उनके मत-प्रवर्तक या मत का अस्तित्व संसार में नहीं था और उसके बाद वे अस्तित्व में आए।

युक्ति का आधार

हमारे युक्तिक्रम का आधार यह है कि संसार के ये जितने मतमतान्तर हैं और जितने उनके धर्मग्रन्थ हैं, वे भले ही अपने आप में ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करें, परन्तु वे ईश्वरीय नहीं, मानवकृत हैं। इन मतों के विशिष्ट पैगम्बर हैं, उन पैगम्बरों की विशिष्ट जन्मतिथियां हैं, उन धर्मग्रन्थों के तैयार होने का विशिष्ट समय है। इतिहास इसका साक्षी है। इतिहास के इन तथ्यों को झुठलाया नहीं जा सकता। और इन धर्मग्रन्थों में कुछ बातों में समानता है, यह भी निर्विवाद है। उदाहरणार्थ--मनुस्मति के अनुसार धृति, क्षमा, अस्तेय इन्द्रियनिग्रह, अक्रोध आदि जिन तत्वों को धर्म का लक्षण बताया गया है, क्या ईसा का गिरि-प्रवचन (सर्मन ओन द माउण्ट), मूसा के दस आदेश (टेन कमाडमेंट्स) और महात्मा बुद्ध द्वारा वर्णित अष्टांगिक मार्ग या आर्य सत्य तथा कुरान द्वारा वर्णित सच्चे मुसलमानों के रोजा, जकात आदि कर्तव्यों में कोई विशेष अन्तर है? योगदर्शन में "तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" और "शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः" कह कर जिन यमों और नियमों का उल्लेख किया गया है, वे प्रकारान्तर से सार्वत्रिक नियम हैं और संसार के सभी धर्मों में इन गुणों को समान रूप से आदर की दृष्टि से देखा गया है। अन्तर है तो सामाजिक विधि-विधानों में, सृष्टिरचना की प्रक्रिया के वर्णन में, या मतवादी साम्प्रदायिक मान्यताओं में। इसी कारण महात्मा गांधी कहा करते थे कि किसी धर्मात्मा हिन्दू में, या धर्मात्मा मुसलमान में या धर्मात्मा ईसाई में जीवन की पवित्रता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होता। कोई धर्म ऐसा नहीं हो सकता जो सत्य, अहिंसा, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को धर्म का अंग न माने, उन्हें अधर्म बताए।

हमारी स्थापना यह है कि धर्मग्रन्थों में पाई जाने वाली समानताओं का आधार (प्रत्युत कहना चाहिए कि असमानताओं का आधार भी, क्योंकि असमानताएं भी बहुत बार किन्हीं समानताओं का विकृत रूप ही होती हैं) वेद है, क्योंकि समस्त उपलब्ध धर्मग्रन्थों में वेद सबसे प्राचीन है। मैक्समूलर ने जब यह कहा था : "वेद हमारे लिए मनुष्य-बुद्धि के सबसे पुराने परिच्छेद के परिचायक हैं"—तब से आज तक इस उक्ति का खण्डन नहीं किया जा सका, प्रत्युत दिन प्रतिदिन इसी बात की पुष्टि होती गई कि संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन पुस्तक 'वेद' है।

विशुद्ध तर्क की खातिर यह भी कहा जा सकता है कि यदि किसी दिन पुरातत्त्वन्वेषियों को कहीं किसी अज्ञात स्थान की खुदाई में से कोई ऐसा ग्रन्थ मिल जाए जो वेदों से अधिक प्राचीन सिद्ध हो सके और इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय वेदों से ही मेल खाता हो, तो तर्कप्रवण वेदाभिमानियों को यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि वेद का आधार वह नव-उपलब्ध ग्रन्थ होगा। परन्तु जब तक संसार के विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है—तब तक यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा तर्कसंगत है कि इन सब समानताओं का आधार वेद है, क्योंकि वही सबसे प्राचीन है।

वेदों का निर्माण-काल

पूछा जा सकता है कि वेदों का निर्माण काल क्या है? हम स्वीकार करते हैं कि इस विषय में विद्वानों में मत भेद है। परन्तु एक बात असंदिग्ध रूप से कही जा सकती है, और वह यह कि ज्यों-ज्यों अनुसंधान की गहराई बढ़ती जाती है त्यों-त्यों वेद का समय लगातार पीछे ही पीछे खिसकता जाता है। विषय के संक्षिप्त निदर्शन के लिए हम यहां एक तालिका दे रहे हैं, जिससे बात और स्पष्ट जाएगी।

वेदों का आनुमानिक काल

नाम	कम से कम	अधिक से अधिक
मैक्समूलर	८०० वर्ष ई० पूर्व	१,५०० वर्ष ई० पूर्व
मैक्डानल्ड	१,००० ,, ,,	२,००० ,, ,,
होग	१,४०० ,, ,,	२,००० ,, ,,
विलसन	१,५०० ,, ,,	२,००० ,, ,,
ग्रिफिथ	,, ,, ,,	,, ,, ,,
ह्विटनी	,, ,, ,,	,, ,, ,,
जैकोबी	,, ,, ,,	४,००० ,, ,,
तिलक	,, ,, ,,	८,००० ,, ,,

इसका अभिप्राय यह है कि पाश्चात्य विद्वान् वेदों का काल अधिक से अधिक अब से ६,००० वर्ष पूर्व तक ले जाते है, जबकि लोकमान्य तिलक इस समय को १०,००० वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं। अन्य भारतीय विद्वान् इस काल को दस हजार वर्ष से और बहुत पीछे तक ले जाते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के सामने कदाचित्वेदों के काल को ६,००० वर्ष से अधिक पीछे ले जाने में मानसिक बाधा है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर इस मानसिक बाधा को पहचानने में देर नहीं लगती। वह मानसिक बाधा यह है कि बाइबिल के संकेत के अनुसार उनके मन में यह संस्कार बैठा हुआ है कि वर्तमान सृष्टि को बने केवल ६,००० साल हुए हैं। उनके आन्तरिक मन्तव्य के अनुसार जब ६,००० साल पहले सृष्टि ही नहीं थी तो कोई ग्रन्थ इससे पहले कैसे हो सकता है? वास्तव में तो पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किसी चीज को ६,००० साल पूर्व का कहने का अभिप्राय भी 'सृष्टि के आदि का' समझना चाहिए, क्योंकि उनकी दृष्टि में ६,००० वर्ष पूर्व ही सृष्टि का प्रारम्भ है। परन्तु विज्ञान की खोज ने बाइबिल द्वारा वर्णित सृष्टि के आगाज़ को मिथ्या सिद्ध कर दिया है और जब से रेडियम का आविष्कार हुआ है तब से वैज्ञानिकों को इस बात का निश्चय हो गया है कि सृष्टि को बने करोड़ों (लगभग दो अरब) वर्ष हो गए हैं, क्योंकि इससे कम अवधि में कार्बन रेडियम में रूपान्तरित नहीं हो सकता।

और क्या वेदों के निर्माण की अभी तक कोई तिथि निर्धारित न होना स्वयं इस बात की निशानी नहीं है कि यह सृष्टि के आदि की रचना है? परन्तु वेद को सृष्टि की आदि-रचना मानना भी हमारे युक्ति-क्रम का ऐसा अंग नहीं है कि इसके बिना हमारी स्थापना विशृंखलित हो जाएगी। संसार के लोग वेद को सृष्टि की आदि-रचना मानें या न मानें, जब तक सब यह मानते हैं कि वेद संसार के पुस्तकालय का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है तब तक हमारे युक्तिक्रम का प्रासाद अक्षुण्ण है। संसार का कोई धर्मग्रन्थ प्राचीनता में वेद की तुलना में खड़ा नहीं हो सकता। आर्य जाति के प्रारम्भ के साथ वेद प्रारम्भ हुआ, यदि किसी को इस स्थापना को स्वीकार करने में संकोच हो तो भी उसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि संसार के धर्मरूपी भवन की पहली ईंट वेद है।

अन्तः साक्षी का महत्व

आश्चर्य की बात यह है कि वेद के सिवाय संसार के किसी अन्य धर्म-ग्रन्थ ने सृष्टि के आदि में होने का दावा नहीं किया। करें भी कैसे? विभिन्न धर्मावलम्बी अपने धर्मग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान तो सहज ही मान लेते हैं, परन्तु सृष्टि के आदि में अपने धर्मग्रन्थों की सत्ता सिद्ध करने की उनकी हिम्मत नहीं होती। सृष्टि के आदि में न होने पर भी अपने धर्मग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान मानना परस्परविरोधी बात ठहरती है। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान वही हो सकता हैं जो सृष्टि के आदि में हो । जिस परमात्मा ने मनुष्य को आंख दी है उसी ने सूर्य भी दिया है । सूयं या सूर्य के प्रतिनिधि के बिना आँख देख नहीं सकती। यदि केवल आंख ही परमात्मा ने दी होती, सूर्य नहीं, तो आंख देना भी व्यर्थ था, क्योंकि प्रकाश के अभाव में आँख देखने का काम नहीं कर सकती थी। इसी प्रकार परमात्मा ने मनुष्य को अन्दर की आंख या बुद्धि दी तो उसकी सार्थकता के लिए वेद रूपी ज्ञान का सूर्य भी दिया, अन्यथा बुद्धि का दान व्यर्थ हो जाता। फिर सृष्टि बनने के हजारों साल बाद बनने वाले धर्मग्रन्थों में ही यदि ईश्वरीय ज्ञान प्रकट होना था तो उन धर्मग्रन्थों के प्रादुर्भाव से पहले मनुष्य जाति की जो सैंकड़ों पीढ़ियाँ गुज़र चुकीं उनको ईश्वर ने ईश्वरीय ज्ञान से वंचित क्यों रखा? वेद को छोड़कर किसी अन्य धर्मग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले व्यक्ति के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता। ऐसा परमात्मा पक्षपाती सिद्ध होता है, अन्यायी भी, निर्दयी भी । ईश्वर को ऐसे आरोपों से बचाने का एक ही उपाय है कि मानवकृत ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान की कोटि में न रखा जाए।

वेद के सृष्टि के आदि में होने की अन्तः साक्षी स्वयं वेद देता है। ऋग्-वेद (१०,९०,९) में मंत्र आता है,

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत

यही मंत्र यजुर्वेद (३१,७) में भी आया है। भावार्थ है—"उसी सर्व-पूज्य परमात्मा से ऋग्, साम, अथर्व और यजुर्वेद उत्पन्न हुए।"

अथर्ववेद (१०,२३,४,२०) में मंत्र आता है:—

यस्माहचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतम: स्विदेव स: ।

—"जिस जगदाधार परमात्मा से ऋग्, यजु, साम और अथर्व उत्पन्न हुए उसका यथार्थ स्वरूप बताओ ।"

अब तक हमने जो कुछ कहा है उसका सार यह है : संसार के धर्मग्रन्थों में कुछ बातों में समानता पायी जाती है । उस समानता का कोई एक आधार होना चाहिए । वह आधार वेद ही हो सकता है क्योंकि वही सबसे प्राचीन है । इतना ही नहीं, ईश्वरीय ज्ञान के दावे की कसौटी को भी वेद ही पूरा कर सकता है क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान की एक कसौटी है सृष्टि के आदि में होना और यह शर्त सिवाय वेद के और कोई धर्मग्रन्थ पूर्ण नहीं कर सकता

नास्तिकों के लिए भी उपयोगी

यह समस्त विवेचन केवल आस्तिक और धार्मिक लोगों की दृष्टि से किया गया है । जो धर्म को मनुष्य जाति के लिए अफीम बताते हैं उनकी किसी भी धर्मग्रन्थ में आस्था नहीं । ईश्वर में ही आस्था नहीं तो धर्म या धर्मग्रन्थ को लेकर क्या होगा ?

परन्तु अब हम कहते हैं कि वेद नास्तिकों और धर्म विरोधियों के लिए भी उतना ही उपयोगी है जितना धर्मप्रेमियों के लिए । नास्तिक लोग भी विज्ञान और विज्ञानेतर विषयों की पुस्तकें तो पढ़ते ही हैं । हम कहते हैं कि वेद केवल धर्मग्रन्थ नहीं है, वह विज्ञान और विज्ञानेतर विषयों का भी अगाध भण्डार है । वह समस्त सत्य विद्याओं का आगार है । मानव जीवन के लिए जो भी कुछ उपयोगी है, उस सबका निदर्शन वेद के अन्दर है । अन्य धर्मग्रन्थों में से उन मतों के प्रवर्तकों का जीवन-वृत्त निकाल दीजिए, उनके समय के इतिहास और भूगोल का विवेचन निकाल दीजिए, उन महान् पुरुषों के जीवन के साथ दन्तकथाओं के रूप में जुड़े आख्यानों को निकाल दीजिए, सामाजिक विधि-विधानों के सम्बन्ध में देश-काल और परिस्थिति के अनुसार दी गई व्यवस्थाओं को निकाल दीजिए, तो आप देखेंगे कि उन धर्मग्रन्थों में इसके बाद जो कुछ बचता है वह नगण्य है, या ऐसा कुछ है जिसे उससे पूर्ववर्ती धर्मग्रन्थ कह चुके हैं । धर्मग्रन्थों की इन्हीं व्यक्तिवादिताओं और दुर्बलताओं को देखकर तो अधर्मियों को उनसे अश्रद्धा हुई है । परन्तु

वेद में किसी व्यक्ति विशेष का या देश-विशेष का या काल-विशेष का इतिहास नहीं, वहां तो शाश्वत इतिहास है। अन्य मत मतान्तरों में से उन मतों के प्रवर्तकों को निकाल दें तो वे मत धराशायी हो जाते हैं क्योंकि वे अपने पैगम्बरों के बिना नहीं टिक सकते, परन्तु वेद के साथ ऐसी बात नहीं। किसी भी व्यक्ति को निकाल देने से वेद का कुछ नहीं बिगड़ता क्योंकि वह व्यक्ति पर आधारित नहीं है। वेद समस्त मनुष्य जाति के लिए है। सच तो यह है कि वेद व्यक्तिपरक है ही नहीं, वह तो ज्ञानपरक ही है। वेद शब्द का अर्थ भी सिवाय ज्ञान के और कुछ नहीं है। सांसारिक ज्ञान की पुस्तकों में केवल ऐहिक ज्ञान का विवेचन होगा, परन्तु वेद में ऐहिक के साथ पारलौकिक ज्ञान, भौतिक के साथ आध्यात्मिक ज्ञान और अभ्युदय के साथ निःश्रेयस का भी विवेचन है।

यदि मानव जीवन के लिए वेद की इतनी उपयोगिता न होती तो भारत के ब्राह्मणों ने अपने प्राण देकर भी उनकी रक्षा का प्रयत्न न किया होता, वेदों को कंठाग्र करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता और "ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयः" के नियम के अनुसार बिना किसी भौतिक लाभ की आशा के वेदों के पठन-पाठन में ही अपना समस्त जीवन न लगाया होता। न ही चतुर्वेदी, त्रिवेदी या द्विवेदी की वंशपरम्परा चली होती। न ही भारतवर्ष ने अतीतकाल में ज्ञान-विज्ञान में इतनी उन्नति की होती। न ही आज भी देश-विदेश के विद्वानों ने इतनी बड़ी संख्या में वेद के स्वाध्याय में अपना जीवन खपाया होता।

जैसे हिमालय का सर्वोच्च शिखर मानवात्मा को चुनौती देता है, जैसे महासागर की गहराइयां वैज्ञानिकों का आह्वान करती हैं, जैसे मंगल और चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रह किसी साहसी अन्तरिक्ष-यात्री की प्रतीक्षा करते हैं, और मानव की चिर-जिज्ञासु आत्मा उस चुनौती को स्वीकार कर अज्ञात के अनन्त रहस्यों को खोजने के लिए अपने विजय-पथ पर निकल पड़ती है; वैसे ही क्या ज्ञान का यह सर्वोच्च शिखर, ज्ञान का यह महासागर, ज्ञान का यह सूर्य—वेद भी मानव की बुद्धि और परिश्रम के लिए चुनौती नहीं है? किसी नास्तिक के लिए भी इस अज्ञात को सुज्ञात बना देने से बढ़कर जीवन की कृतकार्यता और क्या हो सकती है? ज्ञान का भण्डार वेद ज्ञान के नए आयाम अपने वक्ष में छिपाए साहसी व्यक्तियों की प्रतीक्षा में है।



वेद और ऋषि दयानन्द

मदन मोहन विद्यासागर

जब हम 'वेद' को भूलकर अपने को भुला चुके थे तब ऋषिवर दयानन्द ने लुप्त ज्ञान भंडार 'वेद' पुनः संसार को दिया इसके लिए मानव-जाति सदा ऋषि की ऋणी रहेगी। — सम्पादक

●

आर्य वाङ्मय की ऐसी मान्यता है कि सृष्टि के बनते समय, 'कवि मनीषि,' सृष्टिकर्त्ता परमात्मा ने जनमात्र के लिये 'कल्याणी वेदवाणी' का विधान किया। उन्हें अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में स्थापित किया; हृद्यज्ञरादधे (ऋग्)। इन चार ऋषियों से वेदप्रचार प्रारम्भ हुआ।

इनसे वेद चतुष्टय के ज्ञान को प्राप्त करके 'ब्रह्मा' नाम सर्व प्रथम वैदिक विद्वान् ने (ब्रह्मादेवानां प्रथमः सम्भूव) वेदों के नियमित पठन पाठन की परिपाटी चलाई।

इसके बाद मनु महाराज ने वेदों के सिद्धान्तों के अनुसार समाज-शास्त्र का विधान किया और 'मानव धर्मशास्त्र'— मानव धर्म संहिता या मनुस्मृति की रचना की। इसमें विशेष बात यह थी कि वेदों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था सुचारू की। अध्यापन का कार्य केवल 'ब्राह्मणों' को सौंपा।

कालचक्र घूमा और ज्यों-ज्यों नये-नये ग्रन्थ, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि बनने लगे, त्यों-त्यों 'वेद' का अध्ययन कम होने लगा। पुराणकारों की दृष्टि में 'वय' और बुद्धि में क्षीणता होने लगी। तब महर्षि वेदव्यास ने उस 'एक ही वेद ज्ञान को, जो विषय भेद से चार संहिताओं में विभक्त था, रचना भेद से तीन प्रकार का था, अध्ययन अध्यापन की नई परिपाटी चलाई। वह यह कि एक-एक वेद का विशेष अध्ययन प्रारम्भ कराया। परिणामतः वेदी, द्विवेदी त्रिवेदी, चतुर्वेदी इस प्रकार के अध्येता प्रारम्भ हो गये। इस प्रकार वेदों की रक्षा हुई।

वेदव्यास के बाद श्रीशंकर श्री कुमारिल भट्ट के समय तक कोई विशेष प्रयत्न वेदों के पठन-पाठन को सुसंगठित करने का नहीं हुआ। दौर्भाग्य से ज्ञानमार्गी श्री शंकर ने भी मूल वेदों की उपेक्षा की और अपने सारे कार्य का आधार उपनिषदें और पुराण रखे। ऐसे ही कर्मकाण्डी याज्ञिकों ने अपने कार्यों का आधार ब्राह्मण ग्रन्थ रखे थे। परिणामत: वेदों के प्रति उदासीनता रही।

उसके बाद श्री विधारण्य मुनि सायणाचार्य ने वेदभाष्य करके वेदों की सुरक्षा का एक प्रयत्न किया। किया तो वेदों का भाष्य, (गीता+उपनिषद्+ब्रह्मसूत्र का नहीं) पर अद्वैत मतानुसारी तथा यज्ञपद्धति को स्वीकारते हुए। दार्शनिक दृष्टि से श्री सायण शंकर के अनुयायी दीखते हैं, वेदार्थ करने में याज्ञिक सम्प्रदायानुगामी।

इस वीच वेद के सम्वन्ध में एक आन्दोलन चला था, वह था बुद्ध और महावीर का। दोनों ने इनके नाश का प्रयत्न किया।

इसके वाद ऋषि दयानन्द (१९वीं शती) के प्रादुर्भाव तक कोई उल्लेखनीय प्रयत्न वेदों के सम्वन्ध में नहीं हुआ। श्री राजा राममोहनराय ने वेदों की सर्वथा उपेक्षा की। ब्रिटिश राज होने पर योरोप में जो संस्कृत और वेदों के सम्बन्ध में वृद्धि और अध्ययन प्रारम्भ हुए, उनका मुख्य उद्देश्य, वेदों के सिद्धान्तों को इस प्रकार से विकृत और दूषित करके जनता के सामने रखना था कि इनके सम्वन्ध में घृणा का वातावरण पैदा हो और ईसाईयत की ओर झुकाव हो। इनका मुखिया था, मैक्समूलर।

अकस्मात एक तेजस्वी महान् नक्षत्र विद्याकाश में चमका वह था ऋषि दयानन्द। उसने वेदों का उद्धार किया। विश्व के सामने उसके सच्चे स्वरूप को रखा, जो शुद्ध वैज्ञानिक था, अन्तर्मानववाद का पोषक था।

हमें ऋषि के वेद विषयक दृष्टिकोण को समझना चाहिये। आपने अपने ग्रन्थोंमें वेद के सम्बन्ध में वहुत कुछ लिखा है। ऋषिके समय भारत के विद्वानों में कुछ भ्रम थे। जैसे कि ब्राह्मण (उपनिषद् आरण्यक) भी वेद ही हैं; वेदों के पढ़ने का अधिकार स्त्री शूद्र को नहीं है; वेद चतुष्टय कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं आदि-आदि। पाश्चात्य विद्वानों ने कुछ भ्रम फैलाये थे। जैसे कि वेद ईसा से कुछ सौ वर्ष पहले बने हैं; पहले तीन 'वेद' थे, अथर्ववेद पीछे से जोड़ा गया;

अथर्ववेद में जादू टोना है आदि-आदि। ऋषि दयानन्द ने इन सबका खण्डन किया। साथ ही श्री सायण, उव्वट महीधर आदि के भाष्यों का सप्रमाण खण्डन कर वेद का शुद्ध स्वरूप विश्व के सामने रखा। नीचे उनके ग्रन्थों से वेद विषय में ऋषि के विचारों को सक्रम उपस्थित किया जाता है।

ज्ञान का आदिस्रोत, स्वतः प्रमाण वेद

"ऋग्, यजुः, साम, अथर्व नाम से प्रसिद्ध जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याधर्म-युक्त वेदचतुष्टय (संहिता मात्र मंत्रभाग) है, वह निर्भ्रान्त नित्य स्वतः प्रमाण (ऋ. भू. ७७) हैं। इसके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। इससे मनुष्यों को सत्या-सत्य का ज्ञान होता है, ये सत्यार्थप्रकाशक हैं (ऋ. भू. ६९८)। सूर्य व प्रदीप के स्वरूपतः स्वतःप्रकाशक व अन्य पृथिवी आदि पदार्थों के प्रकाशक होने की तरह ये स्वयं प्रमाणरूप हैं (स्व. म. २; आ. उ. र. ९५; स. प्र. ७ स. २६६; ऋ. भू. ६८९; ऋ. भू. ७७; स. प्र. ८४-८५; ऋ. द. पत्र. विज्ञा. २११-२१२, २१८)। क्योंकि—

(१) उनमें प्रतिपादित सब सिद्धान्त सार्वभौम, सार्वजनिक और सर्वकालिक हैं। वे किसी देश काल विशेष में मानव जाति के किसी विशिष्ट समुदाय के निमित्त प्रकाशित नहीं किए गए (स. प्र. २६६, ७ समु.)।

(२) मनुष्य के सर्वतोमुख विकास के साधनों के द्योतक हैं।

(३) इनमें वर्णित कोई भी सिद्धान्त, बुद्धि विज्ञान व अनुभव के विरुद्ध नहीं। ये पक्षपातशून्य भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं (भ्रान्तिनि. शता. सं. ८७७)। वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं (स. प्र. अनुभू. ३६३)।

(४) इनमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्त और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कोई कथन नहीं (म. प्र.;ऋ. भू.)।

(५) इनमें ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल वर्णन है (स. प्र. २६०,७ समु.)।

(६) सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त ब्रह्मा, मनु, व्यास, जैमिनी, दयानन्द आदि भी आप्त होते आये हैं; वे सब वेदों को नित्य सर्वविद्यामय अर्थात् सब विद्याओं के बीज और प्रामाणिक मानते चले आये हैं।

भारत भूमि में रचित वेद भिन्न साहित्य आर्ष (ऋषि प्रणीत, आप्तोपदिष्ट) व अनार्ष (स्वार्थी धूर्तजन विरचित) दो प्रकार का है। (ब्रह्मा-मनु-

जैमिनी से लेकर दयानन्द ऋषि पर्यन्त) आप्तोपदिष्ट (वेदों के व्याख्यान रूप) आर्ष-ग्रन्थों का आर्य परम्परानुसार (वेदानुकूलतया ही प्रमाण है। ये सब ग्रन्थ पौरुषेय होने से परतः प्रमाण हैं। इनमें यदि कहीं वेद-विरुद्ध वचन हैं, तो वे अप्रमाण हैं (स्व. म. २; स. प्र. ८४, ३ समु.; ऋ. द. प. व्य. वि. १ म सं. २४,४२; भ्रमो. शता. सं. ८५८; ऋ. भू. ५६)।

मान्य ग्रन्थ—सबसे अधिक प्रामाणिक और मानने योग्य धर्मशास्त्र तो चार वेद हैं; उनके विरुद्ध वचन चाहे किसी भी पुस्तक में पाये जायें वे मानने योग्य नहीं हो सकते। वेद-बाह्य कुत्सित पुरुषों के ग्रन्थ त्याज्य हैं क्योंकि वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक है। ब्रह्मा, मनु, जैमिनी याज्ञवल्क्य से लेकर दयानन्द महर्षि पर्यन्त का मत है कि वेद विरुद्ध को न मानना और वेदानुकूल ही का आचरण करना धर्म है (स. प्र. ४१६, ११ समु; भ्रमोच्छे. ५५८-८६०; ऋ. भू. ७३; ऋ. भू. ८६६; ऋ. द. प. व्य. वि. १ म सं. १६-१७)।

प्रक्षेप

समय-समय पर पुराने ऋषियों के नाम से स्वार्थान्ध लोगों ने आर्ष ग्रन्थों में बहुत प्रक्षेप कर दिये हैं, बहुत भाग निकाल भी दिये हैं और मिथ्यावादों से पूर्ण नये ग्रन्थ रच डाले हैं। इन प्रक्षिप्त भागों व ऐसे कपोलकल्पित अनर्थ-गाथा युक्त नवीन ग्रन्थों का त्यागना ही श्रेष्ठ है (ऋ. भू. ६९८; स. प्र. ८४ ३ समु; ७ स. प्र. ३५१,११ समु.)। ब्रह्मवैवर्त्तादि अष्टादश पुराण विषमिश्रित अन्नवत् त्याज्य हैं।

एतद्भिन्न (आर्ष व आप्तोपदिष्ट) विश्वसाहित्य को यथायोग्य आदर की दृष्टि से देखना चाहिये। उनमें निर्दिष्ट तर्क और अनुभव द्वारा प्रतिष्ठित विज्ञानसिद्ध व वेदानुकूल अंश ही प्रामाणिक है। विज्ञानसिद्ध एवं तर्क प्रतिष्ठित प्रत्येक सत्य विषय की यथार्थता स्वीकार करनी चाहिये, चाहे वह किसी ने किसी समय में किसी भी देश या परिस्थिति में क्यों न कहा हो (लेखक; की सत्यप्रकाश की भूमिका को देखो; (ऋ. भू. २१६)।

वेदप्रचारक—चार ऋषि

सर्वज्ञ ईश्वर ने इन वेदों का ज्ञान मानवसृष्टि करने पर पूर्व सृष्टि में जिन जीवों के गुण कर्म स्वभाव सबसे पवित्र थे उन अयोनिज सृष्टि में जन्म लेने वाले तपस्वी ज्ञानी पवित्रात्मा चार ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया;

क्योंकि वे उस ज्ञान के बिना कुछ भी सीख-समझ नहीं सकते थे कि धर्माधर्म कर्त्तव्याकर्त्तव्य क्या हैं ? और वे ही उस उपदेश को अन्तःकरण की शुद्धता के कारण हृदयस्थ रूप में ग्रहण कर सकते थे (स. प्र. २६५,७ समु; ऋ. भू. २७, २९, ३१, ६४, ४१ १७५)। और फिर 'परमात्मा ने चारों महर्षियों के द्वारा भी ब्रह्माजी को चारों वेदों की प्राप्ति कराई। (ऋ. द. मन्त्र वि. २ सं. ३४६)।

अग्नि ऋषि को ऋग्वेद वायु ऋषि को यजुर्वेद
आदित्य ऋषि को सामवेद अंगिरा ऋषि को अथर्ववेद

इन ऋषियों ने वेदों के ज्ञान का ब्रह्मा द्वारा अन्य ऋषियों और मनुष्यों को उपदेश दिया। सर्गारम्भ में सर्वज्ञ ईश्वर के सिवा कौन मनुष्यों को ज्ञान दे सकता है ? यदि वह ज्ञान न देता, तो मानव जाति को ज्ञान न होता और न धारा रूप में ज्ञान आगे-बढ़ता। यदि पीछे ज्ञान देता, पूर्वसृष्टि उसके लाभ से वंचित रहती। सर्ग मध्य में तो आप्त पुरुष भी ज्ञान प्रसार कर सकते हैं (ऋ. भू. ६१-८२; ऋ. भू. ३४-४१)।

१—जो पवित्रात्मा ज्ञान में विशेष बढ़ा हुआ था, उसको ऋग्वेद का प्रकाश मिलता है और इसी कारण उसको 'अग्नि' नाम दिया जाता है।

२—जो पवित्रात्मा कर्मकाण्ड में विशेष निपुण था, उसको यजुर्वेद का ज्ञान दिया जाता है और उसको 'वायु' नाम दिया जाता है।

३—जो पवित्रात्मा उपासना में विशेष योग्यता रखता था; उस पर सामवेद का प्रकाश होता है और उसका 'आदित्य' नाम पड़ता है।

४—जो पवित्रात्मा संशयरहित पूर्ण वैज्ञानिक था, उस पर 'अथर्ववेद' का आविर्भाव होता है और उसका नाम अंगिरा होता है।

ये चारों व्यक्ति विशेष नहीं, किन्तु विशेष व्यक्ति होते हैं। जब-जब सृष्टि होती है, तब-तब पूर्व सृष्टि के सब पवित्राचार आत्माओं को वर्त्तमान् सृष्टि की अयोनिज उत्पत्ति के समय वेद का पवित्र ज्ञान हृदयस्थ रूप में दिया जाता है। चाहे वे चार कोई हों अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नाम गौणिक होते हैं, व्यक्तिविशेष वाचक नहीं। सब ही सृष्टियों में ये नाम दिये जाते हैं।

जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर है, उससे ही चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आकर फ़िर भीतर को जाता है, वैसे ही सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में ज्ञान का प्रकाश करता है और प्रलय में वेद इस रूप में न रहकर बीजाङ्कुरवत, उसके ज्ञान में बने रहते हैं। जैसे बीज में अंकुर प्रथम ही रहता है, वही अंकुर वृक्ष रूप होने के बाद भी बीज के भीतर रहता है, वैसे ही वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता, वे नित्य हैं। (३ स. प्र. ५५१)

यह बात निश्चित है कि ईश्वर के दिये उपदेश (वेद) के पढ़ने और ज्ञान के बिना किसी मनुत्य को यथार्थ ज्ञान व कोई भी मनुष्य विद्वान् व किसी मनुष्य को ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य भी नहीं हो सकता। जैसे मानवों के भाषणादि व्यवहार के सम्पर्क से दूर एकान्त में रखने से एक बालक को कुछ यथार्थ ज्ञान व बोलचालदि का व्यवहार नहीं आता और जैसे वनों में रहने से बिना उपदेश के कारण मनुष्यों की प्रवृत्ति पशुओं की नाईं देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के बिना सृष्टि के आदि से लेकर आज तक सब मनुष्यों की प्रवृत्ति होती। जैसे इस समय किसी शास्त्र को पढ़ के किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देखकर ही सब मनुष्यों को ज्ञान होता है, ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य होता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही सृष्टि के आदि में यदि यह उपदेश न होता तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ विद्या न आती। दूसरे सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी और न कोई विद्या का ग्रन्थ ही था, इसलिये ईश्वर का वेदों का ज्ञान देना आवश्यक था।

यह ईश्वर की विद्या है। विद्या का गुण स्वार्थ और परार्थ दोनों सिद्ध करता है। परमेश्वर हमारे माता-पिता के समान हैं, हम उसकी प्रजा हैं। वह हम पर नित्य कृपा दृष्टि रखता है, सदैव करुणा धारण करता है कि सब प्रकार से हम सुख पावें। इससे ही उसने वेदों का उपदेश हमें दिया है और अपनी विद्या के परोपकार गुण की सफ़लता सिद्ध की है। जो परमेश्वर अपनी वेद विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को न होता। जैसे उस परम कृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द-मूल फ़ल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं, वैसे ही सब सुखों का प्रकाश करने वाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेद विद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये वह क्यों न करता ?

परतः प्रमाण

(वैदिक साहित्य अथवा आर्य-वाङ्मय)

चारों वेदों के ब्राह्मण, ६ अङ्ग, ६ उपाङ्ग, चार उपवेद और ग्यारह सौ सत्ताइस (११२७) वेदों की शाखायें जो कि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, वे परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेद विरुद्ध वचन हैं, वे अप्रमाण हैं; (स्व. म. २)। (ऐसे ग्रन्थों का परिगणन स. प्र. ३ समु. तथा ऋ. भू. ३८६ में द्रष्टव्य है) जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्त ग्रन्थों का अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें। क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है, वही नास्तिक कहाता है (स. प्र. १० स., ३४४)। तथा द्र. उप. म. १०-१५६ पृ. से आगे।

पुराण—जो ब्रह्मादि के बनाये प्राचीन ऐतरेय शतपथ, गोपथ और ताण्ड्य ब्राह्मण आदि ऋषि-मुनिकृत सत्यार्थ पुस्तक हैं; उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प गाथा और नाराशंसी कहते हैं। अन्य भागवतादि को नहीं (स्व. म. २३; आ. उ. र. ६६; ऋ. भू. ६८६ स. प्र. ३ समु. ८६)। ये प्राचीन सत्य ग्रन्थ वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं; परतः प्रमाण के योग्य हैं (ऋ. भू. ६६०)।

उपवेद—जो आयुर्वेद=वैद्यकशास्त्र; धनुर्वेद=शस्त्रास्त्र सम्बन्धी राजविद्या राजधर्म; गान्धर्ववेद=गानविद्या और अथर्ववेद=शिल्पशास्त्र हैं, इन चारों को उपवेद कहते हैं और ये भी वेदानुकूल होने से ही प्रमाण हैं (आ. उ. र. ६६; ऋ. भू. ६६०; स. प्र. ३ समु.)।

वेदाङ्ग—जो शिक्षा=पाणिन्यादिमुनिकृत; कल्प=मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि तथा आश्वलायनादिकृत श्रौत सूत्रादि; व्याकरण=पाणिनि मुनि

कृत अष्टाध्यायी, धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ प्रतिपादिक और पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य, ऋषि-दयानन्द कृत वेदांगप्रकाश; निरुक्त=यास्कमुनि कृत निरुक्त और निघण्टु; छन्द=पिङ्गलाचार्य कृत सूत्र भाष्य; ज्योतिष=वसिष्ठादि ऋषि कृत रेखागणित और बीजगणित युक्त ज्योतिष ये छ आर्य सनातन शास्त्र हैं, इनको वेदांग कहते हैं। ये भी परतःप्रमाण के योग्य हैं (आ. उ. र. ६८; ऋ. भू. ६६२)।

उपांग :=जिनका नाम षटशास्त्र भी है। पहला मीमांसा शास्त्र=व्यास मुनि आदिकृत भाष्यसहित जैमिनि मुनिकृत पूर्व मीमांसा शास्त्र, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्म तथा धर्मी दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है। दूसरा वैशेषिक शास्त्र=यह विशेषतया धर्म—धर्मी का विधायक शास्त्र है, जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और प्रशस्तपाद भाष्यादि व्याख्या सहित है। तीसरा न्याय शास्त्र=यह पदार्थविद्या का विधायक शास्त्र है, जो कि गौतम मुनि कृत सूत्र और वात्स्यायनमुनि कृत भाष्य सहित है। चौथा योगशास्त्र=जिसके द्वारा उन पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है, जिनका मीमांसा, वैशेषिक तथा न्यायशास्त्र से श्रवण तथा मनन के द्वारा आनुमानिक निश्चय होता है, जो पतंजलि मुनि कृत सूत्र और व्यास मुनिकृत भाष्य सहित है। पाँचवा सांख्यशास्त्र=जिसके द्वारा प्रकृति आदि तत्वों की गणना होती है और उनका आत्मा से विवेक ज्ञान होता है। जो कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत भाष्यसहित है। छठा वेदशास्त्र=जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य और वृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौधायनवृत्त्यादि व्याख्यासहित हैं। ये छः वेदों के उपांग कहाते हैं और ये भी परतः प्रमाण के योग्य हैं (आ. उ. र. ६६; ऋ. भू ६६२-६६३; स. प्र. ३ समु.)।

स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र (स. प्र. ६२, ३ समु—२१२; षष्ठ समु.; स. प्र. ३४४, १० समु.+स. प्र. ४ स. १५२, ३ स-८५) द्र. उप. मं. ८-१२६-१३०। यह मनुस्मृति सृष्टि के आदि में बना है (सं. प्र. ११ समु.)।

अन्य आर्ष ग्रन्थ—वेदोद्धारक सत्यधर्म प्रचारक योगीश्वर परमहंस

महर्षि दयानन्द विरचित समस्त ग्रन्थ भी सत्यार्थ के प्रकाशक होने से और वेदानुकूल होने से परतः प्रमाण के योग्य हैं। इनमें से सत्यार्थप्रकाश सर्वाधिक मान्य पुस्तक है, विश्वविद्याओं का भण्डार है, सन्मार्ग प्रदर्शक है।

वेदों के चार काण्ड

वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादित करने में है (स. प्र. ८३; ऋ. भू. २१०)। इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिए सब मनुष्यों को वेदों के विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान इन चार विषयों के अनुष्ठान में पुरुषार्थ करना (ऋ. भू. २६१) चाहिये। क्योंकि इससे धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि होती है और यही मनुष्य-देह धारण करने का फल है (ऋ. भू. ६८-८६, १४३)। उ. उप. मं. ४-पृ. ३६; यहां तीन काण्ड लिखे हैं।

(१) **विज्ञान काण्ड***—उसको कहते हैं कि सब पदार्थों का यथार्थ जानना अर्थात् परमेश्वर से लेके तृण पर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध होना और उनसे यथावत् उपयोग लेना व करना। यह विषय इन चारों में भी प्रधान है; क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। परिणामतः विज्ञान दो प्रकार का है—

(क) परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना।

(ख) उसके रचे हुए सब पदार्थों (=प्राकृतिक वस्तुओं) के गुणों को यथावत् विचार करके उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् कौन-कौन से पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिए रचे हैं; इसका जानना।

(२) **कर्मकाण्ड**—यह सब क्रिया प्रधान ही होता है। इसके बिना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते। क्योंकि बाह्य व्यवहार तथा मानस व्यवहार का सम्बन्ध बाहर और भीतर दोनों के साथ होता है (ऋ. भू. १००-१०२, १४१)। वह अनेक प्रकार का है; किन्तु उसके दो मुख्य भेद हैं—

---

*देखो ऋ. भू. ६१-६४, स. प्र. ८६, समु. ७ स. प्र. २४६, ७ समु० है।

एक परमार्थ मार्ग। इससे परमार्थ की सिद्धि करनी होती है। इसमें ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, उसका आज्ञा पालन, न्यायाचरण अर्थात् धर्म का ज्ञान और अनुष्ठान यथावत् करना। मनुष्य इसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति में प्रवृत्त होता है।

जब मोक्ष अर्थात् केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् पालन किया जाय तो यही निष्काम मार्ग है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती। इसका फ़ल सुखरूप और अक्षय होता है।

दूसरा मार्ग लोकव्ययहार सिद्धि। इससे धर्म के द्वारा अर्थ काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है। यह सकाम मार्ग है, क्योंकि इसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्मानुसार अर्थ और काम का सम्पादन किया जाता है। इसलिए इसका फल नाशवान् होता है, जन्म-मरण का चक्र छूटता नहीं।

अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध (राष्ट्रसेवा, राष्ट्रपालन, देश-रक्षण, राष्ट्र-समृद्धि, राष्ट्रविस्तार) पर्यन्त यज्ञ आदि इसके अन्तर्गत हैं।

विहित और निषिद्ध रूप में कर्म दो प्रकार के होते हैं। वेद में कर्त्तव्यरूप से प्रतिपादित ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि विहित हैं, वेद में अकर्त्तव्यरूप से निर्दिष्ट व्यभिचार, हिंसा, मिथ्याभाषणादि निषिद्ध हैं। विहित का अनुष्ठान करना धर्म, उसका न करना अधर्म; और निषिद्ध का करना अधर्म और न करना धर्म हैं (स. प्र. ४१७, ११ समु.)।*

(३) उपासना काण्ड—जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, उनको वैसा जान अपने को वैसा करना, योगाभ्यास द्वारा इनका साक्षात् करना, जिससे परमेश्वर के ही आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको उपासना कहते हैं।

यह कोई यान्त्रिक व ज्ञानरहित क्रिया नहीं, जैसे बिना समझे किसी शब्द का या वाक्य का बार-बार जाप करना।

---

*कइयों के मत में निषिद्ध का न करना न धर्म है और न अधर्म।

(४) ज्ञान काण्ड—वस्तुओं के साधारण परिचय को ज्ञान कहते हैं (स. प्र. ४४. २ य. समु.)।

(क) उपासना काण्ड, ज्ञान काण्ड तथा कर्मकाण्ड के निष्काम भाग में भी परमेश्वर ही इष्टदेव, स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है। कर्मकाण्ड के निष्काम भाग में तो सीधे परमात्मा की प्राप्ति की ही प्रार्थना की जाती है, परन्तु उसके सकाम भाग में अभीष्ट विषय के भोग की प्राप्ति के लिये परमात्मा की प्रार्थना की जाती है।

अपरा विद्या, परा विद्या

वेदों में दो विद्या हैं, अपरा और परा। जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृति, जीव और ब्रह्मपर्यन्त सब पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है वह 'अपरा' और जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह परा विद्या है। इनमें 'परा' विद्या 'अपरा' विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि 'अपरा' विद्या का ही उत्तम फल 'परा' विद्या है।

धर्मशास्त्र

वस्तुतः ये ईश्वरोक्त सत्यविद्यामय चारों वेद ही सब मनुष्यों के पवित्र आदि धर्म-ग्रन्थ और सच्चे विद्या पुस्तक (आ. वि. ४०; ऋ. भू. ७९७) (और सर्वोच्च धर्मशास्त्र ग्र० क०) हैं। इनकी शिक्षाओं पर आचरण करना मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य है। 'ईश्वर की आज्ञा है कि विद्वान् लोग देश-देश और घर-घर जाके सब मनुष्यों को इनकी सत्यविद्या का उपदेश करें (ऋ. भू. ६६१)।' क्योंकि 'जो ग्रन्थ सत्यविद्याओं के प्रतिपादक हों, जिनसे मनुष्यों को सत्य-शिक्षा और सत्यासत्य का ज्ञान होता हो, ऐसे शास्त्रों के स्वाध्याय एवं तदनुकूल आचरण से शरीर, मन, आत्मा शुद्ध होते हैं (आ उ. र. ९८)।

सत्यासत्य के निर्णायक साधन

धर्माधर्म के ज्ञान अर्थात् सत्यासत्य के निर्णय के लिये चार साधन हैं।

३. यजु. भाषाभाष्य १८/५८ पृ. १९९।

१. सबसे मुख्य **वेद** (अर्थात् श्रुति), ये ईश्वर कृत होने से स्वतः प्रमाण हैं।

२. दूसरा **स्मृति** अर्थात् वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि (स. प्र. १० स., ३४४) धर्मशास्त्र, इनका प्रमाण वेदाधीन है; वेद के साथ विरोध होने पर ये अप्रमाण ठहरते हैं।

३. तीसरा **सदाचार** अर्थात् सज्जन धर्मात्मा आप्त जनों का सृष्टि के आदि से चला आ रहा वेदोक्त आचरण (=सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म (स. प्र. ३ स., ६२) धर्मानुरागी पूर्वजों का धर्म शिक्षानुकूल वर्त्ताव। उप. मं. ६/१४३ तथा १२/१८०)। जो सत्पुरुष हो चुके हैं, उन्हीं का अनुकरण मनुष्य लोग करें (य. आ. भा. १२/११)।

४. चौथा अपने आत्मा का साक्षित्व (=प्रियता) है, अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्य भाषण (स. प्र. ६२-६४, ३ स.; ११ स., ५०३; ऋ. भू. २१४)।

ऊपर मुख्य २ विषयों पर ऋषिदयानन्द का अभिप्राय लिखा है। वेदार्थ कितने प्रकार का है, वेदार्थ के मुख्य साधन, ऋषिदेवता छन्द स्वर आदि के सम्बन्ध में ऋषि का अपना स्पष्ट मत है।

महर्षि का आह्वान

भला अब लों जो हुआ सो हुआ अब तो अपनी मिथ्या प्रपंचादि बुराइयों को छोड़ो और सुन्दर ईश्वरोक्त वेदविहित सुपथ में आकर अपने मनुष्यरूपी जन्म को सफल कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुष्टय फलों को प्राप्त होकर आनन्द भोगो।

"वेद" संबंधी शंकाएँ और उनका समाधान

● महर्षि दयानन्द सरस्वती की अपनी लेखनी से

●

वेद के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक शंकाएं, और प्रश्न मन में उठते हैं, उनका समाधान महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में समय-समय पर किया है। हम यहां ऐसे सभी संदर्भों को पाठकों के लाभार्थ उपस्थित कर रहे हैं। विश्वास है कि इन उतरों के प्रकाश में हमारा सही मार्ग दर्शन होगा।

—संपादक

●

जो २ ग्रन्थ सृष्टि की आदि लेके आज तक पक्षपात और राग द्वेष रहित सत्य धर्म युक्त, सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने (स्वतः प्रमाण) अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, (और) परतः प्रमाण, अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाण भूत है.........उनको आगे कहते हैं ।

"..........ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्र संहिता है, वे ही स्वयं प्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं । परन्तु उस से भिन्न भी जो २ जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण के योग्य हैं ।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

वेद निर्भ्रम और स्वतः प्रमाण क्यों हैं ?

क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्या युक्त, तथा सर्वशक्ति वाला है, इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है, और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे (जीव) सर्व विद्या युक्त और सर्व शक्तिमान नहीं होते । इसलिए उनका कहना स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता । ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि वेद विषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहाँ सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है, अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों को भी प्रकाशित करते हैं । इस से यह सिद्ध हुआ कि जो २ ग्रन्थ वेदों से

विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते। और वेदों का (यदि) अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण युक्त हैं। इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण कहे जाते हैं और उनके भिन्न ऐतरेय, शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, ये परतः प्रमाण के योग्य हैं।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

(२) "मैं उपनिषदों में एक "ईशावास्य" को छोड़ के अन्य उपनिषदों को वेद नहीं मानता, किन्तु अन्य सब उपनिषद ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।"

—भ्रमोच्छेदन

(३) "मैं ब्राह्मण पुस्तकों को भी वेद नहीं मानता' क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है। जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, वे सब ऋषि मुनि-प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे (अर्थात-जीव) सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उन को मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं, इससे जैसे वेद विरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणों ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय है।"

—भ्रमोच्छेदन

वेद किन का नाम है ?

"जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक् संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उसको वेद कहते हैं।"

—आर्य्योद्देश्य रत्न माला

सृष्टि के आदि में वेदों का ज्ञान किन्हें और कैसे दिया गया ?

"अग्नि, वायु, आदित्य, और अंगिरा, इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई वजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्त मात्र किया था ।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

वेदों का "श्रुति" नाम क्यों है ?

"सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्य विद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का "श्रुति" नाम पड़ा है, क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनाने वाले को साक्षात् कभी नहीं देखा। इस कारण से जाना गया कि 'वेद' निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं ।"

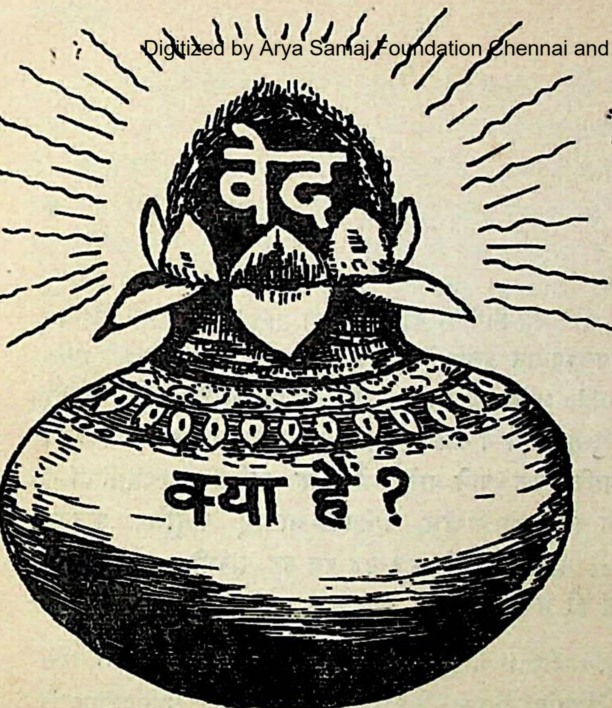
—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

वेद कब पुस्तक रूप में आये ?

पाठक गण ! वेदों का नाम "श्रुति" भी है, कारण यह कि आदि सृष्टि से लेकर अनेक वर्षों पर्यन्त लोग "श्रवण" द्वारा ही इस ज्ञान को ग्रहण करते रहे, और उन लोगों की स्मृति इतनी तीव्र होती थी, कि सम्पूर्ण ज्ञान उन्हें सहज में याद हो जाता था । परन्तु एक समय ऐसा आया कि उनकी स्मृति धीरे २ निर्बल होती गई और वेदों के ज्ञान को संभाल कर सुरक्षित न रख सके । तब ऋषियों ने वेदों को पुस्तक-रूप में परिणित कर दिया । महर्षि दयानन्द ने ता० २५ जुलाई सन् १८७१ ई० को पूना में "इतिहास" विषय पर एक व्याख्यान दिया । उस व्याख्यान में महर्षि ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किया:—

"इस प्रकार के मनुष्यों में गुण कर्मानुरूप व्यवस्था स्वायम्भुव मनु के समय तक पूर्णतया चलती रही । मनु के दस पुत्र थे । स्वायम्भुव मनु का बेटा मारीच प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ, इसके पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय

(शेष पृष्ठ २३३ पर)



स्व. स्वामी वेदानन्द सरस्वती...

"वेद" सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। 'वेद' में कला, विज्ञान, दर्शन आदि विद्याओं का भी समावेश है। आज तक कोई भी वेद को विद्या के विरुद्ध प्रमाणित नहीं कर सका।

"वेद" मानव मात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी हैं। काल क्रम की दृष्टि से भी संसार के सभी विद्वान् इन्हें एक स्वर से सर्व प्रथम ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

स्वर्गीय विद्वान का यह लेख हमारे पास उनकी मृत्यु से पूर्व प्रकाशनार्थ आया था। पाठक इससे 'वेद' का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

—संपादक

• • •

आज वेदानुयायी और वेद-विरोधी दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि वेद संसार के उपलभ्यमान ग्रन्थों में सब से पुराने हैं। मैक्समूलर की उक्ति Rigveda is the oldest book in the Liberary of World. अर्थात् 'ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय में सबसे पुराना ग्रन्थ है', पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुकी है। नोबल पारितोषक पाने वाले योरुप के वर्तमान तत्त्वज्ञानियों में समादर और सम्मान की दृष्टि से देखे जानेवाले श्रीमान् मातृलिंग महोदय अपने Great Secret नामक ग्रन्थ के २३-२४ पृष्ठ पर पारसी मत के प्रवर्त्तक श्री जरदुष्ट्र के काल की चर्चा करते हुए लिखता है—

"Here then, there is not the Slightest doubt as to the priority of the Hindu Books, and here at the sametime is yet another confirmation of the fedulous antiquity of these books or traditions."

अर्थात्—इस तरह भी हिन्दू ग्रन्थों के सब से पुरातन होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। साथ ही इन ग्रन्थों के (वेद के) अति प्राचीन होने का एक और प्रमाण भी मिल जाता है।

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु प्राचीनतम हो वह प्रामाणिक या उपयोगी हो। इस शंका का समाधान भी उन्हीं Maeterlink मातृलिंग के मुख से सुनिये। वेदों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वह इनको 'the most authentic echo of the most immemorial traditions'. 'अत्यन्त प्राचीन परम्पराओं में सब से अधिक प्रामाणिक' बताते हैं।

इन वेदों को आर्य्य दर्शन, आर्य्य धर्म्मशास्त्र आदि आर्ष ग्रन्थ, तथा ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराण-उपपुराण सभी ग्रन्थ अपना उपजीव्य, मूलाधार मानते हैं। जैनों और बौद्धों के ग्रन्थों में भी वेदों की चर्चा मिलती है। बौद्धों के ग्रन्थों में वेदों की निन्दा भी मिलती है और प्रशंसा भी। जैनों के ग्रन्थों की भी स्थिति ऐसी ही है; हाँ, जैनमत के आचार्यों पर कुछ विशेष प्रभाव आ पड़ा है। दिगम्बर-सम्प्रदाय में कुछ ग्रन्थ समुदायों को वेद नाम दिया गया है। इसबात के लिखने का प्रयोजन केवल इतना है कि भारतीय साहित्य-इतिहास में कोई समय ऐसा नहीं रहा, जब वेदों की चर्चा सर्वथा बन्द हो गई हो, अनुकूल या प्रतिकूल किसी न किसी रूप में वेद चर्चा सदा अविच्छिन्न रूप से बनी ही रही है। प्रतिकूल चर्चा तभी हो सकती है, जब उसके समर्थक हों। इस रीति से भी वेद चर्चा का सदा बना रहना प्रमाणित होता है।

वेद का इतना आदर और मान रहा है कि एक समय ऐसा आया था कि वेद का पठन-पाठन बहुत न्यून हो गया था, उस समय भी लोग किसी ऐसी बात को मानने से इनकार कर देते थे, जिसके लिए कहने वाला वेदप्रमाण न दे सके। वेदवाक्यों के नाम से प्रसिद्ध किन्तु वेद में न मिलने वाले अवैदिक वचन उसी काल की रचना हैं। पुराण उपपुराण, तन्त्र तथा अन्य साम्प्रदायिक ग्रन्थ ऐसे कल्पित वचनों से भरे पड़े हैं। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतिः" उसी काल का एक कल्पित जाली वचन है। वेद में सबको ज्ञान का अधिकारी बताया गया है, अतः यह वचन कल्पित होने के साथ वेदविरुद्ध भी है।

प्रश्न होता है, जिस वेद का इतना आदर, इतना गौरव है, वह है क्या वस्तु। जैसा कि ऊपर मैक्समूलर तथा मातृलिंग के वचनों से ज्ञान होता है, ग्रन्थ विशेषों का नाम वेद है। जैसे रामायण, महाभारत आदि, कुरान, बाइबिल आदि विशेष विशेष ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार वेद भी ग्रन्थ विशेष हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार ग्रन्थों को वेद नाम से पुकारा जाता है। आज से ८०-६० वर्ष पूर्व तक भारतवर्ष में ऐसे लोग भी विद्यमान थे, जो संस्कृत में लिखी प्रत्येक पंक्ति को वेद मानते थे। इसका कारण पण्डित कहे जाने वाले महानुभावों की अज्ञानमूलक धूर्तता थी। जनसाधारण की वेद पर अगाध श्रद्धा थी। राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल के कारण देश में

अव्यवस्था बढ़ चुकी थी, लोग शिक्षा से वंचित थे। उन्हें शिक्षितंमन्य लोगों का मुख देखना पड़ता था। वे शिक्षितमानी लोग जैसा बताते थे लोगों को वैसा ही मानना पड़ता था। शिक्षित के रूप में प्रसिद्ध लोगों की बन आई। 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः'—ब्राह्मण का वचन जनार्दन परमेश्वर या परमेश्वर का वचन है। यह वाक्य भी ऐसे महापुरुषों की कृपा का फल है।

आज यद्यपि सभी संस्कृत वाक्यों को वेद माननेवालों का अभाव-सा है, तथापि होराचक्र आदि ग्रन्थों को वेद माननेवाले कहीं-कहीं मिल जाते हैं। पण्डितसमाज में ऐसे निस्सार विचार अब किसी के नहीं हैं।

गन्धर्ववेद, अर्थवेद, धनुर्वेद तथा आयुर्वेद शब्दों में यद्यपि वेद शब्द है तथापि इनको वेद नाम कोई भी नहीं देता, सभी इन्हें 'उपवेद' कहते हैं। अतः 'वेदस्वरूप'-विचार-प्रसंग में इन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, यह तो सर्व-सम्मति से 'वेद' शब्द के अभिधय है ही नहीं।

शाखा–ग्रन्थ वेद नहीं हैं

अब शाखाओं के विषय में थोड़ा-सा विचार करते हैं। शाखा-ग्रन्थों की संख्या के विषय में बड़ा मतभेद है। व्याकरणमहाभाष्यकार के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखाएँ. यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ, सामवेद की १००० शाखाएँ, तथा अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं। यथा—

एक विंशतिधा "बाह्वृच्यम्। एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। नवधाथर्वणो वेदः (महाभाष्य १। १। १ आह्निक) प्रपंच हृदय नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद की २१ शाखाएँ बतला कर लिखा है। तत्र केनचित्कारणेन शतक्रतुना वज्रघातिता वेदशाखाः तत्रावशिष्टः सामबह्वृचयोर्द्वादश द्वादश। बाह्वचस्य ऐतरेय-बाष्कल-कौषीतक-जानन्ति-बाहवि - गौतम-शाकल - बाभ्रव्य-पैङ्ग-मुन्दल-शौनकशाखाः।"

अर्थात्—किसी कारण से शतक्रत (इन्द्र) ने वज्र द्वारा वेद शाखाओं का नाश कर दिया। उसमें से साम और ऋग्वेद की १२-१२ शाखाएँ बच रहीं। ऋग्वेद की बची हुई १२ शाखाओं के नाम यह हैं—ऐतरेय, बाष्कल,

कौषीतक, जानन्ति, बाह्वि, गौतम, शाकल, बाभ्रव्य, पैंग, मुद्गल और शौनक। इसी प्रकार यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ मान कर केवल ३६ शाखाओं का उल्लेख किया है। जैसे—

माध्यन्दिन, कण्व, तित्तिरि, हिरण्यकेश, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन, याज्ञवल्क्य, मदञ्जय, बृहदुक्थ, पराशर, वामदेव, जतुकर्ण, तुरुष्क, सोमशुक, तृणविन्दु, वाजिञ्जय, श्रवस, वर्षवरूथ, सनद्वाज, वाजिरत्न हर्यश्व, ऋणञ्जय, तृणञ्जय, कृतञ्जय, धनञ्जय, सत्यञ्जय, सहञ्जय, मिश्रञ्जय, त्र्यरुण, त्रिवृष, त्रिधामद्विवञ्ज, फलिगु, उखा और आत्रेय।

अथर्ववेदीय चरणव्यूहपरिशिष्ट में यजुर्वेद की २४ शाखाएँ लिखी हैं—तद्यथा—'तत्र यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतिर्भेदा'। तद्यथा—काण्वाः, माध्यन्दिनाः, जाबालाः, शापेयाः, श्वेताः, श्वेततराः, ताम्रायणीयाः, पौर्णवत्साः, आवटिकाः परमावटिकाः, हौष्याः, धौष्याः, खाडिकाः, आह्वरकाः, चरकाः मैत्राः, मैत्रायणीयाः, हारिकर्णाः, शालायनियाः, मर्चकठाः, प्राच्यकठाः, कपिष्ठलकठाः उपलाः, तैत्तिरीयाश्चेति। सामवेद के सम्बन्ध में ऊपर प्रपञ्च-हृदय ग्रन्थ का मत बता आए हैं। सामदेव की अवशिष्ट शाखाओं के नाम इस प्रकार वहाँ लिखे हैं—

तलवकार, छन्दोग, शाठ्यायन, राणायनि, दुर्वासस, भागुरि, गौतलव-कारालि, सावर्ण्यगार्ग्य, वार्षगण्य, और औपमन्यव। अथर्ववेदीय चरणव्यूह-परिशिष्ट में सामवेद की एक हजार शाखाएँ मान कर केवल ६ का प्रचार शेष माना है। जैसे कि—तत्र केचिदवशिष्टा प्रचरन्ति। तद्यथा—रायणीयाः, सात्यमुग्राः, कालापाः, महाकालापाः, कौथुमाः, लाङ्गलिकाश्चेति।

अथर्ववेद की शाखाओं के संबन्ध में प्रपंच-हृदय लिखता है— 'नवैवाथर्वणस्य" अथर्ववेद की नौ ही शाखाएँ हैं। उनके नाम का निर्देश इस प्रकार करता है—"पैप्पलाद, योद, तोद, मोद, दायढ, ब्रह्मपद, शौनक, आङ्गिरस और देर्वाष।"

अथर्ववेदीय चरणव्यूह, में अथर्ववेद की शाखाओं की संख्या तो नौ ही मानी है किन्तु नामों में कुछ भेद है—यथा—पैप्पलाद, स्तौद, मौद, शौनकीय,

जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श। एक दूसरे ग्रन्थ में ये नाम इस प्रकार दे रखे हैं—पिप्पलाः, शौनकाः, दामोदाः, तौत्तायनाः, जाबालाः, कुनखी, ब्रह्मपलाशाः देवदर्शी, चारणविद्याः च।"

एक और स्थान पर यह नाम इस प्रकार लिखे हैं—पैप्पलाः, दान्ताः, प्रदान्ताः, स्तौताः, औताः, ब्रह्मदापलाशाः, शौनठी, देवदर्शी, चरणविद्याः चेति। अथर्ववेदीय चरणव्यूह परिशिष्ट में ऋग्वेद की केवल सात शाखाएँ लिखी हैं।

यथा—

"तत्र ऋग्वेदस्य सप्तशाखः भवन्ति, तद्यथा—आश्वलायनाः, शांखायनाः, साध्यायनाः, शाकलाः, बाष्कलाः, औदुम्बराः, माण्डूकाश्चेति।" अर्थात्—आश्वलायन, शांखायन, साध्यायन, शाकल, बाष्कल, औदुम्बर और माण्डूक यह सात शाखाएँ ऋग्वेद की हैं।

स्कन्दपुराण के मत से ऋग्वेद की २४ शाखाएँ हैं।

इसी प्रकार कूर्म्मपुराण आदि ग्रन्थों में शाखाओं की संख्या भिन्न-भिन्न लिखी है। विस्तारभय से उन सबका यहाँ उल्लेख नहीं करते। शाखाओं के इस संख्याभेद से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं कि सारी शाखाएँ एक समय में नहीं बनीं, इनके विरचन या प्रवचन का काल एक नहीं, और दूसरी बात यह कि समय पाकर बहुत-सी शाखाएँ नष्ट भी हो गयीं। जैसा कि ऊपर प्रपञ्च-हृदय ग्रन्थ के प्रमाण से दिखाया गया है। आजकल तो और भी कम शाखाएँ मिलती हैं। फिर इनके प्रवचनकर्त्ता ऋषियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शाखा अपने प्रवचनकर्त्ता ऋषि से पूर्व न थी किन्तु वेद तो नित्य है। अतः शाखा और वेद एक नहीं है। शाखा को वेद मानने या शाखा और वेद को अभिन्न मानने का कारण शाखा-शब्द का यथार्थ अर्थ-विषयक अज्ञान है। किसी समय में शाखा का अर्थ वृक्ष शाखा की भाँति वेद का अवयव समझ लिया गया, और फिर शाखा को वेद मानने की भ्रांति चल पड़ी। शाखा की भाँति अंग भी अवयववाची है, किन्तु आज तक अंग-वेदांगों—व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त छन्द, कला और ज्योतिष—को किसी ने वेद नहीं कहा। यदि शाखा—शाखा के नाम कारण—वेद हो

सकते हैं, तो अंग वेद क्यों नहीं ? यदि अंग–वेदांग नाम रखते हुए भी—वेद नहीं कहला सकते, तो शाखाएं भी वेद नहीं कहला सकतीं। अन्यथा कोई विशेष हेतु इसके लिए देना चाहिए। कोई विशेष हेतु न होने के कारण शाखाएं वेद नहीं कहला सकतीं। हां, जिस प्रकार निघण्टु कुछ एक वैदिक शब्दों का संग्रह होने से गौणरूप से समाम्नाय कहलाता है, उसी प्रकार शाखाओं को भी गौणरूप से वेद कहा जाए, तो विशेष क्षति नहीं है। अथवा जिस प्रकार गन्धर्ववेद, अर्थवेद, धनुर्वेद और आयुर्वेद उपवेदों को उपचार से वेद कहा जाता है वैसे ही इन शाखा-ग्रन्थों का औपचारिक नाम वेद हो, तो कोई विशेष आपत्ति नहीं।

यदि शाखाओं को वेद माना जाय तो बहुत-सी सौत्र शाखाएँ हैं, उनको भी वेद मानना पड़ेगा, और उनके साथ उन सूत्र ग्रन्थों को भी वेद मानना पड़ेगा, जो किसी को भी अभिमत नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि शाखाएं वेद नहीं हैं।

'शाखा' शब्द का अर्थ है—व्याप्ति=विशेष ज्ञान करानेवाली ('शाखृ व्याप्तौ' धातु से शाखा शब्द बनता है)। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के छठे मन्त्र में एक शब्द आया है 'आत्मन्'। यह विभक्ति-रहित प्रतीत होता है। व्याकरण के नियमानुसार इसके सातों विभक्तियों और तीनों वचनों में अर्थ किए जा सकते हैं। इससे अव्यवस्था होने का भय है। इस अव्यवस्था को शाखाकार ने दूर कर दिया—उसने 'आत्मन्' के स्थान में 'आत्मनि' पाठ पढ़ दिया। यही पाठ ईशोपनिषत् में है। अर्थात् शाखा वेद का व्याख्यान सिद्ध हुआ। व्याख्यान और व्याख्येय में भेद हुआ करता है, व्याख्यान और व्याख्येय एक नहीं हुआ करते। टीका और मूल को एक कैसे माना जा सकता है ? टीकाकारों का आपस में मतभेद या मतविरोध भी हुआ करता है, तो क्या वह सारा मूल मान लिया जाय। ऐसा तो कोई भी बुद्धिमान मानने को उद्यत नहीं। अतः वेदव्याख्यान होने के कारण शाखा वेद नहीं।

पुराने आचार्य्य भी शाखाओं को वेद नहीं मानते थे। देखिए याज्ञवल्क्य-स्मृति की बालक्रीडा टीका में विश्वरूप आचार्य्य लिखते हैं—(१।७)

"नहिमैत्रायणीशाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा।" अर्थात् मैत्रायणी-

शाखा काठक से अधिक भिन्न नहीं है।

वायुपुराण के ६१ अध्याय में इससे भी स्पष्ट खोल कर कहा गया है—

"सर्वास्ताः चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचकाः पाठान्तरे पृथग्भूता वेद-शाखा यथा तथा। ५६

पुराण की वे सारी संहिताएँ चतुष्पात् थीं। सभी का अभिप्राय भी एक ही था। केवल पाठभेद के कारण पृथक् पृथक थीं जैसे कि वेद की शाखाएँ।

भावार्थ यह कि किसी विशेष अर्थ को समझाने के लिए किसी कठिन शब्द के स्थान में कोई सरल शब्द रख देने से पाठान्तर हो गया, और उसका नाम शाखा पड़ गया। यही बात हम ऊपर 'आत्मन् के स्थान में 'आत्मनि' कर दिये जाने का उदाहरण देकर कह आए हैं।

वायुपुराण के ६१ अध्याय के ७५वें श्लोक में तो इतना स्पष्ट कहा है कि कोई सन्देह ही नहीं रहता—

'प्रजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्वमे स्मृताः।'

प्रजापति=परमेश्वर-निर्मित श्रुति नित्य है। शाखाएँ उसके विकल्प-मात्र हैं वृहज्जाबालोपनिषत् के अष्टमब्राह्मण के पंचम खण्ड में शाखा और वेद को पृथक माना है। यथा—

य एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते"

अर्थात्—जो इस बृहज्जाबालोपनिषत् को नित्य पढ़ता है, वह ऋग्वेद को पढ़ता है, यजुर्वेद को पढ़ता है, सामवेद को पढ़ता है। अथर्वाङ्गिरसवेद को पढ़ता है। शाखाओं को पढ़ता है। कल्पों को पढ़ता है।

यदि वेद और शाखा अभिन्न होते तो यहाँ वेदों से पृथक 'शाखाओं को पढ़ता है' का उल्लेख न होता। अतः शाखा वेद नहीं है।

अब मूल-वेद कौन-सा है और शाखा (व्याख्यान) कौन-सा है? इसके सम्बन्ध में थोड़ा-सा लिखते हैं। सीधी-साधी बात यह है कि मूल में इतिहास नहीं है और शाखा में मूल को समझाने के लिए इतिहासादि भी जोड़ दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए यजुर्वेद ६।४० का एक पाठ लीजिए। यजुर्वेद में पाठ है—

"एष वो अमी राजा"

काण्व-शाखा में 'एष वः कुरवो राजा एष पाञ्चालो राजा' पाठ है। तैत्तिरीय संहिता में 'एष वो भरता राजा' और मैत्रायणी और काठक में तो यह पाठ 'एष ते जनते राजा' हो गया है। देखिए—मूल में किसी का जन्म निर्देश नहीं। काण्व में 'कुरु, और 'पाञ्चाल, नाम आए, अर्थात् काण्व-शाखा कुरुपाञ्चाल देश में रची गई। तैत्तिरीय में 'भरत' नाम बता रहा है कि यह भरतों के समय बनी। काठक और मैत्रायणी के 'जनते' सम्बोधन ने और ही वस्तु सुझाई कि यह संहिताएं उस समय बनीं, जब जन-तन्त्र-प्रजा-तन्त्र प्रणाली का प्रचलन था। कठों के संबन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे प्रजातन्त्रवादी थे। ऊपर काठक और मैत्रायणी शाखाओं का अभिन्न-सा होना बतला आए हैं, अतः काठक और मैत्रायाणी संहिताओं में 'जनते' पाठ उस समय की अवस्था का सूचक है। शाखाओं में इतिहास की सत्ता भी इन को वेद से भिन्न सिद्ध करती है। शाखाओं के सम्बन्ध में पाणिनि जी ने अपनी अष्टाध्यायी में एक सूत्र लिखा है—तेनप्रोक्तम् (४।३।१०१) इस प्रोक्त के कई लोग 'विरचित' 'कृत' अर्थ करते हैं और इसीसे भ्रांति होती है। महाभाष्यकार पतंजलि इस पर लिखते हैं—

"नहि छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि छन्दांसि, यद्यप्यर्थो नित्यो, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं कालापकं मौदकंपैप्पलादकमिति।"

अर्थात—छन्द=वेद बनाए नहीं जाते। वेद तो नित्य हैं। यद्यपि शाखाओं में प्रतिपादित अर्थ नित्य है, तथापि उनकी वर्णानुपूर्वी=शब्दक्रम अनित्य है उस शब्दक्रम के भेद से ही काठक, कालापक, मौदक और पैप्पलादक आदि शाखाएं होती हैं।

अष्टाध्यायी की काशिका टीका की व्याख्या, न्यास में लिखा है—

"तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते।"

अर्थात्—'प्रोक्त' शब्द का अर्थ व्याख्यान करना या पढ़ाना होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि कठ आदि से प्रोक्त काठक शाखा आदि ग्रन्थ वेद व्याख्यान हैं न कि मूल-ग्रन्थ। भरताचार्य्यं कृत नाप्यशास्त्र के व्याख्याकार आचार्य अभिनव-गुप्त को यही अभिमत है। वे लिखते हैं—

"तत्र नाट्यशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानीं करणं नतु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपकरणाद्भिन्नम् कठेन प्रोक्तमिति यथाः।"

अर्थात्—यहाँ यदि नाट्यशास्त्र से अभिप्राय ग्रन्थविशेष है, तो उसका 'करण'=बनाना अभिष्ट है न कि प्रवचन=व्याख्यान। क्योंकि व्याख्यानरूप प्रवचन 'करण' से भिन्न होता है जैसा कठ से प्रोक्त अर्थात् कठ से व्याख्यान। अब ब्राह्मणों के वेदत्व का विचार करते हैं—

ब्राह्मण-ग्रन्थ भी वेद नहीं हैं

आज-कल यद्यपि यह विवाद शान्त-सा हो चुका है, परन्तु अब भी ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेद मानने वालों की संख्या बहुत बड़ी है। जो युक्ति हम शाखाओं के वेद न होने में दे आए हैं वहीं ब्राह्मणों के वेद न होने में है। अर्थात ब्राह्मण तो हैं ही वेदव्याख्यान। शाखा यदि टिप्पणीरूप व्याख्यान हैं, तो ब्राह्मण भाष्यरूप व्याख्यान हैं। ब्राह्मणों में तो मन्त्रों को प्रतीक देकर उनका व्याख्यान किया गया है; ब्राह्मणगत व्यख्यानों में या तो उस मन्त्र का विस्तृत अर्थ या शब्द-विशेष के मूलार्थ का अनुसन्धानरूप व्याख्यान होता है। अथवा मन्त्र की प्रतीक देकर उस के द्वारा किये जाने वाले कर्म्म का निर्देश होता है। इसी वास्ते निरुक्त में एक स्थान पर आता है—"ब्राह्मणै रूपसंपन्नाः क्रियन्ते।" ब्राह्मणों के द्वारा मन्त्र रुपसंपन्न किए जाते हैं, अर्थात् किस-किस मन्त्र से क्या-क्या कार्य करना होता है, इसे ब्राह्मण ग्रन्थ बतलाते हैं। जसे—शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में आता है—'इषेत्वा इति शाखां छिनत्ति' 'इषेत्वा' इस मन्त्र को पढ़ कर वृक्ष की शाखा काटता है। इसको मन्त्र-विनियोग भी कहते हैं। 'इषेत्वा' यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र का पहला टुकड़ा है यह ठीक वैसा ही है जैसा कि काव्य ग्रन्थों की टीकाओं में टीकाकार श्लोक के पदों को रखकर आगे अर्थ दिया करते हैं। कालिदास कवि के रघुवंश की मल्लिनाथ विद्वान् ने टीका की है। कालिदास की कृति और मल्लिनाथ दोनों की कृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। कोई भी विद्वान् मल्लिनाथा की रचना को कालिदास की कृति नहीं मानता। इसी प्रकार यज्ञवल्क्य आदि महर्षियों के बनाए वेद-व्याख्यान-रूप ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद मानना युक्ति-विरुद्ध एवं प्रमाणशून्य है। ब्राह्मण ग्रंथों में व्याख्यान पर वेद मन्त्रों की प्रतीकें

देकर उनके सम्बन्ध में अनेक ऋषियों मुनियों एवं विचारकों के मत दिये गये हैं। मूल वेद में ऐसा कहीं भी नहीं है। ब्राह्मण को वेद मानने वालों के पास ले देकर एक ही ब्रह्मास्त्र रह जाता है, वह है कात्यायन, पास्तम्ब आदि श्रौत-सूत्रकारों का एक सूत्र—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" । अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है। जो लोग यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों ने विचारपूर्वक श्रौतसूत्रोंको देखा नहीं, अन्यथा वे कभी भी इस सूत्र को अपने पक्ष का उपोद्बलक मानकर उपस्थित न करते। श्रौतसूत्रों में यह परिभाषाप्रकरण का सूत्र है। वर्तमान यज्ञों में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का उपयोग होता है। सूत्रकारों ने अपनी सुविधा के लिए दोनों का नाम वेद रख दिया। यह तो सूत्रकारों की परिभाषा है, न कि सार्वत्रिक संज्ञा। इस को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।—पाणिनि महर्षि ने अपनी अष्टाध्यायी में कुछ विशेष पारिभाषिक संज्ञाओं की कल्पना की है, यथा—' वृद्धिरादैच्' १।१।१।। (आ, ऐ औ औ को वृद्धि कहते हैं। सभी जानते हैं कि आ, ऐ, औ का नाम वृद्धि केवल पाणिनि जी की अष्टाध्यायी में ही सार्थक है। अन्यत्र वृद्धि का इस अर्थ में प्रयोग अनर्थकारी तथा मूर्खता का परिचायक होगा। जैसे किसी राजकर्म्मचारी के वेतन में वृद्धि हुई, तो क्या पाणिनि महर्षि की दुहाई देकर कोई बुद्धिमान् यह कह सकेगा कि इस के वेतन में आ, ऐ या औ लग गया। जो महापण्डित ऐसा अर्थ करेगा, उसके साथ जनता क्या व्यवहार करेगी इसके यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार वैद्यक-शास्त्र में वृद्धि शरीर के किसी अवयव के अपनी उचित मात्रा की अपेक्षा अधिक बढ़ जाने को कहते हैं। अब यदि एक रोगी अपने शरीर के किसी अवयव की वृद्धि की शिकायत करता है तो क्या हम यह समझें कि उसके शरीर के उस अवयव में आ, ऐ, औ चिपक गए। ऐसा समझने वाले का उपयुक्त स्थान कहीं और ही निश्चित होगा। अतः इसी भांति 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र भी पारिभाषिक है। यज्ञ प्रक्रिया और विशेष याज्ञिक ग्रंथों के अतिरिक्त उसका उपयोग और कहीं नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि ब्राह्मण ग्रंथ भी वेद नहीं हैं, वरन् यह वेद के व्याख्यान हैं। आरण्यकग्रंथ और उपनिषत् ग्रंथ तो ब्राह्मण-ग्रंथों का ही भाग हैं। जब ब्राह्मण का ही वेदत्व सिद्ध नहीं हो सका तो इनका वेदत्व तो किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो

सकता इस प्रकार सुतरां स्पष्ट सिद्ध हो गया, कि केवल मन्त्र-संहिताओं का ही नाम वेद है। इतना वेद का वहिरङ्ग स्वरूप है। अब जिन मन्त्र-संहिताओं के वेदत्व की सिद्धि की गई हैं, उनका अन्तरङ्ग स्वरूप भी, थोड़ा-सा दिखाना चाहिए, जिससे कि उनके विषय में स्वल्पसा परिचय हो सके। इतना स्मरण रखना चाहिए कि शाखाओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों, आरण्यकों, वेदांगों, दर्शनों आदि विविध विद्याद्योतक-ग्रन्थों का मूल वेद है, ऐसा सभी समयों के भारतीय वैदिक ऋषि-मुनि, आचार्य्य पण्डित विचारक मानते चले आये हैं। इस सिद्धान्त को सामने रखने से वेद का अन्तरंग स्वरूप समझने में सुविधा होगी।

वेद में वेद को परमेश्वर की देन कहा है—"देवत्तं ब्रह्म गायत"।

ऋ० १।३७।४

देवत्त = देव-परमात्म देव के दिए ब्रह्म = वेद को गाओ।

यह मन्त्र खण्ड अत्यन्त स्पष्ट है। ब्रह्म शब्द का अर्थ 'वेद' निर्विवाद है। कोई कह सकता है कि 'परमात्मा का दिया हुआ' वेद कहा है, न कि परमात्मा का रचा हुआ'। उनके संतोष के लिए हम एक और वेदवचन प्रस्तुत करते हैं। वह यह है—'श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्म्मणे"। ऋ० ४।५३।३

अर्थात्—परमात्मा स्वधर्म्म-प्रचार के लिए श्लोक वेद-रूपी श्लोक की रचना करता है।

यह सभी जानते हैं कि वेद का अधिक भाग श्लोकमय = पद्यमय है। अतः वेद को श्लोक कहना असङ्गत नहीं है। वरन् यह वेद के बाह्यरूप का द्योतक है।

इन दो प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद अपने आपको सर्वप्रेरक परमात्मदेव की कृति मानता है। वेद के इस सिद्धान्त को सभी ऋषि-मुनि मानते चले आए हैं।

जब अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि वेद परमात्मा की रचना है, तो वेदकाल या वेद की रचना के काल का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। परमात्मा ने वेद क्यों रचे ? इसका समाधान भी ऊपर दिये वेद-वचन से हो जाता है। जब वेद रचने का प्रयोजन स्वधर्म्मप्रचार है तो स्वभावतः कहना पड़ेगा, कि वेद सर्ग के आरम्भ में रचा गया। जो लोग सृष्टि को सदा से मानते हैं इसका आदि अन्त स्वीकार नहीं करते, उन्हें वेद की स्थिति भी सदा के लिए माननी पड़ेगी, इसकी उत्पति और विनाश, उनके मत में असम्भव है। जो लोग सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें सृष्टि के

आरम्भ में वेद की रचना स्वीकार करनी पड़ेगी। सृष्टि के इन दो सिद्धान्तों के कारण ही पौरुषेय और अपौरुषेय वादों की प्रवृत्ति हुई है।

ऊपर हम लिख आए हैं कि वेद-समस्त प्रामाणिक आर्य्य-साहित्य का, जिसमें कला, विज्ञान, दर्शन आदि विद्याओं का समावेश है, आधार माना जाता रहा है। मनु जैसे स्मृतिकार, गौतम, कणाद कपिल, पतंजली, जैमिनि, व्यास जैसे दर्शनकार श्री शङ्कराचार्य आदि मतप्रवर्त्तक दार्शनिक, याज्ञवल्क्य, श्वेताश्वतर, भरद्वाज, पिप्पलाद आदि प्रकाण्ड अध्यात्मवादी सभी वेद को प्रमाण मानते हैं, अपने सिद्धान्त की पुष्टि में वेद को साक्षिरूप उपस्थित करते हैं। इसका अर्थ हुआ कि वेद विविध विद्याओं का आकार है। इन धर्मशास्त्र-कारों, स्मृतिकारों, दर्शनकारों, उपनिषत्प्रवक्ताओं आदि सभी को अपने सिद्धान्त वेद में दीखे थे, तभी तो इन सबों ने वेद को प्रमाण और अपने सिद्धान्तों का मूल माना है। अवश्य वेद में यह विद्याएं उन्हें मिली होंगी, तभी उन्होंने वेद को अपने अपने सिद्धातों का मूलभूत ग्रन्थ माना है। इसका अर्थ यह हुआ, कि वेद में सब विद्याएं हैं। स्वयं वेद में वेद को "वैश्वदेवी" अ० १२।२।२८ कहा गया है 'वैश्वदेवी' शब्द का अर्थ होता है—विश्वेषां देवानां प्रतिपादिका = संपूर्ण देवों—अग्नि वायु आदि समस्त जड़-चेतन पदार्थों का बोध करानेवाली। अर्थात् सब विद्याओं का आकार। कदाचित् वेद और ऋषि-मुनियों के इस सिद्धान्त को सामने रख कर ही इस आर्षवाक्य की प्रवृत्ति हुई है—"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।" इसी कारण, कदाचित्, बड़े-बड़े वेदज्ञ-विद्वान मतग्रन्थ न कह कर 'विद्या पुस्तक' कहते हैं। आज तक कोई भी वेद की किसी शिक्षा को विद्या के विरुद्ध प्रमाणित नहीं कर सका।

सारांश यह कि (१) वेद सृष्टि के आरम्भ में, परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान है।

(२) वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

(३) वेद—आर्य्य-जाति ही नहीं, वरन् "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" ऋ० ९। [सब संसार को आर्य्य बनाओ] के अनुसार मनुष्यमात्र की सम्पत्ति हैं।

(४) सत्य विद्याओं का पुस्तक होने के कारण इसकी कोई भी शिक्षा विद्या विरुद्ध नहीं, अतः यह सबके लिए माननीय और ग्राह्य है।

(५) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ही वेद हैं। अन्य ब्राह्मण, शाखा आदि ग्रन्थ वेद नहीं।

(६) काल क्रम की दृष्टि से वेद संसार के समस्त ग्रन्थों से पुराना है।

———

विश्व का जीवन सँजोये,

युग-युगों से चिर सनातन
शक्ति की ले भव्य थाती,
रूढ़ि--जड़ता के विघातक
तेज की कर दीप्त वाती,
युक्ति की अँगनाइयों में,
मुक्ति-छवि भर मोद-माती,
सत्य.मेधा के मिलन पर,
बुद्धि-चिति' कर राम-राती;

भ्रम-कलुष-अघ- ताप-हर्त्ता,
वेद हैं मधुमास शाश्वत !

विश्व का जीवन संजोये,
वेद हैं विश्वास शाश्वत ।

'सत्'-स्वरूप अनादि विभुजो,
नित 'प्रकृति' का जानते हैं;
'चित्-निधान अनंत आत्मा
की छटा पहिचानते हैं;
'ब्रह्म' आनन्द कन्द का जो,
यश सदैव बखानते हैं;
'त्रै' के त्रैभावन भवन को,
जो सदा सच मानते हैं;

तोड़ते संकीर्ण सीमा,
वेद हैं 'दिव'-ह्लास शाश्वत !
विश्व का जीवन संजोये,
वेद हैं विश्वास शाश्वत !!

मानवों में जो जगाते,
ज्ञान की पावन-पिपासा;
कर्म की अट्टालिका में,
जो बढ़ाते मंजु आशा;
शान्त पूत उपासना में,
जो न भर पाते निराशा;
युग जयी मोहक 'त्रयी' की'
दे सके जो मूल भाषा;

सौम्य संस्कृति को सजाये,
वेद हैं 'रयि-रास शाश्वत !
विश्व का जीवन संजोये,
वेद हैं विश्वास शाश्वत !!

आधिभौतिक——-भावनाओं
के कभी परिसर न भूले;
आधिदैविक चेतनाओं;
के गहन सागर न भूले;

वेद हैं विश्वास शाश्वत ।

—भैरवदत्त शुक्ल

पुष्ट आध्यात्मिक गुणों के,
नित नये भ्रंवर न भूले;
दान, संगति, देव-पूजा-
त्याग के प्रिय स्वर न भूले;

'त्रिविधआशय से समन्वित,
वेद हैं शिव—श्वास शाश्वत!
विश्व का जीवन सँजोये,
वेद हैं विश्वास शाश्वत !!

एक ईश्वर के विविध
गुण-वाचकों की बात करते;
ऋत, बृहत् तप-संवलित-
पथ-वीथियों के ढब सँवरते;
वर्ण-आश्रम की तरणि पर,
बैठ नर दुःख से उबरते;
मूर्ति-पूजक भावनाएँ
चित्त में पर वे न भरते,

साम्प्रदायिकता—विनाशक,
वेद हैं आकाश शाश्वत !
विश्व का जीवन संजोये,
वेद हैं विश्वास शाश्वत ?
देश-कालावधि परे जो,
यौगिक प्रक्रिया लिये हैं;
'स्वर'सुसज्जित 'छन्द'गृह में
आदि से ही आ, जिये हैं;
'देवता' के ठोस तल पर
'ऋषि'विधायक क्रम दिये हैं;
कर प्रदर्शित झांकियां बहु,
एकता का मधु पिये हैं;

पंगु पशुता के विरोधी,
वेद हैं आयास शाश्वत !
विश्व का जीवन संजोये,
वेद हैं विश्वास शाश्वत ।

ज्ञान का आदि स्रोत

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं, यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्, प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥

ऋग्वेद — १०·७१

अर्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति अर्थात् महान् ज्ञान से युक्त वेद-वाणी के स्वामी परमात्मन् (प्रथमम्) सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्तिके समय, आदिम ऋषियों ने (यत्) जो (अग्रम्) पहले-पहल (नामधेयम्) विभिन्न पदार्थों के नामों को (दधानाः) धारण करने वाली, देने वाली (वाचः) वेद की वाणियों को (प्रेरित) प्रेरित किया, वह वेद-ज्ञान (यत्) क्योंकि, (एषाम्) इन ऋषियों का (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठत्व था (यत्) क्योंकि इनका (अरिप्रम) निष्पापत्व) (आसीत्) था (तत्) इसलिए (प्रेणा) अपनी प्रेरणा या अपने प्रेम से, आपने (एषाम्) इनके (गुहा) हृदय में, बुद्धि में (निहितम्) रख दिया, वही उन आदिम ऋषियों द्वारा अन्य मनुष्यों के लिए (आविः) प्रकट हुआ।

अब मनुष्यों की सृष्टि हुई तो वे कोई वाणी, कोई भाषा नहीं जानते थे। परमात्मा ने आदिम ऋषियों को ज्ञान देकर उन्हें वेद-वाणी, वेद की भाषा सिखाई। उन ऋषियों ने यह वेद का ज्ञान अन्य मनुष्यों को सिखाया और वेद की वाणी, वेद की भाषा, उनमें प्रचलित की। इस प्रकार परमात्मा ने आदिम ऋषियों को ज्ञान दिया और भाषा सिखाई। फिर उन ऋषियों ने दूसरे लोगों को ज्ञान दिया और भाषा सिखाई। भाषा बिना सिखाये नहीं आ सकती। इसलिए परम्परा से भाषा सिखाने वाला आदि गुरु परमात्मा को ही स्वीकार करना पड़ता है। आदिम ऋषियों को परमात्मा ने वेद की ज्ञान और भाषा इसलिए सिखाई क्योंकि वे सब से श्रेष्ठ और सबसे निष्पाप थे। प्रलय से पूर्व की सृष्ठि में उनके कर्म जब से श्रेष्ठ और सबसे निष्पाप रहे थे। उनके इन सब से पवित्र कर्मों के फलस्वरूप उन्हें प्रलय के बाद इस सृष्टि में परमात्मा ने पवित्र वेदज्ञान का अधिकारी तथा अन्य सब मनुष्यों का प्रथम गुरु बनाया। और इस प्रकार संसार में ज्ञान प्रवाहित हो गया।



दार्शनिक विचार-धारा

आचार्य जगदीशचन्द्र शास्त्री

संसार के विद्वानों में निरन्तर यह चर्चा का विषय रहा है कि क्या वेद और दर्शनों में एक रूपता है ? क्या दोनों का प्रतिपाद्य एक ही है या भिन्न ? इन प्रश्नों का उत्तर पाठक प्रस्तुत लेख में पा सकेंगे।

"सत्य" की खोज जीवन की प्रेरणा रही है । और इसी खोज का परिणाम हैं षड् दर्शन। दर्शन-द्वारा विवेक प्राप्त कर "वेद" का रहस्य हम सुगमता से हृदयंगम कर सकते हैं।

—संपादक

● ● ●

पश्य देवस्य काव्यम्

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥

अथर्व० १० । ८ । ३२

शब्दार्थ—(अन्ति-सन्तम्) बहुत सूक्ष्म=निराकार होने पर भी (न जहाति) वह भगवान् किसी का परित्याग नहीं करता। (अन्ति-सन्तम्) बहुत समीप होने पर भी कोई उस भगवान् को (न पश्यति) नहीं देखता है। हे मनुष्य ! (देवस्य) उस महिमामय देव के (काव्यम्) काव्य को=दृश्य-काव्य=इस संसार को और श्रोत काव्य=वेद को, (पश्य) देख, पढ़, विचार जो कि (न ममार) कभी भी नहीं मरता और (न जीर्यति) न ही कभी पुराना होता है।

भावार्थः—यद्यपि वह परमात्मा निराकार है, परन्तु फिर भी वह किसी का परित्याग नहीं करता। यद्यपि वह परमात्मा बहुत समीप है; परन्तु फिर भी कोई उसको देख नहीं सकता। हे मनुष्यो ! उस परमात्मा की रचना इस संसार को देखो और उसके प्रदान किये हुए ज्ञान के भंडार वेद को देखो, जो न तो कभी मरता है, और न कभी जीर्ण होता है।

• • •

वेद का स्वाध्याय करने वाले प्रत्येक स्वाध्यायशील सज्जन को यह तो अवश्यमेव स्वीकार करना ही पड़ता है कि संसार के पुस्तकालय में वेद ही एकमात्र ऐसी पुस्तक है जो अत्यन्त प्राचीन और आकर्षक होने के साथ-साथ संसार की प्रायः सभी समस्याओं का समुचित समाधान उपस्थित करता है, यही कारण है कि मनु जैसे धर्मज्ञ से लेकर जैमिनि जैसे मीमांसक तक तथा आधुनिक विदेशीय और भारतीय विद्वानों तक सभी विचारशील सज्जन वेद के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा का समय-समय पर प्रकाश करते चले आ रहे हैं।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने का यह भी एक प्रबल प्रमाण है कि जैसे अनेक प्रकार के विज्ञानों के लिये सूर्य, पृथ्वी और नक्षत्रों की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखा जाता है वैसे ही अनेक प्रकार के विज्ञानों के लिये वेद की ओर भी देखा जाता है और आश्चर्य तो यह है कि जैसे सूर्य पृथ्वी आदि का गम्भीर अध्ययन करने से अनेक प्रकार के लोकोपकारी तत्वो का विज्ञान लाभ होता जा रहा है वैसे ही वेद मन्त्रों का गम्भीर मनन करने से अनेक प्रकार के लोकोपकारी तत्वों का भी विज्ञान लाभ होता जा रहा है।

तत्तद्विषय के ज्ञानवान् विद्वानों का कथन है कि वेद में यत्र-तत्र सामाजिक, भौतिक, नैतिक तथा व्यवहारिक, राष्ट्रीय और चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विज्ञान और दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्वदर्शी विद्वानों का भी निश्चित मत है कि वेद में विज्ञान और दर्शन शास्त्र के अनेकानेक रहस्यों का यत्र-तत्र उद्घाटन किया गया है, न केवल यह ही अपितु वैदिक ऋषियों का तो यहां तक कहना है कि वेद के प्रत्येक मन्त्र में किसी न किसी प्रकार से ब्रह्म तथा अध्यात्म विद्या का ही वर्णन

है तथा उपनिषत् में ऋषि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

"सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति"—अर्थात् सारे वेद जिस पर ब्रह्म के अध्यात्म पद का स्थान-स्थान पर और अनेक प्रकार से बार-बार व्याख्यान करते हैं। विवेकशील विद्वान् तो यहां तक कहते हैं कि संसार में यदि संजीवनी शक्ति सूर्य से आई है तो संसार में मानवी सभ्यता वेद से आई है, इसी लिए मनुजी का यह कथन सर्वथा सत्य ही सिद्ध होता है कि—**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**। यह मानी हुई बात है कि धर्म का ईश्वर, जीव और जगत् के साथ सीधा सम्बन्ध है और यही कारण है कि वेद में इन तीनों तत्वों का स्थान-स्थान पर वर्णन पाया जाता है। इन तीनों तत्त्वों का परस्पर इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक की सत्ता को स्वीकार करने से दूसरे की सत्ता को और दूसरे की सत्ता को स्वीकार करने से तीसरे की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। इस त्रैतवाद के मौलिक सिद्धान्त का वेद ने कई स्थानों पर बड़े अच्छे ढंग से वर्णन किया है, यथा—

ओ३म् अस्य वामस्य पलितस्य होतुः तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठों अस्त्यस्य अत्रापश्यं विश्पतिं सप्त पुत्रम्॥

ऋ. १—१६४—१

मन्त्र ने पहली महत्वपूर्ण बात यह कही है कि इस जगत् का कोई स्वामी अवश्य है—वह परब्रह्म परमेश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र संरक्षक, और कर्म फ़लप्रदाता है उसके आनन्द से ही संसार में सर्वत्र आनन्द का साम्राज्य छाया हुआ है। परमेश्वर की सत्ता को यथार्थ और तात्विक सत्य सिद्ध करने के लिये मुख्य प्रमाण प्रत्यक्ष का आश्रय लेते हुए **'अस्य'** पद का प्रयोग किया गया है अर्थात् सामीप्य बोधक **'इदम्'** शब्द से निर्भ्रान्ति ज्ञान कराया गया है। यही कारण है कि ऋषियों ने—**त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि** आदि प्रसिद्ध वचनों से परमेश्वर को निकटतम स्वीकार किया है। न केवल इदम् शब्द के द्वारा ही अपितु **'त्वम्'** पद के द्वारा भी साक्षात्कार करते हुए वेद में परब्रह्म परमेश्वर को अत्यन्त निकटस्थ भी कहा गया है यथा **'त्वं न अन्तम'** अर्थात् हे परमेश्वर तू हमारे अत्यन्त समीप है।

दूसरी बात मन्त्र में यह कही गई है कि परमेश्वर 'वाम' है—आनन्द स्वरूप है। परमेश्वर के व्यापक आनन्द के कारण ही जगत् में सर्वत्र आनन्द छाया हुआ है। प्रत्येक प्राणी चाहे वह कितनी ही निकृष्ट योनि में क्यों न हो निरन्तर आनन्द को प्राप्त करने में प्रयत्नशील पाया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषत् के ऋषि के शब्दों में कहा जा सकता हैं कि—सह्यवानन्दयाति—वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर ही सकल प्राणियों को जीवन का आनन्द प्रदान कर रहा है। क एवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्—कौन प्राणी प्रयत्न शील होता और कौन श्वास तक ले पाता यदि यह व्यापक परमेश्वर आनन्द स्वरूप न होता। ब्रह्मसूत्र प्रणेता महर्षि व्यास के सूत्रानुसार परमेश्वर को आनन्दघन मानना परमावश्यक है—आनन्दोमयो ह्यभ्यासात् अर्थात् बारम्बार चिन्तन और मनन करने से सिद्ध होता है कि परब्रह्मपरमेश्वर ही आनन्दस्वरूप है तथा उसी के आनन्द को उपलब्ध करने के लिए प्राणी मात्र सततम् प्रयत्नशील है।

तीसरी बात यह है कि संसार का पालन-पोषण करने वाला भी परमेश्वर ही है—यह बात मन्त्र के 'पलितस्य' पद के द्वारा व्यक्त की गई है।

चौथी बात 'होतुः' पद के द्वारा कही गई है। परमेश्वर 'होता' है अर्थात् जीवों के कर्मों का फल प्रदान करने वाला है। इस प्रकार परमेश्वर के विषय में उसके आवश्यक गुणों का नाम निर्देश करने के साथ दूसरे 'आत्म तत्व' का वर्णन किया गया है। मन्त्र कहता है कि—

तस्य भ्राता मध्यमः अश्नः अस्ति—उस परमेश्वर से अतिरिक्त जीवात्मा भी है जो प्रत्येक शरीर में पृथक् पृथक् स्वरूप से वर्तमान होकर रहता और अनेक प्रकार के भोगों का भोगने वाला है, परमेश्वर को 'होता' और जीवात्मा को 'अश्न' कह कर दोनों के वास्तविक भेद का दिग्दर्शन कराया गया है अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों का फल स्वतः प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वरूप से एकदेशी और सीमित है। वह अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता के कारण कर्म करने में तो स्वतन्त्र हैं परन्तु कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है, परमेश्वर 'होता' इसलिये है कि वह व्यापक और आनन्द-स्वरूप होने के कारण सर्वतः परिपूर्ण और सर्वज्ञ है और इसीलिये फल

प्रदान करने में सर्वथा समर्थ है।

'भ्राता' पद का अर्थ भाई नहीं है क्योंकि जिसका भाई होता है उसका पिता-माता भी कोई अवश्य होता है परन्तु परमेश्वर तो 'पलित' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का पालक पोषक है, इसीलिये उसका कोई माता पिता और भाई नहीं है। भ्राता का अर्थ है ग्रहणकर्ता। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार हृग्रहोर्भश्छन्दसि—वेद में हृ और ग्रह् धातु के 'ह' को 'भ' आदेश हो जाता है। जैसे हर्ता-भर्ता, अहरत्-अभरत् और गृह्णामि-गृभ्णामि, गर्भः। भाव यह है कि जीव आत्मा परमेश्वर के आनन्द और ज्ञान आदि गुणों का परमेश्वर से ग्रहण करने वाला होने से परमेश्वर का भ्राता है। यदि एकमात्र परमेश्वर ही परमेश्वर हो और उससे अतिरिक्त अन्य कोई चेतन तत्व न हो तो उसके आनन्द तथा ज्ञान आदि गुणों का लाभ कौन उठावे, और कौन अनुभव करके वर्णन करे कि परमेश्वर आनन्दमय और सर्वज्ञ है—यह भ्राता जीवात्मा ही है जो परमेश्वर के गुणों का ग्रहण करता और अपनी त्रुटियों को पूर्ण करता है।

अस्य तृतीयः भ्राता घृतपृष्ठः अस्ति—परमेश्वर और जीवात्मा से अतिरिक्त एक तीसरा अव्यक्त नामक तत्व और भी है जो क्षरण और संदीप्ति से भरपूर भोगों को धारण करने वाला है। यही वह तत्व है जिसके अन्दर अनेक प्रकार की भोग सामग्री विद्यमान है। इसी अव्यक्त तत्व को कोई प्रकृति और कोई माया आदि नामों से वर्णन करते हैं, सांख्य-शास्त्र में इसको 'प्रकृति' के नाम से स्मरण किया गया है और कहा गया है कि

'सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' अर्थात् सत्व, रजस् तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था वाले तत्व का नाम 'प्रकृति' है। कहा गया है कि इसी तत्व से पञ्च सूक्ष्म भूत शब्दस्पर्शादि तथा मन और अहंकार जैसे उपयोगी पदार्थों का आविर्भाव होता है। यह समझ लीजिये कि सकल ब्रह्माण्ड के सकल पदार्थों और अन्तःकरणों की जननी 'प्रकृति' माता है। महर्षि श्वेताश्वतर ने अपने वैदिक व्याख्यान में इसी तत्व को 'माया' के नाम से स्मरण किया है। उपनिषद् में कहा है कि—

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्याः अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

अर्थात् प्रकृति को ही 'माया' जानना चाहिये और 'माया' के स्वामी परमेश्वर को इसका अधिपति जानना चाहिये। इस प्रकृति-माया के अवयवों से यह सकल संसार भरा हुआ है।

यदि यह तीसरा तत्व अर्थात् भोग सामग्री से भरपूर 'प्रकृति' न होती तो यह सूर्य पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि किससे उत्पन्न होते और जीवात्माओं को भोग भोगने के उपकरण अन्त:करण कहाँ से प्राप्त होते ? तब न शरीर होता, न मन आदि अन्त:करण होता और न ही ईष्टानिष्ट स्वरूप सुखदु:ख की प्राप्ति ही होती।

अव्यक्त प्रकृति को परमेश्वर का भ्राता इसलिये कहा गया है कि यह तत्व भी जब तक परमेश्वर के कर्तृत्व और धारकत्व गुणों से लाभ नहीं उठाता तब तक न तो अपनी साम्यावस्था का ही त्याग कर सकता है और न ही अनेक प्रकार के भोगायतन शरीरों और भोगों के रूप में परिणित हो सकता है। ऐसा समझिये कि जैसे मृत्तिका को घटादि और कपास को वस्त्रादि रूप में परिणित होने के लिये कुम्हार और जुलाहे आदि निर्माण-कर्ता कलाकार की आवश्यकता है वैसे ही अव्यक्त प्रकृति को जगत् रूप विकृति बनने के लिये सर्वज्ञ जगत्कर्ता परमेश्वर की आवश्यकता है।

दर्शनशास्त्र के सभी प्रकरण और सभी समस्यायें इन ही तीन तत्वों में से किसी न किसी तत्व से साक्षात् सम्बन्ध रखती हैं अथवा परम्परा से चलती फिरती किसी न किसी तत्व के केन्द्र तक पहुँच जाती हैं। दर्शनशास्त्र का विषय इतना विशाल और व्यापक है कि संसार की सभी समस्याओं और उनके समाधानों का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। भारतीय दर्शन में इस विषय पर पुष्कल विचार किया गया है, हमारे षट् दर्शनों में दर्शनकार ऋषियों ने जितना भी ऊहापोह और तर्क वितर्कपूर्वक विचार विमर्श करके युक्तिप्रयोग किया है—उस सबका मूल प्रेरक "वेद" ही है, हम यहाँ प्रकरणशः थोड़ा सा दिग्दर्शन कराने का यत्न करते हैं।

ईश्वर सम्बन्धी विचार

ऋग्वेग के १०वें मण्डल का १२१ वाँ सूक्त परमेश्वर के विषय में बहुत आवश्यक प्रकाश डालता है। इसका नाम ही 'प्राजापत्य सूक्त' है। इसमें उन सभी शंकाओं का समाधान किया गया है जो जिज्ञासुओं के हृदय में

प्राय: उत्पन्न होती रहती हैं। अथवा जिनकी सम्भावना हो सकती है, सभी मन्त्रों के अन्तिम चरण में एक वाक्य की आवृत्ति हुई है—**कस्मै देवाय हविषा विधेम्** अर्थात् हम किस दिव्य शक्तिमान् की भक्तिभावना से पूजा करें। शेष तीन चरणों में युक्तिपूर्वक उत्तर दिया गया है कि सुखस्वरूप आनन्दघन परमेश्वर की भक्ति करें। याज्ञवल्क्य ऋषि ने **क वै प्रजापतिः** अर्थात् **कस्मै** का अर्थ प्रजापति परमेश्वर की पूजा करें—यह कहकर मन्त्रार्थ में चार चान्द लगा दिये हैं।

(१) पहिले मन्त्र में कहा गया है कि संसार की सभी प्रजाओं का कोई पति अवश्य होना चाहिये, वह जगत्पति **हिरण्यगर्भ** होना चाहिये क्योंकि सूर्यादि ज्योतिष्मान् लोकों कारक और उत्पादक यदि नहीं होगा तो इनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। नियम यह है कि उत्पादक कारण की सत्ता किसी भी उत्पन्न कार्य की उत्पत्ति से पूर्व ही होती है जैसे कुम्हार आदि कर्ता की सत्ता घटादि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व होती है। पिता की सत्ता पुत्रोत्पत्ति से पूर्व ही हीती है।

इस मुक्ति को—**हिरण्यगभः समवर्तत अग्रे** के द्वारा स्पष्ट किया गया है। न्याय ग्रन्थों में कारण का लक्षण करते हुए इसी लिए **नियतपूर्व वर्तित्वम्** और वैशेषिक में **कारणाभावात् कार्याभावः** इत्यादि वचनों का प्रयोग किया गया हैं।

(२) **भूतस्य जातः पति एक असीत्**—जगत के उपादान कारण का वह अवश्यमेव अकेला ही अधिपति था। यदि प्रकृति पर परमेश्वर का एकाधिपत्य न माना जावे तो जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जब तक उपादाक कारण पर चेतन कर्ता का एकाधिपत्य न हो तब तक घटादि को उत्पत्ति नहीं होती। जगत् की स्थिति को देख कर निश्चय होता है कि इस की उत्पत्ति से पूर्व इस के मूल कारण पर जगत्कर्ता चेतन परमात्मा का एकाधिपत्य अवश्य था।

(३) **सदाधार पृथवी द्याम् उत्त इमाम्**—उस परमेश्वर ने ही इस विशाल पृथिवी को और इस महान् द्युलोक के तारागण को धारण किया हुआ है। देखा जाता है कि हल्के से हल्का पदार्थ भी बिना किसी चेतन

धारक के आकाश में स्थित नहीं रह सकता परन्तु सूर्य चन्द्र नक्षत्र तारागण और इस पृथिवी जैसे अगणित भारी लोक समूह चिरकाल से आकाश में स्थित हो कर गति कर रहे हैं अतः इन भारी लोकपिंडों को आकाश में ठहराने वाला तथा गिर कर नष्ट हो जाने से बचाने वाला कोई महान् बलधारी परमेश्वर अवश्य है।

(४) दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि—**यः आत्मदा बलदा** अर्थात् परमेश्वर वह है जो शरीरों में जीवात्माओं का प्रवेश करा कर प्राणियों को जीवन दान देता है और संसार के पदार्थों में अनेक प्रकार की शक्ति भर रहा है। जीवात्मा अल्पज्ञ होने से अपने शरीर की रचना करने में सर्वथा असमर्थ है और पदार्थमात्र जड़ होने के कारण शक्ति संचार के विज्ञान से शून्य हैं अतः आत्मदा और बलदा कोई परमेश्वर अवश्य है ।

(५) **यस्यविश्व उपासते**—जिस की सकल संसार उपासना करता है वह परमेश्वर है। संसार के किसी भी कोने में चले जाइये—किसी न किसी रूप में अलौकिक चेतन तत्व का विचार अवश्य पाया जाता है यहाँ तक कि जंगली और हबशी लोग भी किसी न किसी लोकोत्तर शक्ति पर विश्वास रखते हैं। यदि कोई परमेश्वर न होता तो संसार में इतना व्यापक और गम्भीर विश्वास न पाया जाता। परन्तु पाया जाता है अतः कोई विश्वासभाजन परमेश्वर अवश्य है।

(६) **प्रशिष्यं यस्य देवाः**—दिव्य से दिव्य शक्ति वाले पदार्थ भी जिसके कठोर शासन में बंधे हुए हैं, वह परमेश्वर है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि अपनी-अपनी परिधि में परिभ्रमण कर रहे हैं- एक क्षण के लिए भी अपने नियमों का उल्लंघन नहीं करते। नदी समुद्र पर्वत आदि भी कठोर शासन में बंधे हैं और अपने २ स्वभावों के विरुद्ध नहीं चलते। आंख नाक कान आदि इन्द्रियें भी कार्यों से अतिरिक्त दूसरे इन्द्रिय के कार्य नहीं कर सकते। हृदय उदर और मस्तिष्क आदि अंग भी नियमों में बंधे हुए हैं और मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। अतः कठोर शासन का शासक तथा अटूट नियमों का नियन्ता कोई परमेश्वर अवश्य है।

(७) **यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्यु**:—जिस के नियम से अमृतं

अर्थात् जीवन और मृत्यु कार्य कर रहे हैं, वह परमेश्वर है, संसार में ऐसा कौन है जिसका जन्म न हुआ हो और ऐसा कौन है जिसकी मृत्यु न होती हो—अर्थात् कोई भी इस व्यवस्था से बचा हुआ नहीं है। ये जन्म और मृत्यु किसी भी प्राणी के वश में नहीं हैं। जिस नियन्ता के वश में यह जीवन-मृत्यु का चक्र चल रहा है, वही परमेश्वर है।

(८) तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि—**यः प्राणतो निमिषतो महित्वा एक इत् राजा जगतः बभूव**—अर्थात् परमेश्वर वह है जिसने अपने अनन्त सामर्थ्य से सकल संसार के प्राणधारियों और जड़ पदार्थों पर पूर्ण एकाधिपत्य स्थापित किया हुआ है।

प्राणधारियों में प्राणधारण प्रक्रिया प्राणधारियों की अपनी व्यवस्थानुसार नहीं है और जड़ पदार्थों में अनेक प्रकार की परिणमनप्रक्रिया भी जड़ पदार्थों की अपनी नहीं है किन्तु इन दोनों पर किसी महिमामहान् परमेश्वर का साम्राज्य छाया हुआ है।

(९) **य ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः**—परमेश्वर वह है जो अपनी सर्वज्ञता से दो पैर वाले और चार पैर वाले प्राणियों पर शासन कर रहा है। जीवों को अनेक प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है यह भ्रमण, जीवात्मा के अल्पज्ञ, अल्पशक्ति होने के कारण उस के सामर्थ्य से बाहिर है। अतः कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान अवश्य है जिस की व्यवस्था के आधीन जीवात्माओं को विवश होकर कभी मनुष्य और कभी पशुपक्षी आदि योनियों में भ्रमण करना पड़ता है।

(१०) चौथे मन्त्र में कहा गया है कि—**यस्य इमे हिमवन्तः महित्वा समुद्रं यस्य रसया सह आहु**—बड़े-बड़े विचारशील विद्वानों को स्वीकार करना पड़ता है कि महान् उच्च शिखर वाले पर्वतों से नदियों को प्रवाहित करना और उन को समुद्र में गिराना तथा पुनः समुद्र जल का भाप बना कर उड़ाना और मेघ द्वारा वर्षा कर्म सम्पादन करना तथा पर्वतों पर हिम पात करना—इतना महान् वैज्ञानिक कार्य है जिसे कोई अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति वाला ही कर सकता है—मन्त्र कहता है वह परमेश्वर ही है।

(११) **यस्य इमा प्रदिशः**—ये पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और ऊपर

नीचे तथा अवान्तर दिशायें और इन में स्थित पदार्थों के अस्तित्व को देख कर अनुभव होता है कि इस विभाग का निर्देश करने वाला यथार्थ विभाजक और निर्देशक अवश्य ही कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है ।

(१२) **यस्य बाहू**—गरमी सरदी, सुख दुःख, बन्ध मोक्ष, धूप छाया, भावाभाव, सिद्धि प्रसिद्धि आदि अनेक प्रकार के द्वन्द्वों से संसार भरा पड़ा है । इस महान् द्वन्द्व समूह को परस्पर सम्बद्ध करके सृष्टि में वैचित्र्य उत्पन्न करने वाला अनन्त ज्ञान और अनन्त सामर्थ्य वाला कोई परमेश्वर अवश्य है ।

(१३) पाँचवें मन्त्र में कहा गया है—**येनद्यौः उग्रा पृथिवी चदृढ़ा**—अर्थात् जिसने परमाणुओं का पिण्डीकरण करके पृथिवी जैसे सुदृढ़ ठोस और भारी लोक बनाये तथा जिसने बिना चमक के निस्तेज परमाणुओं का पिण्डीकरण करके प्रकाशमान सूर्य आदि ज्योतिष्मान तारों से भरा द्युलोक बना दिया—वह परमेश्वर ही प्रजापति परमेश्वर है ।

(१४) **येन स्वः स्तभितमः**—जिसने संसार के प्रत्येक पदार्थ में सुख को सन्निविष्ट करके संसार को सुखधाम बना रखा है—वह आनन्दमय परमेश्वर ही है ।

(१५) **येन नाकः**—जो विचारशील प्रत्येक विद्वान् के हृदय में मुक्ति के आनन्द की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करता है जो मुक्ति की व्यवस्था का एकमात्र व्यवस्थापन है—वह नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त स्वभाव परमेश्वर अवश्य है ।

(१६) **यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः**–जिसने विशाल अन्तरिक्ष में बड़े-बड़े लोक लोकान्तरों को विशेष-विशेष परिमाण वाले बना कर विशेष-विशेष दूरी पर स्थित किया हुआ है तथा उन विशेषविशेष नियमों से गति दे रहा है - वह परमेश्वर ही है ।

(१७) छटे मन्त्र में कहा गया है—**यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने**—येद्यावापृथ्वी जिसकी शक्ति से नियमबद्ध होकर भयभीत हुए कातर दृष्टि से उसे देख रहे हैं, वह परमेश्वर ही है ।

(१८) **यत्राधि सूर उदितो विभाति**—जिसका प्रबल प्रताप और महान् आश्रय प्राप्त करके सूर्य उदय होता और विशेष प्रकाश से प्रकाशित होता

है, वह परमेश्वर ही है।

(१६) सातवें मन्त्र में कहा गया है— आपोह यत् वृहतीः विश्वमायन् गर्भं दधानाः जनयन्तीः अग्निम्— सर्वत्र फैली हुई परमाणु पुञ्ज प्रकृति ने आदि में जिसकी शक्ति को प्राप्त करके सृष्टि निर्माण के गर्भ को धारण किया और कालान्तर में अग्नि स्वरूप ज्योतिष्मान् सूर्य जैसे महान् पिण्ड को उत्पन्न किया—वह परमेश्वर ही है।

(२०) ततो देवानां समवर्तत असुः एकः—उसके पश्चात् उस एकमात्र परमेश्वर ने सभी दिव्य लोकों को संजीवनी शक्ति से भरपूर कर दिया। उस शक्ति के कारण ही आज तक ये लोक लोकान्तर शक्ति सम्पन्न हो रहे हैं।

अगले दो मन्त्रों में भी इन्हीं युक्तियों का विशेष प्रकार से वर्णन किया गया है। वेद की प्रेरणाओं का निरन्तर मनन करने के अनन्तर ऋषि मुनि जनों ने दर्शन शास्त्रों में अपने भावों को प्रभावशाली शब्दों में स्पष्ट किया है। यथा—

गौतम—ईश्वरः कारणं पुरुष कर्मांफल्य दर्शनात्।

कणाद—विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा। ७।१।२२

कपिल—ईहशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। ३।५६
समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता।

पतंजलिः—क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
१—२४

तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्। १—२५
स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। १—२३

उदयनाचार्य— कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।

जैमिनी—हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिंगात्। १-३-१३

२ ३ ४
व्यास—जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात्।

१२ २२
आनन्दमयोऽभ्यासात्। आकाशस्तल्लिंगात्। १—१

"जीवात्म सम्बन्धी विचार"

(१) जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।

ऋ. १—१६४—३०

जीवात्मा—अमर्त्य अविनाशी नित्य तत्व है । इसका शरीर से जब सम्बन्ध होता है तब जन्म और जब शरीर से वियोग होता है तब मृत्यु कहाता है । मृत्यु के समय जीव अपनी धारणाओं शक्तियों और वासनाओं को अपने साथ लेकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है ।

(२) अपाङ् प्राङ् ेति स्वधया गृभीतः—ऋ.१-१६४-३८ यह आत्मा अपनी शक्तियों को लेकर निकृष्ट योनियों में भी जाताहै और उत्कृष्ट योनियों में भी जाता है ।

(३) न विजानामि यदिवेदमस्मि—ऋ १-१६४-३७ जीवात्मा अल्पज्ञ है और अनुभव करता है कि मैं अपने यथार्थ स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं जानता हूँ । **निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि**—मैं शरीर के अन्दर छिपा हुआ हूँ और अनेक प्रकार के भयंकर बन्धनों से बंधा हुआ हूँ तथापि अपने सब कार्य मन के द्वारा सम्पन्न करता हूँ ।

बतलाया गया है कि जीवात्मा शरीर नहीं है किन्तु शरीर के बन्धन में सन्नद्ध एक बन्दी है । जीवात्मा के सभी कार्य मन के माध्यम से सम्पन्न होते हैं—वह मन से पृथक् है परन्तु मन का संचालक है ।

(४) तव शरीरं पतयिष्णु अर्वन्—हे जीवात्मन तू तो अर्वा है अर्थात् अत्यन्त बलशाली घोड़े के समान रथ को गति देने वाला ज्ञान प्रयत्न वाला आत्मा है । तू शरीर नहीं किन्तु तू शरीर का स्वामी है । शरीर पतन शील—परिवर्तनशील है और मृत्यु का ग्रास होने वाला है परन्तु तू अजर-अमर तत्व है जिसका कभी पतन वा विनाश नहीं होता ।

तव चित्तं वात इव ध्रजीयान्—तेरा चित्त, वायु के समान महान् बलवान हैं । तू चित्त भी नहीं है किन्तु अपने चित्त को बलवान बनाने वाला है । तेरी शक्ति से ही चित्त में अनेक शक्तियों का संचार हो रहा है ।

तव शृंगानि जर्भुराणाः चरन्ति—तू इन्द्रियें भी नहीं है किन्तु इनसे

पृथक् चेतन तत्त्व है। तेरी इन्द्रियें विषय भोगों की ओर भागी-भागी फिरती हैं। इन्द्रियों में विषयग्रहण की शक्ति तेरे कारण ही उत्पन्न होती है तू तो इन्द्रियों का स्वामी है।

इत्यादिमन्त्रों से जहाँ जीवात्मा के अस्तित्व और उसके नित्य अविनाशी तत्व होने तथा अल्पज्ञ, बद्ध और शरीर-इन्द्रिय-मन से अतिरिक्त होने का वर्णन है वहाँ उसके स्वरूप और परिमाण का भी वर्णन किया गया है। कई स्थानों पर तो स्पष्ट शब्दों में जीव को अणु परिमाण वाला कहा है। यथा— **बालादेक मणीयस्कम् ऋ १०-८-२५** अर्थात जीवात्मा एक ऐसा तत्त्व है जोकि बाल के अग्रभाग से भी सहस्रशः सूक्ष्म अणु परिमाण वाला है। ऋग्वेद में तो स्पष्ट शब्दों में आत्मा के स्थान तक का संकेत कर दिया गया है यथा—**बृहस्पतिः मे आत्मा नृमणा नाम हृद्यः— १६-३-५**। अर्थात् आत्मा बड़े से बड़े इन्द्रियों का भी पालक, शक्ति दायक और कार्य में प्रवृत्त करने वाला है। वही स्फूर्तिमान् मन स्तत्त्व का संचालक है और उस आत्मा के निवास का स्थान हृदय है।

दर्शनों में भी गौतम आदि वैदिक मुनिजनों ने मन्त्रों पर विचार करके इस विषय पर सुन्दर प्रकाश डाला है यथा—

गौतम—दर्शन स्पर्शनाभ्या मेकार्थग्रहणात्।
पूर्वाभ्यस्यस्मृत्युनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोक सम्प्रतिपत्तेः।
इच्छा द्वेष सुखदुःख ज्ञानानि आत्मनो लिंगम्।
इन्द्रियान्तर विकतरात्।

कणाद—इन्द्रियार्थत्रसिद्धि रिन्द्रियार्थेभ्यो अर्थात्तारस्य हेतुः।
व्यवस्थातो नाना।

कपिल—अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात्।
शरीरादिव्यतिरिक्त : पुमान्।
सहंतपरार्थत्वात्। षष्ठीव्ययदेशादपि।

पतंजलि—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

व्यास—ज्ञोऽतएव । नाणुरतच्छ्रु तेतिचेन्नेतराधिकारात् ।
कामाच्च नानुमानापेक्षा ।

'प्रकृति सम्बन्धी विचार'

जगत् के उपादान कारण प्रकृति के विषय में कहा गया है कि **इयं विसृष्टिः यत अबभूव**—यह अनेक प्रकार की विचित्र सृष्टि जिस अपादान से प्रादुर्भूत हुई है ।

संपतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देव एकः—एक महान् शक्तिशाली परमेश्वर ने इस द्युलोक और पृथिवी लोक को पतत्रों अर्थात् सूक्ष्म परमाणुओं के अनेक विधि संयोग से उत्पन्न किया ।

तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे—सृष्टि के आदि में तम अर्थात् महान् अंधकार से आच्छन्न अव्यक्त प्रकृति तत्व विद्यमान था ।

आभु अपिहितं यदासीत्—वह जो आभु अर्थात सृष्टि का उपादान कारण पहिले वर्तमान था । **तपसा तन्महिना जाय एकम्**—परश्मेवर के अनन्त सामर्थ्य और अनन्त ज्ञान से परमाणुओं के संघीभूत होकर एक पिण्डाकार हो गया ।

इस प्रकार तीसरे प्रकृति रूप जड़तत्व का निरुपण करके वेद ने त्रैतवाद का सिद्धान्त उपस्थित किया और कहा है कि

त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते
सम्वत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिः
ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ।। ऋ.

अर्थात् संसार में तीन सत्तायें अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखतीं हैं और अपने-अपने कार्य में विशेष महत्व रखती हैं । संसार का मूल उपादान कारण प्रकृति नामक एक तत्व है जिससे संसार की उत्पत्ति होती है । दूसरा तत्व जीवात्मा नामक है जो इस जगत को अपनी इन्द्रियों से अनुभव करके भोग भोगता है । तीसरा तत्त्व परमेश्वर नामक है जिसकी कलापूर्ण कृति और अनेक विध गति तो जगत् में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है परन्तु उसका रूप और

आकार दृष्टिगोचर नहीं हो सकता ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति ।। ऋ.

प्रकृति रूप एक वृक्ष पर दो चेतन तत्त्व विराजमान हैं—वे दोनों एक दूसरे से अत्यन्त समीप हैं परस्पर मिले हुए हैं। ये जीव और ईश्वर हैं। इन दोनों में से एक अर्थात् जीवात्मा इस प्रकृति के संसार के फलों भोगों को स्वाद लेकर भोग आसक्त होता हुआ भोगता है और अनेक प्रकार के जन्म मरण के चक्र पर भ्रमण करता है और दूसरा परमेश्वर है जो कुछ भी न भोगता हुआ जीव और जगत् के कार्यों पर दृष्टि मात्र रखता और सब प्रकार की व्यवस्था करता है।

द्वौ, सुपर्णौ, सयुजौ सखायौ—इस चतुर्विध विशेषण देने से मन्त्र का अभिप्राय सब प्रकार के अभेदवाद या अद्वैतवाद—शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत-वाद, द्वैताद्वैतवाद और अद्वैतवाद आदि वादविवादों का प्रतिकार करके त्रैतवाद के महत्त्व को समझाने से है। वेद के इस त्रैतवाद का वर्णन जहाँ ऋग्वेद के प्रथम मंडल के समस्त १६४ वें सूक्त तथा १० मंडल के १२९ वें सूक्त में है वहाँ श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों और न्याय वेदान्तादि दर्शन ग्रन्थों में भी बड़े समारोह से व्याख्यान किया गया है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशेत्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्म विदो विदुः ।।

अथर्व. १०-२-३२

उस चमकते हुए कोश में, जिसमें तीन अरे लगे हैं, और जिसके तीन आधार हैं, उसमें जो पूज्य प्रभु जीवात्मा से युक्त है उसे ही ब्रह्मवेत्ता लोग जानने की इच्छा किया करते हैं।



वेद द्वारा निर्दिष्ट समाज व्यवस्था

—रामचन्द्र एम. ए

संसार आज ऐसी समाज-व्यवस्था की खोज में है जिसमें उसे शांति मिल सके। गरीबी-अमीरी का संघर्ष न हो और सभी समान-भाव से उन्नति करते हुए आनन्द मय जीवन बिता सकें।

वस्तुतः "वैदिक समाज-व्यवस्था" ऐसी ही सुन्दर व्यवस्था है जिसके द्वारा हम सब भाँति सुखी-सम्पन्न और कल्याणकारी मार्ग पर बढ़ सकते हैं।

अशांति और युद्ध के वातावरण में, क्या संसार के भाग्य विधाता "वैदिक समाज व्यवस्था" की उपयोगिता को समझने और उस पर संसार को चलाने का प्रयास कर सकेंगे ? —सम्पादक

समाज की उन्नति का मार्ग

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः
प्रवतः समंबहु,
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः
प्रथतां राध्यतां नः ।

अथर्व० १२-१-२

(यस्याः) जिस हमारी भूमि के (मानवानां मध्यतः) मनुष्यों के बीच में (अ-संबाधं) अद्वेष अर्थात् झगड़ा, आपस की लड़ाई नहीं है और जिस हमारे देश के (उद्वतः) आध्यात्मिक उन्नति करने वाले तथा प्रवतः ऐहिक, उन्नति करने वाले सब लोकों में (बहु सम) बहुत समानता है, और जो हमारी भूमि नाना प्रकार के गुण-धर्म वाली औषधियों का धारण करती है, वह हमारी भूमि (नः प्रथतां) हम सब की प्रसिद्धि (राध्यतां) सिद्ध करे ।

उन्नति के लिए सब लोकों में 'असंबाध' अर्थात् अद्वेष चाहिए। किसी भी प्रकार का झगड़ा नहीं होना चाहिए। परस्पर विचार-विषमता के कारण झगड़े उत्पन्न होते हैं। जन्म से एक उच्च और दूसरा नीच है, इस प्रकार का विषमता का क्षुद्र-भाव जहां होगा वहां अवश्य झगड़ा रहेगा। समता से झगड़े मिट जाते हैं। विषमता से उत्पन्न होते हैं। ●

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, अरण्यकों, उपनिषदों और वेदांगों के अध्ययन से हमें भारतीय संस्कृति के मूलतत्वों और सार्वभौम स्वरूप का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। वैदिक जीवन के मन्तव्य, वेदकालीन सामाजिक, आध्यात्मिक आदि दशाओं से भली भाँति स्पष्ट होते हैं। ये मन्तव्य लौकिक पारलौकिक दोनों दृष्टियों से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय संस्कृति में वैदिक जीवन के मुख्य ९ मन्तव्य हैं—

१. वैदिक त्रित्ववाद। २. वैदिक आर्षग्रन्थ। ३. बन्धन और मोक्ष। ४. आवागमन की व्याख्या। ५. वर्ण एवं आश्रम धर्म। ६. वैदिक संस्कार। ७. यज्ञ-विधान। ८. कर्म की व्युत्पत्ति। ९. भक्ष्याभक्ष्य निर्णय।

वैदिक त्रित्ववाद का अर्थ ईश्वर, जीव और प्रकृति से है। वेद में इनको नित्य कहा गया है और ये ही जगत् के उपादान कारण बताए गए हैं। ऋग्वेद के प्रथम अध्याय— १६४ वें मण्डल के २० वें सूक्त में इन तीनों पदार्थों का विभाजन करते हुए वृक्षरूप-प्रकृति को भोग्य, जीव को भोक्ता तथा ईश्वर को साक्षी और फलदाता कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि की व्युत्पत्ति की एक वैज्ञानिक विवेचना हमें ऋग्वेद में उपलब्ध है, जो आर्यों की विवेक-बुद्धि की परिचायिका है।

वैदिक धर्म की आधार शिला "वेद" है। ईश्वर प्रणीत अथवा 'अपौरुषेय' हैं। वेद ज्ञान की प्रथम पुस्तक हैं यह तथ्य तो निर्विवाद है। "वेद" सार्वभौम हैं। उनमें मतमतान्तर का उल्लेख नहीं है। वेद से भिन्न उपवेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग,

ब्राह्मण ग्रन्थ, अरण्यक, प्रातिशाख्य और उपनिषद् आदि सभी आर्ष ग्रन्थों की कोटि में आते हैं और ऋषिप्रणीत होने के कारण से भी मान्य हैं। वैदिक लोकजीवन के धार्मिक पक्ष में इन ग्रन्थों का बड़ा महत्त्व है। सारा वैदिक धर्म इन ग्रन्थों पर ही आश्रित है। इन ग्रन्थों में मूल रूप से दो शिक्षाएँ मिलती हैं—प्रथम है आत्मोन्नति। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ किस प्रकार उन्नत हों एवं अन्त में मनुष्य किस प्रकार बन्धन मुक्त हो सकता है—आदि निर्देश हमें इन ग्रन्थों में मिलते हैं। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है—

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततोभूय इवते तमो य उ विद्यायार्थंरताः। यजु०। ४०। ९।

अर्थात् जो कर्म का, ज्ञान की उपेक्षा करके सेवन करते हैं वे गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो कर्म की उपेक्षा करके, केवल ज्ञान में रमते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

वैदिक लोक जीवन की दूसरी मुख्य शिक्षा है प्रेममय सामूहिक जीवन अर्थात् प्रत्येक मनुष्य सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझे। ऋग्वेद का दसवाँ तथा अथर्ववेद का तीसरा अध्याय इस प्रकार की शिक्षाओं से भरा पड़ा है। उदाहरण के लिए कठोपनिषद् का प्रथम मन्त्र विलक्षण प्रेम का सूचक है। यथाः—

'ओ३म् सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तुमाविद्विषावहै'।

इन दो मन्तव्यों के बाद 'बन्धन और मोक्ष' का स्थान आता है। दुःखों से ग्रस्त परतन्त्रता को 'बन्धन' तथा तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्ति को 'मोक्ष' कहा गया है। वैदिक लोक जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति रहा है। ईश्वरोपासना, योगाम्यास, धर्मानुष्ठान, विद्याप्राप्ति, ब्रह्मचर्य का पालन तथा सत्संग आदि मुक्ति के लिए साधन बताये गये हैं। इस प्रकार इस तीसरे मन्तव्य में जीवन के लक्ष्य की ओर ध्यान दिलाया गया है जिससे वैदिक जीवन की सदाचारिता अपने आप प्रकट होती है।

अन्य धर्मों की भाँति वेदकालीन जीवन में भी आवागमन के प्रश्न पर

अत्यधिक विचार किया गया था। भारत से बाहर के धर्म आवागमन के विषय का ज्ञान भी नहीं रखते परन्तु वैदिक जीवन में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'आवागमन' का अर्थ है एक शरीर को छोड़कर दूसरे में जन्म लेना। प्रश्न होता है संसार में कोई दुःखी, कोई सुखी क्यों है ? अन्धे, लंगड़े तथा भिन्न स्थिति वाले मनुष्य क्या संसार में अकारण ही दिखाई देते हैं अथवा ईश्वर ने इन्हें अपनी ओर से ही ऐसा बना दिया है ? वेदकालीन युग के ग्रन्थ इन्हें सकारण बताते हैं। जीवों की विभिन्न स्थितियाँ अपने कर्म हैं और इसी 'आवागमन' के द्वारा मनुष्य अपने पूर्व जन्म का फल प्रचलित स्थिति के रूप में पाया करते हैं और स्वकर्म द्वारा भावी जीवन की रचना करते हैं।

वैदिक लोक-जीवन की पाँचवी विशेषता है 'आश्रम तथा वर्णधर्म'। आश्रमों तथा वर्णों का विभाजन लोक जीवन को पूर्ण सफल बनाने के लिए ही किया गया था। छठवें मन्तव्य के अन्तर्गत संस्कारों का उल्लेख किया जा सकता है। वैदिक लोक-जीवन में मनुष्य के सारे जीवन को १६ संस्कारों में विभाजित कर दिया गया था। इनका लक्ष्य था मन, शरीर और आत्मा को श्रेष्ठ बनाना। वैदिक जीवन में 'यज्ञों' का अत्यधिक महत्त्व रहा है। यज्ञ दो प्रकार के बताए गए हैं—नित्य और नैमित्तिक। नित्य यज्ञों में—ब्रह्मयज्ञ (संध्या), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव तथा अतिथि यज्ञ—ये पाँच आते हैं। वैदिक लोक जीवन के सामाजिक पक्ष में प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए इन यज्ञों का विधान था। नैमित्तिक यज्ञ समय समय पर ऋतुपरिवर्तन तथा अन्य मुख्य अवसरों पर जलवायु की शुद्धि आदि के लिए किये जाते थे।

वैदिक जीवन कर्मों पर अधिक जोर देता है। बाद को गीता में तो इसी को जीवन का मुख्य अंग बताया गया है। गीताकार का यह उपदेश "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" वैदिक लोक जीवन में बहुत पहले से व्याप्त था। वैदिक आर्ष ग्रन्थ सदैव कर्म करने की आज्ञा देते हैं। कर्मों के फलों की आशा पर ध्यान न देना चाहिए। सुन्दर कर्म ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

अन्त में 'भक्ष्याभक्ष्य' का निर्णय भी आवश्यक है। वैदिक जीवन का सदैव आदर्श रहा है 'तम' से दूर रहना, 'रज' को नियमित रखना और 'सत्व' की वृद्धि करना। अतः तमोगुण की वृद्धि करने वाले सभी पदार्थ अभक्ष्य

बताए गए हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक लोक जीवन अत्यन्त व्यवस्थित एवं सुचारु था । जीवन का लक्ष्य सामूहिक उन्नति थी । समस्त जीवन में तीन कर्तव्यों पर जोर दिया जाता था; हमें अपने साथ क्या करना है, ईश्वर के साथ क्या करना है और हमें दूसरों के साथ क्या करना चाहिए । वास्तव में यदि इन तीनों कर्तव्यों का ध्यान मनुष्य रखे तो किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न ही नहीं हो सकता । इसी से वैदिक लोक जीवन आस्तिक एवं शान्तिमय रहा है । वह आज के वस्तुवाद से बहुत दूर है ।

वैदिक लोक जीवन के आधार स्वरूप मन्तव्यों का संक्षिप्त अध्ययन कर लेने के पश्चात् संस्कारों, आश्रमों तथा चतुर्वर्णों का विशद ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वैदिक लोक जीवन की मुख्य भित्ति यही हैं । इन्हीं पर सारा सामाजिक जीवन ठहरा था ।

संस्कार

मानव जीवन के विकास के लिए मानसिक संकल्पों और विचारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । हमारे विचारों पर बहुत मात्रा में हमारी परिस्थितियाँ निर्भर रहती हैं । हमारे विचारों का हमारे कार्यों पर प्रभाव पड़ता है । अतः वैदिक लोक जीवन में संस्कारों पर अधिक महत्त्व दिया गया । जीवन के आरम्भिक काल से मृत्यु पर्यन्त संस्कारों द्वारा किसी व्यक्ति की उन्नति और मंगल की कामना की जाती थी और उसे अपने कुल, अवस्था, राष्ट्र और समाज के योग्य कर्तव्यों का ज्ञान कराया जाता था । संस्कारों का अत्यन्त महत्त्व होने के कारण ही वे उत्सव के रूप में मनाये जाते थे ।

१. गर्भाधान—श्रेष्ठ संतान की उत्पत्ति के लिए इस संस्कार का विधान ह । बच्चों के विकास का उत्तरदायित्व उनके माता पिता पर होता है; और बच्चों का जीवन गर्भ से आरम्भ होता है । ब्रह्मचर्यावस्था पूर्ण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है । संतानोत्पत्ति की कामना करने वाले दम्पत्ति वैदिक मन्त्रों द्वारा परमात्मा की स्तुति करते थे और गुरुजनों का आशीर्वाद ग्रहण करते थे । यद्यपि बाह्य रूप में इस संस्कार द्वारा माता पिता की ही शुद्धि होती है तथापि इसका पूर्ण प्रभाव गर्भ में आनेवाले

शिशु के मानसिक और शारीरिक विकास पर भी विशेष रूप से पड़ता है। गर्भाधान के समय का भी निर्देश आर्ष ग्रन्थों में किया गया है। मंत्रों द्वारा संकल्प करते समय दम्पत्ति सुन्दर संतति की कामना करते थे। वैदिक काल में जब देश में अन्न की कमी न थी तो संतान की कामना एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। संतानोत्पत्ति की क्रिया भी एक धार्मिक कृत्य के रूप में वैदिक लोक जीवन का एक अंग थी।

२. **पुंसवन**—अनेक लोगों का मत है कि पुत्र की कामना करनेवाले दम्पत्ति के लिए ही यह संस्कार अभीष्ट था। परन्तु यह मत उचित नहीं जान पड़ता। सत्य यह है कि गर्भाधान के प्रायः तीन मास बाद संतान के शरीर की रचना गर्भाशय में आरम्भ होती है। अतः उसकी रक्षा के निमित्त ही इस संस्कार का विधान था। इस समय अथर्ववेद में वर्णित पुत्रेष्टि मंत्रों के द्वारा हवन किया जाता था। इस समय पति, पत्नी पर फलों और मालाओं की वर्षा करता था, और पत्नी को हर प्रकार से सन्तुष्ट करने का प्रयास करता था। फल की वर्षा पत्नी के मनोरथ की प्रतीक थी। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी इस संस्कार का अधिक महत्त्व है। कारण इस समय दम्पत्ति प्रतिज्ञा करते हैं कि आज से वे कोई ऐसा कार्य न करेंगे जिससे गर्भ गिरने का भय हो।

३. **सीमन्तोन्नयन**—यह संस्कार गर्भधारण करने के चौथे मास किया जाता है। इस संस्कार द्वारा भी स्त्री को संतुष्ट रखने का प्रयास किया जाता था। इस अवसर पर पत्नी की छाया स्वच्छ जल में देखकर पति उससे प्रश्न करता था कि तुम क्या देख रही हो? तब पत्नी उत्तर देती थी कि मैं पुत्र पशु और पति का दीर्घ जीवन देख रही हूँ। ऐसे विचार गर्भ-स्थित संतान के शरीर वर्धन में सहायता करते थे। यह एक सामूहिक संस्कार था। पति, पत्नी का स्वयं अपने हाथों द्वारा शृंगार करता था। संगीत की मनोहर स्वर लहरी से उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा करता था और वयोवृद्ध गुरुजन स्त्री को 'वीरप्रसवा' होने का अशीर्वाद देते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक जीवन में संतानोत्पत्ति के पहले पहले तीन संस्कार केवल इसलिए किये जाते थे कि उनकी संतान ओजस्वी एवं प्रतिभाशाली हो। सुन्दर संतान की कामना

करनेवाले आर्य अवश्य ही स्वस्थ, प्रसन्न, सम्पन्न एवं दीर्घजीवी रहे होंगे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

४. जातकर्म—यह संस्कार संतान के जन्म लेने पर किया जाता है। वास्तव में मनुष्य जीवन से सीधे सम्पर्क रखनेवाला यह प्रथम संस्कार होता है। पिता शिशु को गोद में लेकर हवन करता था और कामना प्रकट करता था कि मैं पौरुषवान होऊँ, मेरी संतान कभी नष्ट न हो और मेरे पशु वृद्धि करते रहें। इसके पश्चात् पिता शिशु के कान में '**वेदोऽसि**' कहता था और '**मेधां त्वे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती...**' मंत्र पढ़ता था जिसका तात्पर्य होता था कि शिशु मेधावी तथा वेदज्ञ हो। तत्पश्चात् घृत और मधु मिलाकर स्वर्ण-शलाका से बालक की जिह्वा पर पिता 'ओऽम्' शब्द लिखता था। इसका आयुर्वेद की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि मधु और घृत क्रमशः कफ और पित्त के विकारों का नाश करते हैं और घृत तथा स्वर्ण मेधा को प्रेरणा प्रदान करते हैं। आर्यों की यह पद्धति संतानों के प्रति प्रेम का पूर्ण परिचायक है। रुग्ण और अकाल मृत्यु को प्राप्त होनेवाली संतान की बात भी सोचना उनके लिए एक आश्चर्य की बात प्रतीत होती है। तभी तो अपने प्रार्थना के मन्त्रों में वे '**जीवेम् शरदः शतम्**' की कामना करते थे।

५. नामकरण—जन्म से ११ वें या १०१ वें दिन इस संस्कार का विधान था। गुप्त नाम रखने की भी प्रथा थी और वह शायद जातकर्म के समय ही दम्पत्ति द्वारा रख लिया जाता था। परन्तु संस्कार द्वारा सन्तान को सम्बोधन का नाम प्रदान किया जाता था। नाम आज की भाँति निरर्थक नहीं होते थे; वे सुनने में प्रिय तथा सार्थक होते थे। माता पिता प्राय; विभिन्न देवताओं, ऋषियों अथवा पूर्वजों के नाम के अनुसार ही अपने शिशु का नामकरण करते थे जिसका अर्थ होता था कि वे संतान को उन्हीं आदर्शों के अनुरूप देखना चाहते हैं। उपनिषद् युग में प्रायः माता पिता के नाम पर ही नाम रखे जाते थे। यद्यपि केवल एक नाम रखने की ही प्रथा हमें सर्वत्र मिलती है यथापि आगे चलकर गुणों के आधार पर और भी नाम रख दिये जाते थे। नामों के पर्यायवाची शब्दों के आधार पर भी उपनाम आदि रखने की प्रथा का उल्लेख मिलता है। यह संस्कार भी सामूहिक रूप से किया

जाता था। हवन करने के पश्चात् उपस्थित विद्वानों द्वारा सुन्दर नामों की तालिका उपस्थित की जाती थी और माता पिता अपनी इच्छानुसार कोई नाम उसमें से रख लेते थे। उपस्थित जन-समूह बालक को हार्दिक आशीर्वाद देता था।

६. **निष्क्रमण**—जब शिशु चार मास का हो जाता था तो जन्म तिथि के दिन ही सन्तान को उद्यान में लाया जाता था। इसका तात्पर्य था शिशु को शुद्ध वायु का सेवन तथा सृष्टि के सौन्दर्य का अवलोकन कराना। अभी तक शिशु बाहर की धूप और वायु की प्रखरता सहने में असमर्थ होता है अतः इस संस्कार के पूर्व तक उसे गृह के भीतर ही शुद्ध वायु और प्रकाश में रक्खा जाता था। इस संस्कार द्वारा शिशु को प्रथम प्रथम सूर्य का दर्शन होता है और वह मनोरम प्रकृति का निरीक्षण कर पाता है। इसके पश्चात् यज्ञशाला में हवन किया जाता था जहाँ लोग बालक को सौ वर्ष तक जीवित रहने का आशीर्वाद देते थे।

७. **अन्नप्राशन**—जन्म से छठे अथवा आठवें महीने में जब बालक की शक्ति अन्न पचाने की हो जाती थी तब यह संस्कार किया जाता था। इस समय तक बालक के दाँत भी निकल आते हैं। भारत कृषि प्रधान देश तो आरम्भ से ही रहा है, अत; इस संस्कार द्वारा वेदकालीन आर्य अपनी संतति को अन्न देवता को सौंप देते थे। इस अवसर पर प्राय; खीर खिलाने का विधान था। इस समय भी हवन किया जाता था और लोग बालक को त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः' कहकर आशीर्वाद देते हैं। अर्थात् यह कामना की जाती थी कि हे बालक, तुम अन्न के स्वामी हो, तुममें अन्न ग्रहण करने की योग्यता है, तुम बढ़ो। इस संस्कार के बाद से प्रतिदिन भोजन की मात्रा धीरे-धीरे इस प्रकार बढ़ायी जाती थी कि सन्तान को सुपाच्य रहे। भोजन में घृत, मधु, दधि आदि विशेष रूप से होते थे।

८. **चूड़ाकर्म**—बालक के पहले और तीसरे वर्ष यह संस्कार प्रथम प्रथम केश काटने के निमित्त किया जाता था। अभी तक बालक का सिर बहुत कोमल होता है अतः जन्मजात बालों द्वारा ही उसकी रक्षा होती है। परन्तु इस संस्कार द्वारा प्रथम प्रथम संस्कार रूप में उसके बाल काटे जाते हैं। बाल

काटने के पूर्व शीतोष्ण जल एवं मक्खन द्वारा उसके सिर को मल कर केश को मुलायम किया जाता था, पुनः बाल संवार कर उसमें कुछ लगा देते थे और तब हवन के पश्चात् केश उतार दिये जाते थे ।

९. कर्णवेध—शिशु के जन्म से तीसरे अथवा पाचवें वर्ष यह संस्कार किया जाता था । यह संस्कार कई रोगों से बचने के निमित्त किया जाता था । आयुर्वेद की दृष्टि से इस संस्कार का अधिक महत्त्व है ।

१०. उपनयन—यह संस्कार जन्म से सातवें वर्ष बाद किया जाता था । उपनयन शब्द का अर्थ होता है गुरु के समीप ले जाना । इस संस्कार द्वारा जब बालक की योग्यता कुछ सीखने की हो जाती थी तो घर के वातावरण से दूर यज्ञोपवीत करके सन्तान को गुरु के आश्रम में पहुँचा दिया जाता था । अब तक माता पिता ही प्रायः बालक को साधारण प्रकार की मौखिक शिक्षा देते रहते थे । अध्ययन काल क्रमशः ब्राह्मण का आठवें, क्षत्रिय का ग्याहरवें और वैश्य का बारहवें वर्ष आरम्भ होता था । तेजस्वी बालकों का उपनयन इस अवस्था के पूर्व भी कर दिया जाता था । मनुस्मृति में उपनयन काल का वर्णन इस प्रकार है जो प्रायः वैदिक काल के ही आधार पर है—

ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।।

अर्थात् उत्तम तेज की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण पाँचवें, बल का इच्छुक क्षत्रिय छठे और धन का इच्छुक वैश्य आठवें वर्ष यज्ञोपवीत करे । यों तो उपनयन का कोई समय निर्धारित नहीं है तथापि प्रथा रूप में ब्राह्मण बालकों का वसन्त ऋतु में, क्षत्रियों का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्यों का शरद् ऋतु में यह संस्कार होता था । इस संस्कार के अवसर पर हवन के पश्चात् गुरुजन उस बालक के विद्यार्थी जीवन की सफलता के लिए कामना करते थे । इसके पश्चात् पिता स्वयं बालक को किसी योग्य गुरु के आश्रम में जाकर सौंप आता था । कभी कभी बालक स्वयं अपने गुरु की खोज में चले जाते थे । आचार्य उस बालक की हर प्रकार से परीक्षा लेता था । और यदि बालक परीक्षा में सफल उतरता था तो आचार्य उसका उपनयन करके अपने आश्रम में रख लेता था । इस समय विद्यार्थी कई प्रतिज्ञायें करता था; यथा—मैं केवल रात्रि में

शयन करूँगा, नित्य वेदों का अध्ययन करूँगा, नित्य समिधा लाकर हवन करूँगा, भिक्षा माँग कर अपनी जीविका चलाऊँगा इत्यादि।

११. वेदारम्भ—यह संस्कार उपनयन संस्कार के दिन या उससे एक वर्ष के भीतर गुरुकुल में वेदों के अध्ययन के लिए किया जाता है। इस दिन विद्यार्थी सांगोपांग वेदाध्ययन का व्रत लेता है। इसका आरम्भ गायत्री मन्त्र से होता है। आचार्य गायत्री की महिमा तथा उसके तात्पर्य को अच्छी प्रकार समझा देता था। गायत्री मन्त्र से विद्यार्थी अनन्त ज्ञान की कल्पना करता था। वह अपना सम्बन्ध अनन्त विश्व से लगाने लगता था। इस प्रकार वह विश्व के रचयिता की आराध्य शक्ति के सामने नतमस्तक होकर विचारमग्न हो जाता था, जिसका प्रभाव उसके समस्त जीवन के कार्यों पर पड़ता था।

१२. समावर्तन—इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति पर वेद-शास्त्र का अध्ययन कर लेने के उपरान्त ब्रह्मचारी गुरुकुल छोड़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। उपनयन काल से विद्याध्ययन का काल लगभग १२ वर्ष का होता था। आचार्य की आज्ञा लेकर घर जाते समय इस संस्कार के अवसर पर आचार्य शिष्य को उपदेश देता था। उसे सद्गृहस्थ बनने के सारे गुणों का ज्ञान कराता था। उस काल में स्नातकों का बहुत अधिक सम्मान था। राजा भी उनको देखकर नतमस्तक हो जाता था। गृहस्थ लोग घरों पर मधुपर्क द्वारा स्नातकों का स्वागत करते थे।

अध्ययन काल में विद्यार्थी का जीवन अत्यन्त कठोर होता था। उसकी जटाएँ और नख बढ़ जाते थे। समावर्तन के समय वैदिक विधि से हवन करने के अनन्तर वह सुगन्धित पवित्र जल से स्नान करता था। स्नान करते समय वह यश, तेज, ब्रह्मज्ञानादि की कामना करता था। तदनन्तर उसे स्नातक की उपाधि से विभूषित किया जाता था। स्नातक ब्रह्मचर्य के चिन्हों को त्याग कर पीत परिधान, माला पगड़ी आदि धारण करता था तथा अपने शरीर को चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से सजाता था। समावर्तन की इसी पद्धति का अनुकरण आज के विश्वविद्यालयों में कनवोकेशन (Convocation) के रूप में हमें दिखाई देता है। परन्तु उसका रूप अत्यन्त आदर्श स्वरूप होता था।

१३. विवाह—आश्रम से घर लौट आने पर यह संस्कार होता है। ब्रह्म-

चर्यावस्था के विभिन्न काल निर्धारित किये गए हैं। परन्तु विवाह के समय कम से कम २५ वर्ष की आयु का लड़का और १६ वर्ष की आयु की लड़की होनी चाहिए। जीवन में इस संस्कार का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी संस्कारों का केन्द्र यही है। अतः यह संस्कार सभी संस्कारों की अपेक्षा अधिक धूमधाम से मनाया जाता है। कन्या के घर पर ही यह संस्कार सम्पन्न होता है।

वर अपने गुरुजनों, के अभिभावकों आदि के साथ कन्या के घर जाता था जहाँ कन्या का पिता अर्ध्य-जल, रत्न, मधुपर्क आदि लेकर वर का स्वागत करता था। विवाह के लिए एक मनोरम वेदिका बनायी जाती थी। वेदिका पर अग्नि प्रज्वलित कर के हवन किया जाता था। उस समय कन्या का पिता कन्या को लाकर वर से उसे ग्रहण करने को कहता था। फिर वेद विहित मन्त्रों के अनुसार यह संस्कार सम्पन्न होता था।

वैदिक ग्रन्थों में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गन्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच जिनमें प्रथम चार अधिक प्रचलित और मान्य थे। उत्तर वैदिक काल के अन्त में गन्धर्व विवाह का भी काफी प्रचार हो गया था। ब्राह्म विवाह सबसे आदर्शमय था। इसमें कन्या का पिता किसी सुयोग्य वर को लाकर अपनी कन्या देता था। इसमें दोनों पक्षों के अभिभावक अपनी सन्तान की रुचि का ध्यान रखते हुए विवाह सम्पन्न करते थे। दैव विवाह के लिए वर कन्या के पिता के घर सुचारु रूप से यज्ञ सम्पन्न करता था और कन्या का पिता अपनी कन्या उसे दान कर देता था। आर्ष विवाह प्रायः वनवासी ऋषियों के लिए था। इसमें कन्या का पिता वर से गाय या बैल के जोड़े लेकर ऋषियों को देता था परन्तु यह शुल्क रूप में नहीं था। प्राजापत्य विवाह साधारण जनता में अधिक प्रचलित था। इसमें कन्या का पिता वर वधू को गृहस्थाश्रम की शिक्षा देता था और वर की पूजा करके उसे अपनी कन्या सौंप देता था। स्वयम्वर प्रथा गन्धर्व विवाह का एक रूप था, जिसमें कन्या और वर का निर्णय ही मुख्य था। शकुन्तला का विवाह दुष्यन्त से इसी रीति के अनुसार हुआ था। यथा शक्ति कन्या के पिता को धन देकर अथवा बलपूर्वक वधू को प्राप्त करने की रीति को आसुर पद्धति कहते थे। कभी कभी क्षत्रिय कुमार कन्याओं का हरण कर लाते थे और उसे

विवाह कर लेते थे। इसका समावेश राक्षस कोटि में है और सब से निम्नकोटि का विवाह था पैशाच, यह बलात्कार द्वारा सम्भव होता था।

वैदिक जीवन में विवाह दैवी विधान माना जाता था। वह आज के पश्चिमी देशों में प्रचलित अथवा आज की सभ्यता के अनुसार जीवन का साथी ढूंढने मात्र अथवा भोग विलास की दृष्टि से नहीं किया जाता था। विवाह संस्कार सर्वश्रेष्ठ संस्कार थाक्योंकि जीवनके समस्त संस्कार इसी में केन्द्रित हैं।

१४. वानप्रस्थ—इसका समय ५० वर्ष के उपरान्त था। जब गृह में पोता हो जाता था। उस समय गृहस्थी से मुक्त होने का प्रयास किया जाता था। इस संस्कार द्वारा स्त्री पुरुष गृहस्थी के कार्यों से तटस्थ रह कर वेदाध्ययन तथा योगाभ्यास करते थे।

१५. संन्यास—वानप्रस्थ आश्रम का समय भी २५ वर्ष का माना गया है। इस समय में मनुष्य इन्द्रियों को जीत लेता था और मोह शोक से दूर होकर परोपकार के लिए कटिबद्ध हो जाता था। तब वह ७५ वर्ष की अवस्था में संन्यास लेता था। संन्यास संस्कार का ध्येय परोपकार व्रत का ग्रहण है। शिखा सूत्र का त्याग कर समस्त कर्मकाण्डों से ऊपर रहकर वेद ज्ञान का प्रचार ही इसके बाद का ध्येय रह जाता था।

१६. अन्त्येष्टि—संन्यास आश्रम के कर्तव्यों का पालन करते हुए जब भी मनुष्य की मृत्यु हो जाए उस समय यह संस्कार किया जाता है। यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। चन्दन और घृत तथा समिधा के साथ वेद मंत्रों द्वारा शव को जला दिया जाता है।

इन संस्कारों में मनुष्य जीवन की सर्वांगीण उन्नति का विधान है। वैदिक लोक-जीवन में इसी से संस्कारों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आश्रम

प्राचीन काल में भारतवासी दीर्घजीवी होते थे। दैनिक ईश प्रार्थना में वे शतायु होने की कामना करते थे। अपने इस जीवन की अवधि को वेद-कालीन आर्यों ने चार आश्रमों में विभक्त कर रक्खा था। आश्रम शब्द का अर्थ है 'श्रम सहित'। नियमित श्रम द्वारा ही जीवन सुखी हो सकता है। अतः जीवन के किस भाग में किस प्रकार का श्रम वाञ्छनीय है इसकी विशद

व्याख्या हमें वैदिक ग्रन्थों द्वारा प्राप्त होती है। उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य कुल में ब्रह्मचारी प्रविष्ट होता था और २५ वर्ष की अवस्था तक सभी आश्रमों के लिए शिक्षा ग्रहण करता था। ब्रह्मचारी का अपने गृह से कोई सम्बन्ध न था, वह अपने भरण-पोषण के लिए प्रकृति और समाज का आश्रय लेता था। अतः अपने गृहस्थ-जीवन में प्रविष्ट होकर वह अपने इन्हीं ऋणों को चुकाने की व्यवस्था करता था और पौत्र होने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर गृहस्थाश्रम की विषय भोग की सारहीनता से अलग ऋषियों और तपस्वियों से वेद ज्ञान एवं तत्व ज्ञान सीखता था। पश्चात जीवन के चतुर्थ भाग में समस्त बन्धनों को त्याग कर समाज के कल्याण के लिए वह मार्ग निर्देशक का कार्य करता था अथवा मुक्ति साधना में लीन हो जाता था। ब्रह्मचर्याश्रम में जो यज्ञोपवीत वह धारण करता था उसका त्याग इस आश्रम में हो जाता था। कारण यज्ञोपवीत के तीन धागे जो व्यक्ति को देव ऋण, गुरु ऋण, पितृ ऋण की याद दिलाते रहते थे उनकी सर्वथा इति हो जाती थी। आश्रमों का यह सुन्दर विभाजन वैदिक लोक जीवन को अति सुचारु ढंग से सफलता की ओर ले जाता था।

१. **ब्रह्मचर्याश्रम**—जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष जीवन साधना के निमित्त थे—और यह समय वेदाध्ययन के लिए था। आरम्भ में तो इस आश्रम में वेदाध्ययन ही मुख्य था परन्तु धीरे-धीरे अध्ययन का क्षेत्र बढ़ता गया और विविध विषयों का अध्ययन किया जाने लगा। बालकों के अतिरिक्त बालिकाओं की छात्राशालाओं का भी उल्लेख हमें मिलता है। चतुर्वर्ण ज्ञान की पिपासा लिए विद्याध्ययन करते थे। किसी प्रकार की बाधा उनके मार्ग में न थी। कन्याएँ भी पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने में व्यस्त रहती थीं। अपाला, विश्वावरा, घोषा आदि शिक्षित कन्याओं का वर्णन भी आर्ष ग्रन्थों में मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें संगीत नृत्यादि ललित कलाओं का भी यथेष्ट ज्ञान कराया जाता था। शूद्रों की शिक्षा का पूर्ण उल्लेख हमें छान्दोग्योपनिषद् द्वारा प्राप्त होता है। जिज्ञासु विद्यार्थी अन्य वर्गों से भी आकर इन आर्य आश्रमों में शिक्षा ग्रहण करते थे।

वैसे तो वैदिक जीवन में सम्पूर्ण जीवन ही जिज्ञासु का था। आरम्भ में उपनयन संस्कार के पूर्व बालक माता पिता द्वारा साधारण कर्म एवं व्यवहार

की बात सीख लेता था। तदन्तर आचार्य कुल में नियमित रूप से रहकर वह सांगोपांग शिक्षा ग्रहण करता था। अध्ययनशालाएँ अथवा आचार्यकुल ग्रामों से दूर वन की निर्जन एवं शान्तिपूर्ण भूमि पर होते थे। इन आश्रमों में सहस्त्रों विद्यार्थी एक परिवार की भाँति रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। वेद-कालीन अनेक ऐसे आश्रमों का उल्लेख हमें संस्कृत साहित्य द्वारा मिलता है। प्रयाग में भारद्वाज का आश्रम अत्यन्त प्रसिद्ध था। तक्षशिला अत्यन्त प्राचीन काल से शिक्षा केन्द्र रहा है। यहीं पर उपमन्यु और आरुणि ने वेद शिक्षा ग्रहण की थी। नैमिष आश्रम के कुलपति शौनक थे। कुरुक्षेत्र के निकट स्त्रियों को उच्च शिक्षा दी जाती थी। काशी और उज्जैन भी तक्षशिला की भाँति विद्यापीठों के केन्द्र थे। रामायण, महाभारत काल तथा उसके अनन्तर भी जिन आश्रमों का उल्लेख हमें मिलता है वे सभी वैदिक परम्पराओं पर ही आधारित थे और वे वेदकालीन आश्रमों के ही प्रतिरूप थे अतः उनके वर्णन से वैदिक आचार्य कुलों की महत्ता अपने आप ज्ञात हो जाती है।

वैदिक शिक्षा का लक्ष्य था जीवन के समस्त अंगों की पूर्ति। यद्यपि आध्यात्मिक उन्नति ही शिक्षा का मुख्य ध्येय रहा है तथापि शारीरिक और मानसिक विकास पर भी उचित ध्यान दिया जाता था। साधारण सामाजिक जीवन की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। इसके अतिरिक्त चारों वर्ण अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने अध्ययन के विषयों का निर्वाचन कर लेते थे। वेदों के अध्ययन के साथ ही शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष का भी अध्ययन कराया जाता था। छन्दोग्योपनिषद् में शिक्षा के कुछ विषयों का उल्लेख मिलता है। वेदों के अतिरिक्त व्याकरण, गणित, एकायन (नीति), देव विद्या, ब्रह्मविद्या, नक्षत्र विद्या, देवजन विद्या (शिल्प कलाएँ) इत्यादि का भी विधान था। वैदिक काल में नित्य वेद-पाठ शिक्षा का आवश्यक अंग था और अध्ययन आरम्भ करने तथा अन्त करने आदि सभी के नियम और समय नियत थे। आचार्य अपने शिष्यों को प्रेमपूर्वक अपना ही पुत्र समझ कर शिक्षा देते थे। उदाहरणों द्वारा गूढ़ से गूढ़ तत्वों का बोध कराया जाता था। उपनिषद् के उदाहरण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

मनुस्मृति में शिष्य के आचरणों की विषद तालिका दी गई है। शिष्य

पूर्ण रूप से संयमशील होता था और इन्द्रियों के सुख का ध्यान नहीं रखता था। वह सब प्रकार के मैथुन तथा श्रृङ्गार से दूर रहता था। वह नृत्य, गीत सभी से अलग रहता था और पुस्तकों के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का संचय पाप समझता था। आचार्य कुलों में शुल्क की कोई व्यवस्था न थी। विद्यार्थी विनयपूर्वक गुणवान गृहस्थों के घरों से नित्य भिक्षा मांग कर लाते थे और अपना तथा अपने गुरु का कार्य चलाते थे।

२. **गृहस्थाश्रम**—ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर विवाह कर लेने के पश्चात् ब्रह्मचारी गृहस्थ हो जाता था। इसकी अवधि जीवन के २५ वर्ष से ५० वें वर्ष तक मानी गई है। कभी कभी विद्या का अतिशय प्रेमी ब्रह्मचारी आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करके गुरुकुल ही में रह जाता था। सभी वर्णों के लिए अलग अलग कर्तव्य निर्धारित थे। ब्राह्मण का कर्तव्य था दान देना, दान लेना, वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना तथा कराना। गृहस्थाश्रम में ब्राह्मणों का जीवन प्रायः शारीरिक सुख की दृष्टि से महत्त्वहीन था। उनके पास सदैव धनाभाव रहता था। इसी प्रकार क्षत्रिय का कर्तव्य था वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना, युद्ध में भाग लेना इत्यादि। इसी प्रकार वैश्य अन्य कार्यों के अतिरिक्त सारे समाज के भरण-पोषण और शूद्र सेवा कार्य का भार ग्रहण करता था। मनु ने गृहस्थाश्रम का उल्लेख करते हुए लिखा है—

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

अर्थात् गृहस्थ प्रतिदिन ज्ञान और अन्न से तीनों आश्रमों का भरण पोषण करने के कारण सर्व श्रेष्ठ है।

गृहस्थ नित्य प्रति पांचों महा यज्ञ नियमित रूप से करता था। वेदों का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है। हवन दैव यज्ञ है। पूर्वजों तथा जीवित गुरु जनों का यथोचित सत्कार पितृ यज्ञ है। निरीह जन्तुओं को भोजन कराना बलि वैश्व-देव है और बिना सूचना दिए आये हुए स्वरूप अभ्यागत का पूर्ण रूपेण स्वागत अतिथि यज्ञ है। अतिथि का मान वैदिक लोक जीवन की विशेषता रहा है। अतिथि देवता है ऐसा विश्वास था।

पञ्च यज्ञों से अवशिष्ट अन्न को अमृत कहा जाता था। इससे यज्ञों की

महत्ता और वैदिक लोक जीवन की सम्पन्नता का सहज बोध हो जाता है।

३. वानप्रस्थाश्रम—यह आश्रम ५० वर्ष की अवस्था से लेकर ७५ वर्ष की अवस्था तक रहता था। जब पुत्र गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाता था और प्राय: पिता पौत्र को देख लेता था तो गृहस्थी का भार पुत्र के कन्धों पर डाल आश्रमों में स्वाध्याय और योगाभ्यास के निमित्त एकान्त जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझता था कभी-कभी इस काल में पत्नी भी साथ रहती थी। वानप्रस्थ काल का जीवन अत्यन्त सरल था। वानप्रस्थी के पास कमण्डल, मृगचर्म, दण्ड कुश, वस्त्र, वल्कल, अग्निहोत्र की सामग्रियों तथा पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ न होता था। वह वन के अन्नों तथा फलों से अपना कार्य चलाता था और अतिथियों का भी स्वागत करता था। इसका भोजन प्राय: शाक, सेवार, फल; फूल और मूल ही होते थे। गांव अथवा क्षेत्र में उत्पन्न किए गए अन्न इसके लिए अखाद्य थे। अधिकतर अग्नि का पकाया भोजन भी वे उचित न समझते थे। संग्रह तो अधर्म समझा जाता था। प्रति दिन का भोजन करने के बाद वानप्रस्थी अपने पात्र स्वच्छ कर रख देता था। अगले दिन के लिए इसके पास कुछ न रहता था। अधिक निर्जन में रहनें वाले वनवासी ही कुछ संग्रह कर सकते थे।

व्रतों का इस आश्रम में बड़ा महत्त्व था। रोग की चिकित्सा वे प्रकृति की सहायता और योगाभ्यास द्वारा कर लेते थे। वानप्रस्थाश्रम का लक्ष्य तत्वज्ञान की प्राप्ति तथा आत्मा की शुद्धि है। शारीरिक भोगों से उदासीन वह यज्ञ की निर्बाध्य की रक्षा के लिए ही किसी पर्णकुटी आदि का आश्रय लेता था; अन्यथा कठोर से कठोर वर्षा, शीत और धूप को सहन करने के लिए वह सदैव तत्पर रहता था। दिन में तीन बार स्नान करना और दिन के अधिक भाग में मौन रहना उनका अभ्यास था। ब्रह्म ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने वे ऋषियों के पास जाते थे। इस प्रकार जीवन में साधना करता हुआ ७५ वें वर्ष के पश्चात वानप्रस्थी शिखा सूत्र का त्याग कर सन्यासी हो जाता था।

४. संन्यासाश्रम—वैदिक लोक जीवन का अन्तिम ध्येय रहा है मोक्ष की प्राप्ति। इसी की प्राप्ति के निमित्त चारों आश्रम सोपान सदृश हैं। संन्यासी निर्बाध एवं स्वच्छन्द ज्ञान का प्रचार करता हुआ भ्रमण करता था। प्राय: वानप्रस्थाश्रम के बाद ही संन्यास लेने की प्रथा रही है तथापि युवावस्था में

ब्रह्मचर्याश्रम से ही कितने व्यक्ति संन्यास ग्रहण कर लेते थे। संन्यास ग्रहण करने के पूर्व यज्ञ में अपना सर्वस्व दान कर देना पड़ता था। तदनन्तर वह केवल भिक्षापात्र के लिए ही ग्राम में भ्रमण करता था, शेष समय वह ब्रह्म चिन्तन में ही लीन रहता था। वह सभी को सम्भाव दृष्टि से देखता था। कद्दू, काष्ठ अथवा मृत्तिका के बने पात्र को लेकर यह एक बार गांव में अपने भोजन के निमित्त जाता था। परन्तु उस समय भोजन पकाने का समय नहीं होता था। वह पूजित होकर कभी भिक्षा ग्रहण नहीं करता था और न वान-प्रस्थियों से ही भोजन लेता था। वह निर्विकार और निष्काम भाव से केवल उपदेश देना और ब्रह्मचिन्तन ही अपना कर्तव्य समझता था। संसार से विरक्त रहने के लिए वह सदैव मृत्यु का स्मरण किया करता था। यदि भूल से कहीं हिंसा हो जाती थी तो संन्यासी पश्चात्ताप करता था। इंद्रिय संयम और कठिन तपस्या द्वारा कर्म बन्धनों से मुक्त होकर संन्यासी ब्रह्मपद को प्राप्त करते थे।

वैदिक संन्यास में कर्म और ज्ञान दोनों पर जोर दिया गया है ईशोपनिषद् में कहा गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु। ४०। २।

अर्थात् यहां कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, इस प्रकार मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता। इससे भिन्न और कोई कर्म नहीं है। मनु ने भी वेदाभ्यास, तप, इन्द्रियों को वश में रखना, अहिंसा आदि कर्मों को मुक्ति प्रदाता कहा है। शारीरिक सुख देने वाले कर्मों को 'प्रवृत्त' और मुक्ति देने वाले कर्मों को 'निवृत्त' कहते हैं। वेद विहित प्रवृत्त कर्म करने से मनुष्य देवताओं के समान हो जाता है और निवृत्त कर्म करनेवाला पुरुष शरीर से छूटकर मुक्ति लाभ करता है। अनासक्त होकर कर्म करने वाले ही वास्तविक संन्यासी हैं। योग मार्ग का पथिक अनुभव करता है कि वह कर्म नहीं कर रहा है अर्थात् अनासक्त भाव से कर्म करता है। कर्म योगी की बुद्धि जीवमात्र में समभाव रखती है। इस प्रकार जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हो जाता है वे ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाते हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध योगी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ समाधिस्थ होकर योगाभ्यास में लगा रहता था। कर्म-योग से विश्वकल्याण सम्भव है और भारतीय संस्कृति की विशेषता विश्व कल्याण की भावना ही रही है।

वर्ण व्यवस्था

वेदकालीन वर्ण व्यवस्था गृहस्थाश्रम के चार विभागों के सदृश ही थी। समाज कार्य के सुचारु संचालन के हेतु ही वैदिक सामाजिक व्यवस्था आश्रमों और वर्णों में विभाजित की गई थी। कालान्तर में जो जातियों अथवा उप-जातियों का उल्लेख हमें मिलता है वे अवैदिकी हैं। अवश्य ही उत्तर वैदिक काल में आर्यों और अनार्यों में भेद बनाये रखने के लिए आर्य और दस्यु शब्दों का प्रयोग होता था। परन्तु वेदकालीन आर्य वर्ग में जिन चतुर्वर्णों का उल्लेख हमें मिलता है वह जन्मजात नहीं था। वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की उत्पत्ति क्रमशः पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और चरण भाग से बतायी गयी है। यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

उस काल में अपना कर्म क्षेत्र चुन लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। प्रायः एक ही मनुष्य समय समय पर अपने वर्ण बदल सकता था। कार्य की प्रवृत्ति के अनुरूप ही अनायास ही वर्णों का वर्गीकरण हो जाता था। कालान्तर में इसी आधार पर बाहर की आक्रमणकारी जातियां जो यहीं बस गयी थीं क्षत्रिय वर्ग में सन्निहित हो गयी थीं क्योंकि उनमें क्षात्र गुण प्रधान था।

वर्ण व्यवस्था की दो प्रधान विशेषताएँ थीं—

१—समता का भाव जिसे हम वैदिक साम्यवाद कह सकते हैं।

२—वर्णों का वर्गीकरण जन्म से नहीं अपितु गुण और कर्म के अनुसार था।

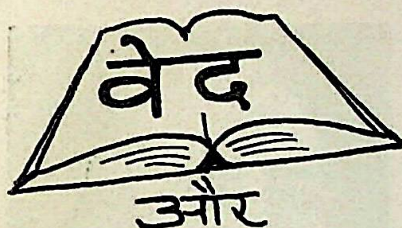
वेदों में स्थान-स्थान पर मनुष्य को 'अज्येष्ठ' और 'अकनिष्ठ' कहा गया है। तात्पर्य यह कि इन वर्णों में किसी प्रकार की छुटाई बड़ाई नहीं थी। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में कोई वर्ण किसी के बड़े होने का दावा नहीं कर सकता था इसका कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सदैव दरजों अथवा श्रेणियों का भेद एक प्रकार की वस्तुओं या व्यक्तियों के भीतर हुआ करता है परन्तु जिनमें प्रकार-भेद (Kind) होता है उनमें दरजों का भेद नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यदि १० विद्यार्थी हों तो उनमें बड़े छोटे का भेद हो सकता है क्योंकि कोई अधिक तीव्र होगा कोई कम। परन्तु यदि एक बढ़ई, एक लुहार और एक अध्यापक हो तो उनमें दरजों का भेद नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें तुलना हो ही नहीं सकती। इसी नियम के अनुसार

ब्राह्मण आदि वर्णों में दरजों का भेद नहीं ढूंढ़ा जा सकता। प्रचलित जन्म-जात की ऊँचाई बड़ाई वैदिक लोक जीवन में सर्वथा अज्ञात थी।

दूसरी विशेषता जो वर्णों के विभाजन की थी वह कर्म के आधार पर थी। वह जन्ममूलक नहीं थी। अतः वैदिक साम्यवाद कर्म पर निर्भर है। वर्तमान पूंजी वर्ग और श्रमिक वर्ग का झगड़ा कर्म विज्ञान की अवहेलना के कारण ही है। यहां शक्ति की विजय को महत्त्व दिया जा रहा है। बल प्रयोग द्वारा समता की आशा करना दुराशामात्र है। वैदिक लोकमर्यादा पुरुषार्थ पर सीमित थी।

इसी प्रकार कहा जा सकता है कि २५ वर्ष के अनन्तर सभी वर्णों के लोग गृहस्थाश्रम में रहकर समस्त सम्पत्ति अपने ज्येष्ठ पुत्र को दे देते थे और वान-प्रस्थ आश्रम में चले जाते थे और अपनी आवश्यकताएँ न्यून से न्यून कर लेते थे। इन आश्रमों के लोग अवैतनिक प्रचारकों और अध्यापकों का कार्य करते थे, भिन्न भिन्न वर्णों के कार्यों की शिक्षा देते थे और चौथे आश्रम में योगा-भ्यास और स्वाध्याय को जीवन का लक्ष्य बना लेते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक लोक जीवन, जो चार वर्णों और आश्रमों में विभाजित था उसमें एक निश्चित अवधि के बाद किसी को धन रखने की आज्ञा नहीं थी। इस प्रकार पश्चिमी संस्कृति की भांति आजन्म पूंजीपति होने का वैदिक सभ्यता में प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता था। वान-प्रस्थाश्रम में चाहे थोड़ा धन हो चाहे अतुल सम्पत्ति उसका त्याग करना ही पड़ता था। कितनी सुन्दर व्यवस्था थी। सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए आज के बोलशेविक आदि प्रयोगों की कभी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। अनार्किस्ट और कम्यूनिस्ट वर्ग जो नये प्रयोगों का प्रचार करते हैं, वे यदि प्राचीन वैदिक परम्परा की ओर मुड़ कर देखें तो सहज ही उनको ज्ञात हो जायेगा कि हमें भारत में आज की समस्याओं को सुधारने के लिए बाहर के किसी देश से किसी नये 'वाद' को लाने की आवश्यकता नहीं अपितु हमें वैदिक लोक जीवन की प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान की ही चेष्टा करनी चाहिए जो अधिक ग्राह्य और सरल होगी। परन्तु उनसे कहे कौन जब कि प्राचीनता की ओर मुड़ कर देखना भी वे पाप समझते हैं, जिनका लक्ष्य ही है, प्राचीन मशाल को छोड़ कर नयी मशाल की खोज, चाहे प्राचीन मशाल अधिक प्रकाश क्यों न देती हो, वह प्राचीन जो ठहरी !



सप्तसिन्धु

आचार्य उदयवीर शास्त्री

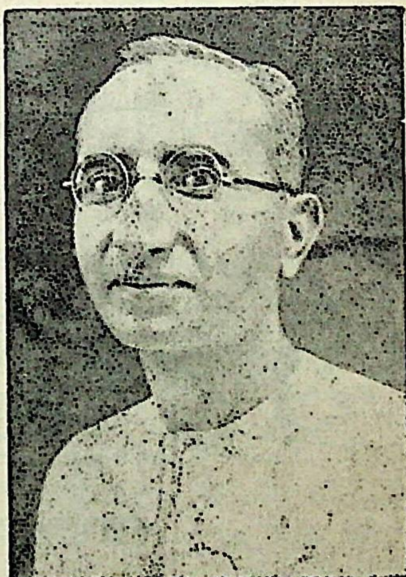


संसार के प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों ने "सप्त सिन्धु" प्रदेश की कल्पना पंजाब काश्मीर आदि प्रदेश कर इसे आर्यों का आदि स्थान माना है। किन्तु विचारणीय यह है कि वेद, वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत पुराण आदि ग्रन्थों में भी 'सप्तसिन्धु' अथवा 'सप्त सिन्धव' एक पद रूप में उपलब्ध नहीं है।

"वेद" के आधार पर तर्क और युक्ति के द्वारा आर्यों का आदि स्थान कहाँ हो सकता है, इस गंभीर विषय पर प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् के विचार पढ़ जाइए, निश्चित रूप से आपका मार्ग-दर्शन होगा।

—संपादक

आचार्य उदयवीर शास्त्री



"दर्शन" के प्रकांड पंडित, अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों, (सांख्य दर्शन का इतिहास, सांख्य-सिद्धान्त आदि) के लेखक शांत, गंभीर, नम्र और उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण।

आजकल वैदिक संन्यासी आश्रम गाजियाबाद में रहकर शोध कार्य कर रहे हैं—संपादक

आर्यों का आदि देश, वह पुण्य स्थान जहाँ आदि ज्ञान 'वेद' की ऋचाएँ सर्वप्रथम गूँजी, जहाँ से धरती ने ज्ञान-प्रकाश पाया कहां है ? मानव ने सर्व प्रथम जहां जन्म लिया वह पुण्य भूमि कौन सी है ? कौन सा है वह प्रदेश जिसे "देव लोक" ब्रह्मलोक आदि संज्ञाएँ प्राप्त हुयीं ?

प्रश्न सर्वत्र उठते हैं पर उत्तर नहीं मिल पाता। प्रस्तुत लेख प्रश्नों का उत्तर देने का सफल प्रयास है।—सम्पादक

• • •

आर्यों का मूल स्थान—पिछले अनेक वर्षों में संसार के विद्वानों ने आर्यों के आदिदेश अथवा आदिनिवास की खोज करने में प्रशंसनीय एवं व्यापक प्रयत्न किये हैं। विशाल साहित्य इस विषय पर प्रकाशित हुआ है, इतना प्रयास होने पर भी कोई ऐसा परिणाम सामने नहीं आया, जिसे सभी विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया हो। अपने-अपने विचारों के अनुसार भूमण्डल पर अनेक ऐसे प्रदेशों का निर्देश किया गया ह, जहां सर्वप्रथम आर्यों का निवास रहा होगा। ये प्रदेश भूमण्डल के पूर्वी गोलार्द्ध के उत्तर अर्द्ध में फैले हुए हैं, जिनकी सीमा उत्तरी ध्रुव से दक्षिण में भारत तक और पूर्व में हिमालय तथा ओरल पर्वतमाला की शाखाओं से पश्चिम में अतलान्त महासागर तक पहुँच जाती है। इन सब विभिन्न विचारों के रहते भी भारतीय और पारसी साहित्य के सन्तुलन और नव कल्पित भाषा विज्ञान आदि के आधार पर अधिक विद्वानों ने इस मत को स्वीकार किया, कि मध्य एशिया अथवा उसके आसपास ही कहीं आर्यों का आदिनिवास रहा होगा, वहीं से आर्यों की विभिन्न शाखा पूर्व-दक्षिण भारत की ओर, पश्चिम ईरान आदि की ओर तथा पश्चिम-उत्तर यूरोप के वर्तमान प्रदेशों में फैल गई ।

आधुनिक पाश्चात्य खोज-प्रणाली के अनुसार जब मोहञ्जोदड़ो और हड़प्पा आदि की खुदाइयों में प्राप्त वस्तुओं की तुलना ऋग्वेदकालीन सभ्यता से की गई, तब इस बात को मान लिया गया, कि आर्यों का मूल स्थान 'सप्तसिन्धु'

अथवा 'सप्तसिन्धव' प्रदेश रहा होगा, इस विषय पर अनेक भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार विस्तृत विचार किया है। इनमें अविनाशचन्द्र दास, स्वामी शंकरानन्द, राय बहादुर रमाप्रसाद चन्दा, नाना पावगी आदि विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है। विदेशी विद्वानों में जर्मन विद्वान् जीमर ने इस विचार की विशेष रूप से पुष्टि की है। अविनाशचन्द्र दास के 'ऋग्वैदिक इण्डिया' का तथा अन्य सामग्री का आधार लेकर डॉ० सम्पूर्णानन्द ने बहुत खोजपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत किया है—'आर्यों का आदिदेश'। इसमें भी आर्यों का मूलस्थान अनेक साधनों के आधार पर 'सप्तसिन्धव' प्रदेश सिद्ध किया गया है। इस लघुकाय लेख द्वारा केवल 'सप्तसिन्धव' प्रदेश के विषय में एक विवेचन प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

'सप्तसिन्धव' प्रदेश विषयक प्रमाण—

वर्त्तमान युग में यह एक प्रथा सी हो गई है, कि जब तक किसी विचार को वेद से प्रमाणित न किया जाय, तब तक उसे सुपुष्ट अथवा मान्यता की कोटि में नहीं समझा जाता। जिन विद्वानों ने आर्यों का आदिनिवास 'सप्तसिन्धव' बताया, उन्होंने भी अपने विचारों को वेदों के आधार पर सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया है। ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में भी 'सप्त-सिन्धव' पदों का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। उक्त विद्वानों का कहना है कि अवश्य यह एक ऐसा प्रदेश रहा होगा, जहां आर्य अपने आदिकाल में निवास करते थे, और उन्हें अपने इस प्रदेश के प्रति बड़ा आकर्षण रहा है। 'सिन्धु' समुद्र को कहते हैं और यह पद 'नदी' का पर्याय भी है। फलतः यह कोई सात नदियों का प्रदेश था, संभवतः आसपास वहाँ कोई समुद्र भी रहा हो। वेदों में उन नदियों का बड़ा सुन्दर व आकर्षक वर्णन उपलब्ध होता है, जो उस प्रदेश में आर्यों के निवास का द्योतक है। आइये, वेदों के उन स्थलों को देखें, जहाँ ये वर्णन उपलब्ध हैं, और उन पर विचार करें।

डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने अपने विचार की पुष्टि में वेद के मन्त्र प्रस्तुत किये हैं जो इस प्रकार हैं :—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।

(ऋ० ८/६९/१२)

वरुण जलों का देवता माना जाता है, प्रार्थना है, वरुण ! तुम श्रेष्ठ देव हो, तुम्हारे मुख से सात नदियाँ प्रवाहित होती हैं। तिलक महोदय ने इस ऋचा का अर्थ करते हुए लिखा है, कि सात नदियाँ वरुण के मुख में गिरती हैं। आचार्य सायण ने भी इस ऋचा का ऐसा ही अर्थ किया है, वह लिखता है—हे वरुण जलाभिमानी देव ! तुम श्रेष्ठ देव हो, तुम्हारे तालु रूप समुद्र में गंगा आदि सात नदियाँ बह आती हैं—एक और मन्त्र है—

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन् देव एकः ।
अजयो गा अजयः शूर सोम मवासृजः सर्त्तवे सप्त सिंधून ।। (ऋ० १/३२/१२

यहां इन्द्र की स्तुति है। हे शौर्ययुक्त इन्द्र ! जब तुम्हारे वज्र पर शस्त्रास्त्र विद्या में कुशल साहसी वृत्र ने प्रहार किया, तब तुमने उसे इस प्रकार नगण्य समझ कर पछाड़ दिया जैसे घोड़े के बालों की चंवर से मक्खियाँ उड़ा दी गई हों। गायों और सोम को जीता, और बहने के लिए सातों नदियों को मुक्त कर दिया। सायण ने इसका ऐसा ही अर्थ लिखा है। सात नदियों का विवरण देने की भावना से आचार्य सायण ने इस व्याख्या में 'इमं मे गंगे' (ऋ० १०/७५/५) ऋचा को उद्धृत कर उसमें पठित सात नदियों का निर्देश यहाँ माना है। इसी ऋचा के आधार पर नाना पावगी महोदय कहते हैं, कि इन्द्र ने वृत्र (मेघ) को वज्र से मार कर सातों सिन्धुओं को मुक्त किया, उन्होंने एक और स्थल पर अथर्ववेद के 'यो हत्वाहि मरिणात् सप्त सिन्धून्' (२०/३४/३) तथा अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून् (२०/९१/१२) के आधार पर लिखा है कि इन्द्र ने वृत्र को मार कर सातों नदियों को मुक्त किया।

डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदिदेश' (पृ० ३५) में ऋग्वेद (१/३२/१२) की ऋचा के आधार पर लिखा है—"इन्द्र ने गौओं को जीता, सोम को जीता और सप्तसिन्धुओं के प्रहारको मुक्त कर दिया। इस गाथा में निरुक्त के अनुसार, जल से भरे हुए बादलों का गरजना, उन पर बिजली का कड़कना, उनसे जलधारा का फूटपड़ना और फिर उस जल का सप्तसिन्धुओं (सातनदियों) में प्रवाह रूप से गिरना—यही हृविषय वर्णित है। 'अहि' शब्द बादल के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँपर विचारणीय है—बादल से निकली हुई जलधारा से नदियों का सर्वत्र ही पोषण होता है, परन्तु मन्त्र ने सप्तसिन्धु

(सात नदियों) का ही नाम लिया है। उसकी दृष्टि में इनका ही महत्त्व है।"

इन्द्र द्वारा वृत्रवध के महत्त्व पर वल देते हुए डॉ० सम्पूर्णानन्द ने आगे (पृ० ३८ पर) लिखा है—"उनका (वेदों के रचयिताओं का) यह कहना था कि वृत्र को मार कर सप्तसिन्धुओं में जल को प्रवाहित कराना इन्द्र का प्रथम पराक्रम था। इससे यह स्पष्ट है कि इनको किसी भी दूसरे देश की स्मृति नहीं थी सप्तसिन्धव देश की सातों नदियों के नाम थे सिन्धु, विपाशा (व्यास), शुतुद्रि या शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्त-सिन्धव पड़ा था।...ऋक् १०/७५/५ में गंगा यमुना का नाम भी आया है, पर यह नामोद्देश मात्र है। इससे इतना ही प्रमाणित होता है, कि मंत्रकार को इतना पता था। यों यह सप्तसिन्धव के बाहर थीं।"

यहां यह स्मरण करा देना उपयुक्त होगा, कि आचार्य सायण ने ऋग्वेद की पूर्वोक्त ऋचा (१/३२/१२) की व्याख्या में मन्त्र के **'सप्तसिन्धून्'** पदों का विवरण देने के लिए **'इमं मे गंगे'** (१०/७५/५) मन्त्र को उद्धृत किया है। परन्तु उस मन्त्र में नौ नदियों का निर्देश है। प्रस्तुत मन्त्र (१/३२/१२) के **'सप्त'** पद की व्याख्या के लिए दसवें मण्डल के मन्त्र में वर्णित नौ नदियों में से कौन सी दो नदियाँ छोड़ दी जायें, इसका निर्देश सायण ने नहीं किया है। संभवतः उसके सामने **'सप्तसिन्धव'** प्रदेश की कल्पना की कोई भावना नहीं थी, इसीलिए उसने व्याख्या में **'गंगाद्या नद्यः'** कहा है। गंगा का मुख्य रूप से उल्लेख करना चाहे सायण के समय में गंगा की आदरपूर्ण मान्यता के कारण हो, अथवा मन्त्र में सर्वप्रथम **'गंगा'** पद का उच्चारण हो; पर समस्त ऋग्वेद में जहाँ **'सप्तसिन्धु'** पदों की व्याख्या का प्रसंग आया है, प्रायः सर्वत्र आचार्य सायण ने **'गंगाद्या नद्यः'** ही अर्थ किया है। डॉ० सम्पूर्णानन्द के लेख से इसका समन्वय नहीं होता, जब कि उन्होंने उन नौ नदियों की सूची से स्पष्ट रूप में गंगा और यमुना को अलग कर **'सप्तसिन्धव'** प्रदेश से बाहर कर दिया है। यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, कि मन्त्र में इन नदियों का नाम सर्वप्रथम होने पर भी यह नाममात्र का कथन है, और केवल इतने अर्थ का बोधक है, कि मन्त्रकार को इनका पता था। संभवतः

'सप्तसिन्धव' प्रदेश की कल्पना ने उनका ध्यान इस ओर नहीं जाने दिया।

'सप्तसिन्धव की सीमा'—डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदिदेश' के पृष्ठ ४० पर इस विषय में लिखा है—"सप्तसिन्धव की चारों ओर की सीमाओं के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है, और अब भी कोई सर्वसम्मत सिद्धान्त स्थिर नहीं हुआ है। बात तो यह है, कि यदि सप्तसिन्धव के तत्कालीन भूगोल का स्वरूप निश्चित हो जाय, तो स्यात् आर्यों के निवास स्थान की समस्या स्वतः सुलझ जाये। मैं स्वयं प्रायः उस विचार से सम्मत हूँ, जिसे ए० सी० दास ने 'ऋग्वैदिक-इण्डिया' में प्रकट किया है।...इस मत के अनुसार सप्तसिन्धव के उत्तर में हिमालय पहाड़ था और उसके बाद एक समुद्र था, जो वर्त्तमान तुर्किस्तान के उत्तरी सिरे से आरम्भ होता था और पश्चिम में कृष्णसागर तक जाता था। इस समुद्र के उत्तर में फिर भूमि थी, जो उत्तर ध्रुव प्रदेश तक चली जाती थी। दक्षिण में भी एक समुद्र था। उस जगह आज राजपूताना है। यह समुद्र वहां तक चला जाता था जहां आज अर्वली पहाड़ है। पश्चिम में यह अरब सागर से मिला हुआ था। पूर्व में भी एक समुद्र था। यह समुद्र हिमालय की तलहटी के नीचे नीचे प्रायः सारे युक्त प्रान्त (वर्त्तमान उत्तर प्रदेश) और बिहार को ढंकता हुआ आसाम तक चला गया था। पश्चिम में सुलेमान पहाड़ था। इस ओर भी पहाड़ के नीचे समुद्र की एक पतली गली थी।...सप्तसिन्धव प्रायः वही प्रदेश है, जिसका नाम आजकल पंजाब-कश्मीर है।"

इसी बात को अविनाशचन्द्र दास ने अपनी रचना 'ऋग्वैदिक इण्डिया' (पृ० ५५) में इस प्रकार लिखा है—

"That this beautiful mountainous country (Kashmir) and the plains of Saptasindhu were the cradle of the Aryan race."

यह सुन्दर पर्वतीय प्रदेश कश्मीर और सप्तसिन्धु का मैदानी इलाका आर्य जाति के आदि निवासस्थान रहे हैं। इसी के अनुसार डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपनी रचना आर्यों का आदि देश' (पृ०३८) में लिखा है—उन दिनों (वैदिक काल में) सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्हीं के तट पर आर्यों की बस्तियां थीं, और ऋषियों के तपोवन थे।

'सप्तसिन्धव' विषयक इन उल्लेखों से यह परिमाण सामने आता है—

१—वेदों में सप्त सिन्धु अर्थात् सात नदियों का वर्णन।

२—सप्त सिन्धव प्रदेश की सीमा।

३—सरस्वती तथा सिन्धु की घाटियों तथा अन्तरालवर्त्ती प्रदेशों में आर्यों की बस्तियां।

यथाक्रम इन परिणामों की तथ्यता की जांच करना अपेक्षित है।

वैदिक सप्तसिन्धु पद विवेचन—

१—वैदिक ऋचाओं के कुछ ऐसे उदाहरण लेख में प्रस्तुत किये हैं, जिनमें सप्तसिन्धुओं का वर्णन है, वैसे इन दोनों पदों का वेदों में अनेकत्र प्रयोग हुआ है, पर 'सप्त सिन्धु' ऐसे एक पद के रूप में कहीं भी इस का प्रयोग वेदों में नहीं है, यद्यपि 'सप्त' पद के साथ अन्य अनेक पदों का समास होकर एक पद-रूप में उनका प्रयोग हुआ है, जैसे सप्ताश्च, सप्तास्य, सप्तर्षि, सप्तचक्र सप्त-जामि, सप्ततन्तु, सप्तधातु, सप्तपदी, सप्तपुत्र, सप्तमातर, सप्तमानुष, सप्त-रश्मि, सप्तवध्रि आदि; पर 'सप्त' और 'सिन्धु' पदों का समास होकर एक नाम के रूप में इनका प्रयोग किसी वेद में कहीं नहीं है। वेद के अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में भी प्रदेश वाचक या अन्य किसी एक अर्थ में 'सप्तसिन्धु' समस्त पद का प्रयोग नहीं देखा जाता, शेष प्राचीन साहित्य रामायण, महाभारत, पुराण आदि साहित्य में प्रदेशवाचक 'सप्तसिन्धु' अथवा 'सप्तसिन्धव' पद का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। जबकि महाभारत (सभा० ३२/११) में पंजाब के लिए, 'पञ्चनद' पद का प्रयोग देखा जाता है। इससे यह परिणाम स्पष्ट होता है कि प्राचीन व मध्यकालिक भारतीय साहित्य में प्रदेश विशेष के लिए सप्तसिन्धु पद का प्रयोग नहीं देखा जाता, उस समय का समाज इस पद और इसके विशिष्ट अर्थ से अपरिचित था।

मन्त्रों का अर्थ—वेद के विभिन्न व्याख्याकारों ने मन्त्रों के अर्थ सर्वत्र समानरूप से नहीं किये। एक मन्त्र के अनेक प्रकार के अर्थ विभिन्न व्याख्या-कारों द्वारा किये गए देखे जाते हैं। 'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः' (ऋ० ४/५८/३) इस मन्त्र के अनेकत्र विभिन्न अर्थ किये गये हैं। व्याकरण महा-भाष्य के प्रारम्भ में इसका शब्दपरक अर्थ किया है। वह महान् देव शब्द रूप

है, जिसके नाम, आख्यात्, उपसर्ग, निपात ये चार भेद शृंग समान हैं, तीन काल पैर हैं, दो शीर्ष हैं, नित्य-कार्यरूप, सात हाथ सात विभक्तियाँ हैं, छाती कण्ठ और सिर में तीन जगह बंधा है। इसी मन्त्र का अर्थ यास्क ने निरुक्त (१३/७) में यज्ञपरक किया है। चार शृंग चार वेद हैं। तीन पैर तीन सवन हैं—प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन, सायं सवन। दो सिर हैं—प्रायणीय, उदयनीय, सात हाथ हैं—सात छन्द। तीन प्रकार बंधा है—मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प द्वारा। ऐसा महान् देव यज्ञ मर्त्यों में आविष्ट है।

सायण ने निरुक्त के अनुसार अर्थकर पुनः सूर्यपरक अर्थ किया है। चार शृंग चार दिशा बताई हैं, तीन पैर तीन वेद हैं, दो सिर दिन-रात हैं, सात हाथ सात प्रकार की सूर्य रश्मियाँ हैं। त्रिधा बद्ध है—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक द्वारा, सायण ने यह भी लिखा है, कि इस सूक्त के पाँच देवता होने से मन्त्र का अर्थ पाँच प्रकार से किया जाना चाहिए।

सप्तसिन्धव के वर्णन में प्रस्तुत किये गये 'सुदेवो असिवरुण' मन्त्र का भी महाभाष्य में भिन्न अर्थ किया है, तथा 'सप्तसिन्धवः' का अर्थ सात विभक्तियाँ बताया है। 'सप्तसिन्धव' प्रदेश की कल्पना करने वाले विद्वानों ने 'सप्तसिन्धु' पदों वाले जिन मन्त्रों का अर्थ अपने विचार की पुष्टि के लिए किया है; 'वैदिक सम्पत्ति' नाम ग्रन्थ के लेखक रघुनन्दन शर्मा ने उन सब मन्त्रों का अर्थ 'सिन्धु' पद को सूर्य किरण का द्योतक मान कर--सूर्यरश्मिपरक किया है। योगिराज अरविन्द ने अपनी 'वेदरहस्य' नामक रचना में उन मन्त्रों का अर्थ—जिनको भौतिक नदीपरक समझा जाता है—किन्हीं अन्तरिक्ष स्थानीय अथवा द्युस्थानीय रहस्यमय नदीपरक किया है, जो बहुत प्रभावोत्पादक है। इन कारणों से सन्देह होता है, कि 'सप्तसिन्धव' प्रदेश की कल्पना करने वाले विद्वानों का अपने विचार की पुष्टि में वेद का आश्रय लेना कहाँ तक ठीक है।

पर एक बात है, वेदों के अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक और आधियाज्ञिक आदि अनेक प्रकारों में किए जाते रहे हैं, यह परम्परा पर्याप्त प्राचीन है, वेदव्याख्याताओं ने इसको मान्यता दी है इसलिए यदि किन्हीं मन्त्रों के अर्थ आदिभौतिक किये जाते हैं, और उसके अनुसार वेदों में सात नदियों अथवा अन्य नदी या पर्वत या अन्य ऐसे ही किसी भौतिक वर्णन का निर्देश

किया जाता है, तो उसमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए। निरुक्त (२/२४-२७; ६/२६) में आचार्य यास्क ने अनेक मन्त्रों (ऋ० ६/६१/२;३/३३/५—६,१०; १०/७५/५) का अर्थ नदीपरक बतलाया है। ऐसी स्थिति में जिन आधुनिक विद्वानों ने वेदों के कतिपय मन्त्रों द्वारा सात नदियों के विशिष्ट वर्णन का उल्लेख किया है; वह केवल विभिन्न विद्वानों द्वारा मन्त्रोंके अर्थ-भेद प्रदर्शन के आधार पर उपेक्षणीय नहीं माना चाहिए, उनका वेद के आधार पर वैसा उल्लेख करना सर्वथा निराधार नहीं है। वेद और लोक में नदियों के समान नाम होने से जो विद्वान् इस आधार पर वेदों में इतिहास की कल्पना कर उसका विरोध करते हैं, और उस नदी वर्णन को अन्यथा व्याख्यात करना चाहते हैं, वह भी अनावश्यक है। कारण यह है, कि नदियों का वर्णन एक नैसर्गिक स्थिति है, नदियाँ सर्वत्र समान रूप से बहती हैं, उनकी स्वभाव प्राप्त रचना या गति आदि का उल्लेख किसी इतिहास आदि का द्योतक नहीं है। नाम का प्रश्न रह जाता है, उसका समाधान स्पष्ट है; जो वेदों को नित्य कहते हैं, अथवा आदि सृष्टि में सर्वप्रथम उनका प्रादुर्भाव मानते हैं, उनकी यह भी मान्यता है, कि लोक में व्यवहार के लिए सर्वप्रथम नाम-पद वेद से लिए गए हैं, (मनु० १/२१), तब यह सम्भव माना जा सकता है, कि उन ऋषियों ने—जिनके पास वेद थे—वेद के अनुसार नाम रख लिए। जिस प्रदेश में उन ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ वहां उन्होंने नैसर्गिक जलधाराओं को बहते देखा। वेद उनके पास थे, वेदार्थ को वे जानते थे, उसी के अनुसार उन्होंने उन जलधाराओं को नदी कहा, और विभिन्न जलधाराओं का उसी के अनुसार नाम रक्खा। वे नाम या तत्सम नाम नदियों के आज तक व्यवहार में चले आते हैं। वेद में नदीपर्याय जो पद प्रयुक्त हुए हैं, उनका संग्रह निघण्टु में किया गया है, जिनकी संख्या सैंतीस है। ये पद सामान्य जलधारा मात्र के लिए प्रयुक्त हैं। किसी जलधारा के विशिष्ट नाम अन्य हैं, वे नाम किन्हीं आधारों पर वेद के अनुसार रक्खे गये।

इस प्रसंग में समझना यह है, कि ये नाम लोक से वेद में आये, अथवा वेद से लोक में। पहली बात के मानने में यह बड़ी बाधा है, कि हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है, जिससे यह निश्चय किया जा सके, कि वेद

से पहले इन नदियों के ये नाम व्यवहार में आते थे, वहां से इनको वेद में लिया गया। आधुनिक कल्पित भाषाविज्ञान भी इस दिशा में हमारी कोई सहायता नहीं करता। आर्यों से पहले जब इन नदी प्रदेशों में मानव का निवास ही न था, तब उस काल में इन नदी नामों के व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता। जो विद्वान् ऐसा नहीं मानते, और आर्यों का यहाँ बाहर कहीं से आना बतलाते हैं, और कहते हैं कि उनके पहले भी यहां मानव का निवास था, उनको परास्त कर आर्यों ने यहाँ अपना निवास स्थान बनाया; वे भी यह सिद्ध करने में सर्वथा अक्षम रहे हैं, कि उससे पहले इस प्रदेश की नदियों के यही नाम थे। हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण या तर्क नहीं हैं, जिसके आधार पर वेदों से पहले उस प्रदेश की नदियों के इन नामों का लोक-व्यवहार में अस्तित्व सिद्ध किया जा सके। इसलिए दूसरी बात ठीक रह जाती है, कि इन नदी नामों का लोक में व्यवहार वेद से आया है। इस विचार की छाया में वेदगत नदी-विषयक वर्णन किसी लौकिक इतिहास को सिद्ध नहीं करता।

'सप्तसिन्धव' विषयक पुष्टि—अब हम विचार के इस स्तर पर आ जाते हैं, कि जिन विद्वानों ने वेद के नदीविषयक वर्णन के आधार पर 'सप्तसिन्धव' प्रदेश की कल्पना की है, उसे मन्त्रों के अर्थभेद का लाभ उठाकर सन्देह का अथवा वेद में इतिहास की उहंकना का भय दिखा कर उपेक्ष्य नहीं कहा जा सकता। संभवतः उन विद्वानों का प्रदेश की कल्पना में इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है, कि नदियों का ऐसा वर्णन किसी प्रदेश का संकेत करता है। जलधारारूप नदियां किसी भूखण्ड पर ही बहती हैं। वेदों का इस विषय का वर्णन यह अवश्य स्पष्ट करता है, कि ये नदियाँ भू पर बहने वाली जलधारा हैं। इन्द्र वृत्र को मार कर नदियों को बहाता है; इन्द्र सूर्य या सूर्य रश्मि हो, वायु या विद्युत् हो, वृत्र मेघ है, प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार इनका पारस्परिक सहयोग अथवा संघर्ष वर्षा का कारण है, वही भूमण्डल पर नदीरूप में प्रवाहित होता है। वेद के इस वर्णन में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए, भावान्तर की कल्पना में वे धारा अन्तरिक्ष या द्युलोक में रश्मि रूप अथवा अन्य किसी रूप में हो, यह अलग बात है। पर जल की ऐसी धारा पृथ्वी के किसी प्रदेश पर ही बहती है, वेद वैदिक ऋषि और उन नदियों के द्वारा

किसी प्रदेश विशेष की कल्पना अवश्य होती है। भूमण्डल पर वह कौनसा प्रदेश संभव हो सकता है, इसी बात को 'सप्तसिन्धव' की कल्पना करने वाले विद्वानों ने स्पष्ट किया है। यह हो सकता है, कि उस समय अथवा उसके अनन्तर भी प्रदेश का यह नाम न रहा हो, पर ऐसा प्रदेश अवश्य रहा है, जहां से सात नदियाँ बहती हैं। अपने व्यवहार के लिये आज हमने उस प्रदेश को यह नाम दे दिया है।

सप्तसिन्धु और पारसी साहित्य—भारतीय साहित्य में चाहे यह नाम नहीं मिलता, पर प्राचीन पारसी साहित्य में इसका उल्लेख हुआ है। पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता की पहली पुस्तक वेन्दिदाद के प्रथम की उन्नीसवी गाथा में आया है—'जिस...अच्छे देश को मैंने उत्पन्न किया वह "हप्तहिन्दु" (सप्तसिधु अथवा सप्तसिन्धव) था' अवेस्ता के इस अध्याय में अनेक विशिष्ट स्थानों के नाम आये हैं। आर्यों की वह शाखा अपने मूल निवास-स्थान से किन्हीं कारणवश निकल कर जहां-जहां गई, और उन स्थानों में कुछ काल तक रहकर किन कारणों से फिर न टिक सकी, उसे भी छोड़ कर आगे-आगे चलती रही, न मालूम कितने समय तक इधर उधर स्थायी आवासहीन होकर भटकती रही; इन्हीं सब बातों का इस अध्याय में उल्लेख हुआ है।

यहां जिन स्थानों का वर्णन है, और उनके छोड़ जाने के जो कारण बताये गये हैं, उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, उनसे इस प्रसंग के अनेक तथ्यों का पता लगना संभव है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदिदेश' नामक रचना के पृ० ३२ पर लिखा है—'पारसियों के धर्मग्रन्थों से कुछ लोग ऐसा संकेत निकालते हैं, कि अहुरमज्द (ईश्वर) ने पहली मानवसृष्टि बाल्हीक प्रदेश में की। यह बैक्ट्रिया प्रान्त बक्षु नदी के तट का प्रदेश है।' अवेस्ता में इस प्रसंग का उल्लेख प्रस्तुत अध्याय की तीसरी गाथा में इस प्रकार है, जो डॉ० सम्पूर्णानन्द की उक्त रचना के पृष्ठ ४८ पर उद्धृत है—'मैं अहुरमज्द' ने जिन अच्छे देशों की सृष्टि की, उनमें सर्वप्रथम 'ऐर्य्यन वेइजो' है, जो शुभ नदी 'दैत्य' के किनारे है।' डॉक्टर महोदय ने

'दैत्य' नदी नाम पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, अरक्सीज़ नदी को ही 'दैत्य' समझते हैं। यह वही नदी है, जिसका नाम वक्षु पहले दिया गया है। पर गाथा सृष्टि के सर्वप्रथम देश का नाम बाल्हीक न देकर 'ऐर्य्यन वेइजो' दिया गया है। इस पद का रूपान्तर डॉक्टर महोदय ने टिप्पणी में 'आर्यों का बीज' बताया है।

इस विषय में मेरा ऐसा विचार है, कि इस पद का च्छेद 'ऐर्य्यन वेइजो' न होकर 'ऐर्य्य नवेइजो' होना चाहिए, संभवतः इसका मूलरूप 'आर्यनिवास' रहा हो, उच्चारण विकार से उक्त रूप में हो गया। मेरे विचार से वर्तमान में यह स्थान 'अज़ार वेइज़ान' है, जो कास्पियन समुद्र के पश्चिम की ओर बाकू के साथ लगा है। यह नाम कालान्तर में अवेस्ता के उक्त नाम का रूपांतर प्रतीत होता है। पर वक्षु नदी कास्पियन सागर से पूर्व की ओर है। तब अवेस्ता की तीसरी गाथा में कहीं सर्वप्रथम सृष्टि को बाल्हीक के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। यह एक विचारणीय बात है।

डॉक्टर महोदय ने 'सप्तसिन्धव' को आर्यों का मूलस्थान माना है, जो अवेस्ता के इस लेख के विरुद्ध जाता है। इसका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है, कि वेदों के अनुसार आर्यों का घर सतप्सिन्धव ही प्रतीत होता है, ऐसी दशा में अवेस्ता की केवल एक गाथा के संदिग्ध अर्थ के आधार पर निर्णय नहीं हो सकता। (पृ० ३३)।

कदाचित् डॉक्टर महोदय ने और उन सब विद्वानों ने—जिन्होंने अवेस्ता की इस गाथा पर विचार किया—ऐसा समझा प्रतीत होता है, कि गाथा का यह वर्णन समस्त मूल आर्यजाति के विषय में है। वस्तुतः ऐसा समझना भ्रान्तिपूर्ण है। अवेस्ता ग्रन्थ आर्यों की एक शाखा का है, मूल आर्यों का यह धर्मग्रन्थ नहीं है। यह वर्णन आर्यों की उसी शाखा के विषय में है, जो वैदिक आर्यों से छिटक कर पहले-पहल उस प्रदेश में जाकर बसी, अथवा वहाँ बस कर कुछ निवास के स्थायित्व का उसने अनुभव किया, उसका नाम 'आर्यनिवास' या इसी से मिलता जुलता रक्खा, जो अवेस्ता में उक्त नाम से उल्लिखित है, इसी कारण यह उनके निवास का प्रथम स्थान कहा गया। कालान्तर में यह स्थान भी उस शाखा के आर्यों को छोड़ना पड़ा। छोड़ने का जो कारण वहाँ बतलाया गया है, उससे

भी यह अनुमान होता है कि पर्याप्त समय तक वे लोग उस प्रदेश में रह सके होंगे। छोड़ने का कारण अंग्रमैन्यु द्वारा नदी में सर्प उत्पन्न कर देना और जाड़े का ऋतु उत्पन्न किया जाना बताया है।

'सर्प' पद पर टिप्पणी करते हुए डॉक्टर महोदय ने लिखा है,—'अरक्सीज नदी के किनारे सर्प मिलते हैं।' पर यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, सर्प सब जगह रहते हैं, और उनका रहना मानव निवास को असंभव नहीं बना सकता, इसका कोई अन्य अभिप्राय होना चाहिए। इसके लिए एक महत्त्वपूर्ण बात डॉक्टर महोदय ने वहीं लिखी है कि अवेस्ता की मूल गाथा में यहाँ 'अहि' पद है, और वेद में 'अहि' पद वृत्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। वेद में वृत्र मेघ है, यह स्पष्ट है। इस आधार पर अवेस्ता की उक्त गाथा का मैं यह अभिप्राय समझा हूँ, कि 'अहि' उत्पन्न करने का तात्पर्य अधिक वर्षा होने से है। यह संभव है, कि कालान्तर में वहाँ ऐसा ऋतु विपर्यय हुआ हो, जिससे वहाँ वर्षा अत्याधिक होने लगी हो, तथा उसके कारण शीताधिक्य भी होने लगा हो, इस कारण बढ़ती हुई आबादी के लिये वह प्रदेश सुविधाजनक न रहा हो।

उन्नीसवीं गाथा का उल्लेख पहले हुआ है, जिसमें 'हप्त हिन्दू' नाम आया है। उस प्रदेश को छोड़ने का कारण वहाँ स्त्रियों में असाधारण प्रसव होना बताया है। इसका यही अभिप्राय समझा जा सकता है, कि वहाँ आबादी अत्यधिक बढ़ गई थी। जिनको वहाँ निवास की सुविधा न रही वे अन्यत्र चल पड़े। जहाँ जाकर बसे, पुरानी स्मृतियों का उल्लेख किया, आर्यों की इस शाखा का नाम आगे जाकर पारसी कैसे हो गया, इसका इतिहास मेरे लिये अज्ञात है, धर्मग्रन्थ का नाम 'जेन्द अवेस्ता' कहा जाता है। 'जेन्द' पुरानी ईरानी भाषा को कहते हैं। जिसे पारसियों के पूर्वज बोलते थे, यह संस्कृत से बहुत मिलती है, अवेस्ता ग्रन्थ इसी भाषा में लिखा गया है। यह पद 'सिन्ध' अथवा 'सिन्धु' शब्द का स्मरण कराता है। इससे अनुमान होता है, कि आर्यों की इस शाखा ने जब उस प्रदेश को छोड़ा, तब वहाँ की लोक-भाषा 'सिन्ध' या 'सिन्धु' नाम से कही जाती होगी, कालान्तर में जिसका 'जेन्द' रूप बन गया। इस सब विवेचन से स्पष्ट होता है, जहाँ आर्यों का मूल निवास था, वहाँ सात नदियों का बहाव अवश्य रहा होगा, वहाँ की बोलचाल की भाषा का नाम 'सिन्धु' पद

से मिलता जुलता होना, प्रदेश के ऐसे नाम को प्रकट करता है। ऐसी स्थिति में चाहे वेद में एकपद रूप में 'सप्तसिन्धव' पद न हो, और अन्यत्र भी भारतीय साहित्य में देश नाम से इसका प्रयोग न हुआ हो, पर उस मूल स्थान से बाहर गई हुई आर्यों की शाखा ने प्रदेश की नैसर्गिक स्थिति का स्मरण कर उसको 'हप्त हिन्दू' नाम दिया। वह संकेत पाकर हम उसे 'सप्तसिन्धव' कहने लगे।

'सप्तसिन्धव' प्रदेश पर अन्य विचार—इस भूखण्ड की सीमाओं का वर्णन जो पीछे किया गया है, उसमें कश्मीर और पंजाब का प्रदेश आता है हम इस बात को मान कर आगे चल रहे हैं, कि 'सप्तसिन्धु' अथवा सप्तसिन्धव' आदि पदों से जो वर्णन वेदों में हुआ है, वह किन्हीं सात नदियों का वर्णन है, जो जलधारा रूप में भूमण्डल पर बहती हैं। ऐसा मानना ठीक है या नहीं, इस पर विचार करना यहाँ हमारा लक्ष्य नहीं है। सप्तसिन्धव प्रदेश की कल्पना करने वाले विद्वानों ने सरस्वती की घाटी से लगाकर सिन्धु तक के प्रदेश को तथा उससे भी पर्याप्त पश्चिम तक के प्रदेश को जिसमें वर्त्तमान अफगानिस्तान का अधिक भाग आ जाता है, आर्यों का आदिदेश बताया है पर इसमें भी सात नदियों के भाग को मुख्य मान कर सोचें, तो सरस्वती से सिन्धु तक के प्रदेश में आर्यों की बस्तियाँ रही होंगी, ऐसा मानना होगा।

यह भूभाग पर्याप्त विस्तृत है, इसमें आर्यों अथवा मानव का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव कहाँ हुआ ? इसका संकेत किया जाना संभव नहीं। यह कहना कल्पनीय होगा, कि इतने समस्त विस्तृत प्रदेश में आर्यों का अथवा मानव का प्रादुर्भाव हुआ। वेद के आधार पर 'सप्तसिन्धव' की कल्पना हम इसी भावना से करते हैं, कि वह आर्यों का सर्वप्रथम आदिदेश अथवा निवास है। यदि यह कहा जाय, कि वेदों का वर्णन उस समय का है, जब आर्य इतने विस्तृत प्रदेश में फैल गये थे, तब इतने प्रदेश को आर्यों का आदिदेश नहीं कहा जाना चाहिए। आदिदेश उसी को कहना ठीक होगा, जहां सर्वप्रथम आर्यमानव का प्रादुर्भाव हुआ, यह भले ही ठीक हो, कि सप्तसिन्धव की पूर्ववर्णित सीमाओं के बाहर से आकर यहां आर्य न बसे हों, पर उनके अन्दर भी इतने अधिक विस्तृत भूभाग को आदिदेश नहीं कहा जा सकता। वह प्रदेश इन सीमाओं

के अन्दर या साथ ही कहीं होना चाहिए, जिसका विस्तार अपेक्षाकृत अति लघु हो।

इसके अतिरिक्त सरस्वती से सिन्धु तक के प्रदेश को आदिदेश मानने में एक और बड़ी बाधा है। वह यह कि वेदोक्त नदी वर्णन से इसका सामञ्जस्य बैठना कठिन है। नदियों के वर्णन विभिन्न ऋषियों द्वारा हुए हैं। नदीसूक्त (ऋ० १०/७५) का ऋषि प्रियमेध का पुत्र 'सिन्धुक्षित्' है। इस नाम के आधार पर हम यह कल्पना कर सकते हैं, कि उसका निवास कहीं सिन्धु तट पर रहा होगा। इस सूक्त में अनेक नदियों का उल्लेख अवश्य है, गंगा और जमुना का भी है; पर 'सप्तसिन्धव' रूप में वर्णन नहीं है, जहां पर 'सप्तसिन्धून्' अथवा 'सप्तसिन्धवः' आदि पद आये हैं, वहां प्रायः किसी विशेष नदी का नामोल्लेख नहीं किया गया। उन सूक्तों के ऋषि भी अन्य हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें से कौन किस नदी के तट पर बसा था, अथवा नदी से दूर किस दुआबे में बसता था इस लेख में प्रथम जो ऋचा दी गई है, उनमें एक का ऋषि 'प्रियमेध' है, जो नदीसूक्त के ऋषि 'सिन्धुक्षित्' का पिता प्रतीत होता है; दूसरी ऋचा का ऋषि 'हिरण्यस्यप' है, ये दोनों 'अङ्गिरस्' के पुत्र हैं। इससे अनुमान होता है, कि ये सब एक परिवार के व्यक्ति हैं। कदाचित इनका निवास एक ही जगह होगा। इनके अतिरिक्त 'सप्तसिन्धवः' रूप में वर्णन करने वाले ऋषि गृत्समद (ऋ० २/१२/३, १२)' वामदेव (ऋ० ४/२८/१) आदि हैं। इनका निवास कहां होगा, यह कहना संभव नहीं पर इन सब ही ऋषियों का 'सप्तसिन्धु' विषयक वर्णन दृग्गोचर जैसा है।

जल से भरे बादलों का उमड़-घुमड़ कर आना, उनका गरजना, बिजली का कड़कना, उनसे जलधारा का फूट पड़ना, और फिर उस जल का सप्त-सिन्धुओं (सातों नदियों) में प्रवाहरूप से बह निकलना, यह ऋषियों का दृग्विषय वर्णन है (आर्यों का आदिदेश, पृ० ३५)। समस्या यह है, किसी एक स्थान पर रहते हुए व्यक्ति के लिये आसमान से मूसलाधार बरसते पानी का सात नदियों में बहना दृग्विषय कैसे है? यदि यह कहा जाय, कि जब पानी भू पर बरसता है, तो वह नदियों में बहता ही है, एक जगह देख कर भी सामान्य रूप से सब जगह बहने का कथन किया जा सकता है। तब ऐसी स्थिति

में सात का ही उल्लेख क्यों ? या तो उस प्रदेश में जितनी नदियां थीं, सब को ठीक गिन कर उतनी संख्या का निर्देश किया जाता, अथवा सामान्य रूप से कहने पर संख्या का निर्देश अनपेक्षित था। विशिष्ट संख्या का निर्देश इस बात का अनुमान कराता है, जहाँ सात नदियों का अधिक से अधिक सामीप्य हो, तथा बरसते जल का सात नदियों में प्रवाहित होना यथाकथंचित् दृग्विषय हो सकता हो। ऐसा प्रदेश कहाँ है, इसकी खोज करनी चाहिए, सरस्वती से सिन्धु तक फैले प्रदेश—जिनमें पंजाब व कश्मीर सम्मिलित है—की नदियों में वेदोक्त नदी वर्णन के दृग्गोचर होने का ताल-मेल बैठाया जाना कठिन है।

हिमालय केन्द्र में सप्तसिन्धव—जब हम विस्तृत वर्त्तमान हिमालय के मध्य भाग पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें छोटी सीमाओं में ही एक ऐसा प्रदेश दिखाई देता है, जहाँ बड़ी सात नदियां अधिक से अधिक समीप हैं। उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों का उद्गम—जो वर्त्तमान में पच्छिम-दक्खिन और पूरब की ओर बह रही हैं—हिमालय के एक थोड़े से भाग में सीमित है। वे नदियां हैं—सिन्धु, सतलुज, सरस्वती, यमुना, गंगा शारदा (पर्वतीय अंदरूनी भागों में 'काली' नाम) और ब्रह्मपुत्रा। इन नदियों के उद्गम स्थानों की अधिक से अधिक दूरी वर्त्तमान काल में लगभग डेढ़ सौ मील के अन्दर सीमित है। इतना अन्तर भी एक पूरब और पच्छिम की दो नदियों के उद्गम स्थानों का ही है, अन्य नदियों का अन्तर तो बहुत ही कम है। यह संभव है, अधिक पुराने काल में उन दो नदियों की दूरी का अन्तर भी कम रहा हो। यदि सिन्धु से लगा कर ब्रह्मपुत्रा तक प्रत्येक नदी के उद्गम स्थान को छूते हुए एक रेखा खींची जाय, तो उसकी आकृति लगभग घोड़े की नाल के समान बन जायेगी। अति प्राचीन काल में यहाँ छोटा सा समुद्र अथवा पर्याप्त बड़ा एक सर था, पुराने भारतीय साहित्य में जिसका 'बिन्दुसर या 'ब्रह्मसर' नाम आता है। वर्त्तमान में यह प्रदेश कैलास मानसरोवर और उसके आसपास का इलाका है। मानस सर और राक्षसताल उसी प्राचीन विस्तृत सरोवर के अवशिष्ट चिन्ह हैं।

किसी अन्तराल काल में आकस्मिक रूप से अथवा धीरे-धीरे भौगोलिक

उथल-पुथल ने उस प्रदेश की परिस्थिति में अब बहुत अधिक अन्तर ला दिया है। ऐसी ही किसी विकराल भौगोलिक दुर्घटना में सरस्वती नदी के प्रदेश उथल गये, उसके स्रोत रुद्ध हो गये या परिवर्तित हो गये, अब कहीं-कहीं चिन्हमात्र अवशिष्ट हैं। सरस्वती का उद्गम स्थान अब भी देखा जा सकता है, उसके प्रवाह की दिशा बदल गई है, और वह कुछ मील चल कर गंगा की मुख्य धारा में मिल जाती है। इस प्रकार कैलाश मानसरोवर और उसके आसपास का प्रदेश—जो कुछ पच्छिम की ओर को अधिक फैला हुआ था—उस समय का 'सप्तसिन्धव' रहा होगा, ऐसी संभावना की जा सकती है। इसी प्रदेश में कहीं आर्यों का अथवा मानव का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ, यही उनका आदिनिवास रहा होगा। कालान्तर में आर्यों की कुछ शाखा पच्छिम की ओर बढ़ती गई, और कुछ गंगा, यमुना, सरस्वती तथा सतलज की घाटियों में होकर धीरे-धीरे दक्षिण की ओर फैलती रहीं। नीचे मैदानी इलाकों तक पहुंच कर ये फिर पच्छिम की ओर बढ़ती रहीं। इन सब का फैलने का रुख पश्चिम की ओर अधिक रहा, संभवतः सहस्रों सदियों में फैलते-फैलते इनके परिवार-वर्त्तमान अफ़गानिस्तान व हिन्दुकुश के आस-पास के भागों तक बस गये।

आबादी के इस विस्तार में जहाँ जनसंख्या का अधिक बढ़ जाना कारण रहा, वहाँ अनेक बार परस्पर संघर्ष का हो जाना भी कारण रहा। इस परिस्थिति में जिन आर्यशाखाओं को अपना स्थान छोड़ना पड़ा, उनको लगा-तार दूर का सफर करने के बाद ही कहीं आश्रय मिल पाया; ऐसी हालत में यह भी संभव है, कि अनेक शाखा दीर्घकाल तक अपना मूल स्थान छोड़ने के बाद अनेक स्थानों में भटकती फिरती रही हो। ये शाखाएं दूर पच्छिम की ओर बढ़ीं, और इन्हीं के भाग वर्त्तमान यूरोप और एशिया के पच्छिमी भागों में फैल गये। यह लाखों वर्षों की कहानी है।

विषय का निगमन—उपर्युक्त सात नदियाँ वर्त्तमान हिमालय और उसके समीप के जिस प्रदेश से निकलती थीं, वह और उनके आसपास का फैला भूभाग मेरे विचार से वैदिक साहित्य का 'सप्त-सिन्धु' अथवा 'सप्त-सिन्धव' था। वर्त्तमान पंजाब का बहुत थोड़ा पूर्वोत्तरी भाग इस प्रदेश के अन्तर्गत था, वर्त्तमान उत्तर प्रदेश का दूरवर्त्ती पश्चिमोत्तरी भाग तथा वर्त्तमान तिब्बत का

मानसरोवर से दूर तक फैला हुआ कुछ उत्तरी एवं अधिक पश्चिमी भाग और कश्मीर का लद्दाख आदि भाग तत्कालीन 'सप्तसिन्धु प्रदेश में सन्निविष्ट था। मेरे विचार से मानव अथवा आर्यों की उत्पत्ति या प्रादुर्भाव का आदि स्थान मानसरोवर के अधिक समीप का उतना भूभाग रहा होगा, जिसमें सात नदियों के उद्गम स्थान सीमित थे। वेदों का इस विषय का वर्णन—जिसे उन ऋषियों के दृग्विषय जैसा माना जाता है, यहीं पर घटित होना अधिक समंजस प्रतीत होता है। उस वर्णन का सन्तुलन जितना अधिक इस प्रदेश के अनुकूल पड़ता है, उतना अन्यत्र नहीं।

ब्रह्मसर तथा उससे संबद्ध सात नदियों का वर्णन रामायण, महाभारत तथा पुराण साहित्य में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, जिसे उक्त वैदिक उल्लेखों का विवरण रूप ही समझना चाहिए। इसके लिए मुख्य रूप से कतिपय स्थल (रामायण, बाल० ४३/११-१४; म० भा०, सभा० ३/११, भीष्म० ६/४३-४५,४८-४६ ; वन० ८७/६, ८८/३; पद्म पुराण आ० खं० ३/५६-६६; वायु० पु० ४७।४३; मार्क० पु० ५५/३; मत्स्य पु० १२०/१६१८ आदि) द्रष्टव्य हैं। इन सब वर्णनों का संक्षेप में सारभाग इतना है—महादेव ने ब्रह्मसर में गंगा को छोड़ा। वह सर गंगा के वेग को न संभाल सका, तब वह सात धाराओं में विभक्त होकर बह चली। इस कथन को ध्यानपूर्वक विचारने पर प्रतीत होता है, ब्रह्मसर (पुराणों में इसका बिन्दुसर अथवा विष्णुसर नामान्तर) नामक कोई विशाल सरोवर (झील अथवा छोटी समुद्र) वहाँ रहा होगा; महादेव, परमात्मा है, वह अपनी व्यवस्थानुसार यथाकाल तीव्र वर्षा के रूप में आकाश से गंगा ब्रह्मसर में छोड़ता है। तीव्र वर्षाओं का जल वहाँ से सात धाराओं में विभक्त होकर बहने लगता है। यही उस वर्णन का सार है। वर्षारूप में आकाश से बरसने वाले जलों को पुराण (स्कन्द, वै० खं० वेंकटाचल महात्म्य, अ० ४०) में गंगा अथवा आकाश गंगा के रूप में ब्यान किया गया है। वैदिक 'वृत्र इन्द्र संघर्ष' यास्क आदि के अनुसार वर्षा का वर्णन है। वैज्ञानिकों ने मालूम किया है, तथा भारतीय साहित्य में इसके उल्लेख मिलते हैं, कि मनुष्य के आदि युग में कैलास-मानसरोवर का यह प्रदेश समशीतोष्ण जल-वायु से युक्त था, मानव-प्रादुर्भाव के लिए सर्वोत्तम

तथा उप्युक्त साधन सम्पन्न ।

बाद के वैदिक साहित्य तथा अन्य भारतीय साहित्य में इस प्रदेश को 'देवलोक' के नाम से आदर पूर्वक स्मरण किया गया है (ताण्डय० २५/१०/१२-२३) । मनुस्मृति (२/१७) में ब्रह्मावर्त देश की सीमा बताते हुए सरस्वती और दृषद्वती (गंगा) नदियों को 'देवनदी' लिखा है, जो इनका उद्गम 'देव-लोक' से होने का संकेत करता है । वहीं (मनु० २/१७) पर ब्रह्मावर्त देश को 'देवनिर्मित' कहा गया है, जो इस बात का संकेत कर रहा है, कि देवलोक (कैलास-मानसरोवर, अथवा वैदिक 'सप्तसिन्धु' प्रदेश) से फैलते-फैलते जो प्राचीन आर्य (देव) यहाँ बस गये थे, उन्हीं के द्वारा यह प्रदेश निर्मित है । यह उसके प्रति आदरभाव व प्रतिष्ठा का द्योतक है । यह सब प्रस्तुत होने पर भी 'सप्त-सिन्धव के विषय में और अधिक विचार किये जाने की काफी गुंजायश है ।



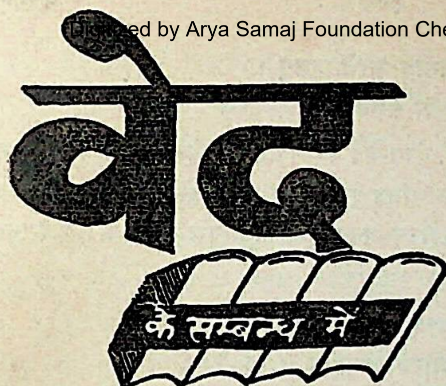
वैदिक प्रार्थना

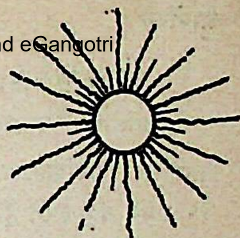
१. आ देवानामपि पन्थामगन्म

[ऋ १०।२।३]

हम [देवानाम्] देवों के—निष्काम ज्ञानियों के, वेद-प्रापक ऋषियों के [पन्थाम] मार्ग पर [अपि] ही [आगन्म] चलें ।

प्रभो ! ऐसी कृपा कर कि हम तेरे प्यारों के मार्ग का अनुसरण कर सकें ।





महापुरुषों के विचार

पं० मुनीश्वर देव 'सिद्धान्त शिरोमणि'

आज आवश्यकता है उस भावना को जन-मानस-पटल पर अंकित करने की, जिस सद्भावना से प्रेरित हो कर हमारे पूर्वज महापुरुषों ने परम पवित्र वेदों की प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित किया। पूर्वजों की धारणाएं इस प्रकार थी—

प्रथम मनुमहाराज का मत देखिए—

—वेदोऽखिलो धर्म मूलम्—मनु० २-६

अर्थात् सम्पूर्ण वेद ही धर्म का मूल—आदि स्रोत है।

—धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति—२-१५

अर्थात् धर्म के सत्यस्वरूप को जानने की इच्छा रखने वालों के लिए पवित्र श्रुति—वेद ही परम प्रमाण है।

—नास्ति को वेद निन्दक—२-११

अतः नास्तिक वही कहलाता है जो वेद की निन्दा करता है।

—वेदश्चक्षुः सनातनम्—१२-९४

सचमुच वेद ही भूत-वर्तमान और भविष्य गर्भित सत्य तत्त्वों का दर्शक-दर्पण है।

—योऽनधीत्य द्विजो वेद मन्यत्र कुरुते श्रुतम् ।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। २-१६८

अर्थात् जो द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-वेद को न पढ़ कर अन्य ग्रन्थों में परिश्रम कर समय नष्ट करते हैं, वह वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त होते हैं। अतः द्विजत्व की रक्षा के लिए वेद का पठन-पाठन श्रवण श्रावण द्वारा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक एवं अनिवार्य है।

—सैनापत्यं च राज्यं च दण्ड नेतृत्वमेव च ।
सर्व लोकाधिपत्यं च वेद शास्त्र विदर्हति ।। १२-१००

निस्सन्देह सेनापति, प्रधानमंत्री, दण्डाधिकारी-न्यायाधीश, और राष्ट्रपति के उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों को वेद शास्त्र का जानने वाला ही उत्तमता से करने योग्य हो सकता है। अन्य नहीं।

—ऋग्वेद विद् यजुर्विच्च सामवेद विदेव च। १२-११२
त्र्यवरा परिषद् ज्ञेयाधर्म संशय निर्णये ।।

राष्ट्रपति का कर्त्तव्य है कि धर्म सम्बन्धी संशयों के निवारणार्थ एक परिषद का निर्माण करे जिसमें ऋग्वेदादि के ज्ञाता तीन विद्वान् हों। वह जो निर्णय दें उसे सर्वोच्च एवं सर्वमान्य माना जावे !

धर्म के सत्य स्वरूप की परख के चार प्रमुख साधन—कसौटियां-हैं, उनमें वेद को ही प्राथमिकता प्राप्त है जैसा कि आप ने लिखा है—

—वेदः स्मृति सदाचार. स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।। २-१२

इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है कि आदि धर्मशास्त्र प्रणेता भगवान् मनु की दृष्टि में वेद को ही सर्वोच्चता एवं स्वतः प्रामाणिकता प्राप्त थी, वह वेदानुकूल विचार को संग्राह्य और वेद प्रतिनुकूल विचार को संत्याज्य मानते थे।

महात्मा कपिल मुनि का मत—

महर्षि कपिल को पाश्चात्य एवं उनका अन्धानुकरण करने वाले तथाकथित भारतीय विद्वान नास्तिक कहते हैं, यह आश्चर्य और खेद की बात है। क्योंकि

ईश्वर और वेद के विरोधी को नास्तिक कहा जाता है। और महर्षि कपिल ईश्वर और वेद दोनों पर पूर्ण श्रद्धावान दिखाई देते हैं, जैसा कि उनके सांख्य शास्त्र के पंचमाध्याय में स्पष्ट लिखा है :—

सहि सर्ववित सर्वकर्ता।

निस्सन्देह वह ईश्वर सर्वज्ञ और समस्त लोक लोकान्तरों का रचयिता है पुनः मुक्ति प्राप्ति के साधनों पर विचार करते हुए लिखा है, कि

—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

अर्थात् विना ब्रह्म-ज्ञान के मुक्ति प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। यह कथन यजुर्वेद अ०३१ मं०१८ (तमेव विदित्वातिमृत्यु मेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय) के अक्षरशः अनुकूल है। तथा वेदोक्त सिद्धान्त का सर्वथा समर्थक है। अब लीजिए उनकी वेद के प्रति सत्यनिष्ठा का प्रमाणः—

—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। ५। ४६

अर्थात् वेद अपौरुषेय—पुरुष विशेष की रचना नहीं, क्योंकि उस के रचयिता किसी पुरुष के नामोल्लेख का उस पर चिन्ह तक नहीं मिलता। जैसा कि रघुवंश ग्रन्थ पर लेखक रचयिता कवि कालिदास का नाम है क्या इसी प्रकार किसी रचयिता पुरुष का नाम ऋग्वेदादि संहिता पर मिलता है। इसी से सिद्ध है कि महात्मा कपिल वेदों को अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने में भला इस से बढ़ कर और कोई प्रबल तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है ? इसके अतिरिक्त कपिल मुनि और लिखते हैं—

—निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ५।५।

अर्थात् परमेश्वर की जो स्वाभाविक विद्या शक्ति है, उससे वेद प्रकट होने से यह नित्य और स्वतः प्रमाण है।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि महर्षि कपिल जी ईश्वर व वेद के भक्त थे, पूर्ण आस्तिक थे, उन्हें नास्तिक लिखना कहना व मानना सर्वथा तथ्य हीन है।

अब महर्षि कणाद का विचार सुनिये—

—तद् वचनादा माम्नायस्य प्रामाण्यम् १। १। ३

अर्थात् वेद ईश्वरीय वाणी होने के कारण नित्य एवं स्वतः प्रमाण है।

—बुद्धि पूर्वा वाक्य कृति वेदे।

अर्थात् वेदों की जो वाक्य रचना है, वह सर्वथा बुद्धि, विज्ञान और युक्ति युक्त है। क्योंकि वेद-ज्ञान दाता का परमेश्वर ज्ञानमय है।

अब वेदान्त शास्त्र के रचयिता महर्षि व्यास जी का मत देखिये—

—शास्त्रयोनित्वात्। १-१-३

अर्थात् सूर्यवत् सर्व सत्यार्थ प्रकाशक एवं अनेक विद्याओं से युक्त ऋगादि वेद चतुष्टय का कारण सर्वज्ञादि गुण विशिष्ट परमेश्वर ही है।

गौतम मुनि जी का वेद विषयक मन्तव्य था—

—मंत्रायुर्वेद प्रामाण्य वच्चत प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यात्।२।१।३

अर्थात् ब्रह्म आदि सब आप्त जन वेदों को नित्य मानते आये हैं। अतः वेदों को आयुर्वेद की भांति धर्माधर्म के विषय में प्रामाणिक एवं नित्य ही सब मनुष्यों को मानना व जानना चाहिए।

पुराण रचयिता की वेद विषयक धारणा—

—वेदे न विहितं कर्म तन्मन्ये मंगलपरम्।

अवैदिक तुयत्कर्म तदेशशुभमेवच॥ ब्रह्मवैवर्त पुराण

अर्थात् वेद विहित कर्मानुष्ठान ही मंगलकारी है। और जो वेद विरुद्ध कर्मानुष्ठान है, वह सर्वथा अशुभ और अहित कर है।

—नहि वेदात्परं शास्त्रम्। गरुड़ पुराण

अर्थात् वेदों से उत्तम कोई अन्य शास्त्र नहीं है।

—सारभूताश्च शास्त्राणां वेदाश्चत्वार एव च। भगवत पुराण—

अर्थात् सब शास्त्रों में साररूप कोई शास्त्र है तो वह केवल चार वेद ही हैं।

—परोक्ष वादो वेदोऽयं वालानामनु॥ शासनम् भागवत

अर्थात् जो यह कहते हैं कि वेदों में केवल परोक्ष की बातें हैं वह सर्वथा अज्ञानी हैं वह वेदों की शैली व शिक्षा से अनभिज्ञ हैं।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थकार, उपनिषत्कार, स्मृतिकार, सूत्रकार एवं अन्यान्य अनेक गण्यमान्य पूर्वजों के विचार वेद के विषय में महत्वपूर्ण हैं, तथा अनुकरणीय व विचारणीय हैं।

महामहिम महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की अवधारणा—

—जैसे माता-पिता अपने संतानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा कर के वेदों को प्रकाशित किया है। जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रम जाल से छूट कर विद्या विज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त हो कर अत्यानन्द में रहें, और विद्या तथा सुखों का वृद्धि करते जावें। (सत्यार्थ प्रकाश)

—जो परमेश्वर वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न कर सके, इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार सब मनुष्यों को चलना चाहिए। (स०प्र०)

जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल अग्नि वायु, और सूर्यादि पदार्थ सबके लिये बनाए हैं वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किए हैं। (स०प्र०)

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त का मत है कि वेद विरुद्ध का न मानना वेदानुकूल का ही आचरण करना धर्म है। (स० प्र०)

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। (आर्य समाज का तीसरा नियम)

यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्त्र वर्षों के पूर्व वेद मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था। (स०प्र०)

यह हैं वह पूर्वजों के कुछ प्रवचन व उदाहरण जिनसे उनकी वेद के प्रति श्रद्धा, निष्ठा और विश्वास एवं आदर भाव पदे-पदे प्रकट होता है।

परन्तु इसके विपरीत विदेशी स्वदेशीय तथाकथित कुछेक विद्वान् जो मनसा-वाचा-कर्मणा ईसाइत का प्रचार- व प्रसार सर्वत्र चाहते थे और ऋषि सन्तान के मानस पटल पर ईसाइत की छाप-प्रभाव-बिठाना चाहते थे, उन्होंने जाने-अनजाने वेदों के विषय में निराधार एवं कपोल कल्पित अनेक प्रकार की मिथ्या भ्रान्तियां के लाने में ही अपना सारा जीवन लगाया व लगा रहे हैं।

उनके प्रचार का सार यह है—

—वेद गड़रियों के गीत हैं।

—वेद इतिहासों, कथा-कहानियों से भरे पड़े हैं।

—वेदों में नर बलि व पशु बलि का विधान है।

—वेदों के मानने वाले आर्यों का प्रिय भोजन गोमांस और प्रिय पेय मदिरा है। अतिथियों के लिए विशेष रूप से गोमांस परोसा जाता है।

—वेदों में बहुदेवता पूजा का विधान है, एकेश्वर पूजा का कहीं उल्लेख नहीं है।

—वेदों के रचयिता भिन्न भिन्न ऋषि हैं।

—वेदों का प्रकाश एक काल में नहीं हुआ।

—ऋग्वेद का ९ वां व १० वां मण्डल प्रक्षिप्त है।

—अथर्ववेद का १९वां तथा २० वां काण्ड प्रक्षिप्त हैं। यही हैं वह विदेशियों के वेद विरोधी विचार, जिनका वैदिक विद्वानों को अनुसन्धानपूर्वक एवं तर्कसंगतरीति से समाधान करके लेखनी व वाणी द्वारा प्रचार करना चाहिए, मेरी दृष्टि व अल्पमति में यही सरल मार्ग है जिस पर चल कर हम ऋषि ऋण से उऋण हो सकते हैं।

अतः वेद के स्वाध्याय और अनुशीलन में सदा कटिबद्ध रहने की आवश्यकता है। पूर्वजों जैसी श्रद्धा जब तक हममें न होगी तब तब हमारा कल्याण व उद्धार भी न हो सकेगा और न ही हम वेद के सत्यार्थ को जन साधारण के लिए आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बना सकेंगे।

वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सभी आर्यों का परमधर्म है



वेदों की विशेषताएं

—— पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

●

संसार में अनेक ग्रन्थ उन के मानने वालों द्वारा ईश्वरीय ज्ञान कहे जाते हैं तब प्रश्न उठता है कि वेदों में ऐसी क्या विशेषता है कि वे ही मान्य है। हमें मान्य हैं, अन्यथा इस प्रश्न का उत्तर विद्वान लेखक द्वारा जानिए— —सम्पादक

●

हमारे पारसी, ईसाई और मुसलमान भाई भी ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं अतः इसके समर्थन में युक्तियाँ देने की यहाँ आवश्यकता नहीं प्रतीत होती किन्तु जिस एक बड़ी बात को ये विविध मतानुयायी भूल जाते हैं वह यह है कि यदि परमेश्वर निष्पक्षपात, सब मनुष्यों का पिता है तो उसे यह पवित्र कल्याणकारक सार्वभौम ज्ञान मार्ग-दर्शक के रूप में सर्वलोक कल्याणार्थ मानवसृष्टि के प्रारम्भ में ही देना चाहिए। यदि मानव सृष्टि के प्रारम्भ में ऐसा पवित्र परोपकारक ज्ञान देकर परमेश्वर करोड़ों वर्षों के पश्चात् वह ज्ञान देता है तो यह उसका पक्षपात ही समझा जायगा। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान प्रो० मैक्समूलर ने स्वयं कट्टर ईसाई होते हुए भी इस युक्ति को इन शब्दों में प्रकट किया था।

"If there is a God who has created heaven and earth, it will be unjust on his part if He depirves millions of souls born before moses, of His Divine knowledge. 'Reason and comparative study of religions declare that God gives His Divine knowledge to man kind from his first appedrence on earth." Prof. Max Muller in 'Science of Religions'

अर्थात् यदि पृथ्वी और आकाश का निर्माता कोई ईश्वर है तो उसके लिए यह अन्यायपूर्ण बात होगी कि वह मूसा की उत्पत्ति से पूर्व लाखों जीवों को अपने ज्ञान से वंचित रखे। तर्क और धर्मों का तुलनात्मक अनुशीलन् दोनों घोषित करते हैं कि परमेश्वर मानव सृष्टि के प्रारम्भ में ही अपना दिव्य ज्ञान मनुष्यों को देता है।

इस तर्क के आधार पर ही वेद ही ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध होता है जो समस्त आर्यों के परम्परागत विश्वासानुसार नित्य है किन्तु जिसे देश विदेश के अन्य सब विद्वान भी मानव पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं।

वेदों की विशेषताएँ संक्षेप में निम्न हैं :—

(१) वेदों की प्रथम विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान, कर्म और उपासना, व भक्ति का सुन्दर मेल है। केवल ज्ञान, केवल कर्म और केवल भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। तीनों के समुच्चय से ही मोक्ष वा परमानन्द प्राप्त होता है। यह वैदिक धर्म सिखाता है।

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ (ऋग्वेद १.२२.२०) इत्यादि मन्त्रों में

इसी ज्ञान, कर्म, भक्ति के समुच्चयवाद का स्पष्ट प्रतिपादन है। मत मतान्तर के ग्रन्थों में ऐसा समन्वय नहीं पाया जाता।

(२) वेदों की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें श्रद्धा और मेधा (शुद्ध बुद्धि व तर्क) का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। जहाँ वेद हमें

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निमुचि श्रद्धे श्रद्धापयेत नः॥ (ऋ० १०, १५१.५) इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रातः, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय श्रद्धा को धारण करने और जीवन को श्रद्धामय बनाने का उपदेश करते हैं, वहाँ साथ ही वे हमें मेधा व शुद्ध बुद्धि को भी हर समय धारण करने का उपदेश देते हैं :

"मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं प्रति।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचा वेशयामसि। (अ० ६.१०८.५)

इत्यादि मन्त्र इस विषय में स्पष्ट हैं।

प्रातः, मध्याह्न, सायं, सूर्य की किरणों के साथ हम मेधा अथवा शुद्ध बुद्धि व तर्क को धारण करें। हमारे सब विचार और कार्य शुद्ध बुद्धि द्वारा प्रेरित हों यह भाव है। वैदिक धर्म की श्रद्धा अन्ध-विश्वास नहीं है किन्तु उसका शब्दार्थ ही श्रत्+धा अर्थात् सत्य का धारण करना है। शुद्ध बुद्धि व तर्क द्वारा सत्य के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उसे सम्पूर्णतया अपने अन्दर धारण करना, कठिन से कठिन आपत्तियों और प्रलोभनों के आने पर भी उसे न छोड़ना यही श्रद्धा है। वेदोक्त धर्म इस प्रकार श्रद्धा और मेधा (शुद्ध बुद्धि व तर्क) के मेल का उपदेश देता तथा इसी के लिए प्रार्थना करना सिखाता है।

'अग्नये समिधामाहार्षं बृहते जातवेदसे।

स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ॥ (अ० १९.६४.१)

इत्यादि मन्त्रों का यही तात्पर्य है।

'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। (अथर्व १०।२:२६)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा ज्ञानी के लिए मस्तिष्क (दिमाग) और हृदय (दिल) को सीकर काम करने का उपदेश देते हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अन्य मत-मतान्तरों वाले प्रायः कहते हैं कि 'मजहब की बातों में अक़ल का दखल नहीं।' धर्म के विषय में तर्क करने को नास्तिकता का चिन्ह समझा जाता और उसे बुरा माना जाता है, केवल विश्वास (faith) व ईमान पर बल दिया जाता है जिसका परिणाम मरियम कुमारी से ईसा की उत्पत्ति, ४ रोटी के टुकड़ों से हजारों आदमियों का पेट भरना, ईसामसीह का पानी को शराब बना देना, मुर्दों को जीवित कर देना, ईसा का तीसरे दिन कब्र में से निकल पड़ना जैसी प्रकृति नियम विरुद्ध असम्भव बातों को मानना हो जाता है किन्तु वेदोक्त धर्म इस प्रकार की बातों को नहीं मानता। इसकी यह विशेषता है कि यह प्रत्येक बात में बुद्धि और तर्क को काम में लाने का उपदेश देता है।

(३) वेदों की तृतीय विशेषता यह है कि इनमें मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, सब प्रकार के कर्तव्यों का बड़ी उत्तमता से प्रतिपादन किया गया है। इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं

की गई। मत-मतान्तरों के किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का समन्वयात्मक सार्वभौम निरूपण नहीं पाया जाता।

(४) वेदों की चतुर्थ विशेषता यह है कि इनमें शारीरिक, मानसिक आत्मिक सब शक्तियों के सम विकास पर बल दिया गया है।

मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम् ।। (यजु० ६.१५)
वाङ्म आसन् नस्तेः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोकदन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयो प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्माऽनिभृष्ट ।।
(अथर्व १९.६०, १–२)

इत्यादि मन्त्रों में इसी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों के सम विकास का प्रतिपादन और तदर्थ प्रार्थनादि का उपदेश है और इसे ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य बतलाया गया है।

(५) वेदों की पञ्चम विशेषता यह है कि इनमें मध्य मार्ग का प्रतिपादन तथा उनके समन्वयात्मक उपदेश हैं। संसार में प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य मध्य मार्ग का अवलम्बन न करके किसी न किसी पराकाष्ठा पर तुल जाते हैं। उदाहरणार्थ कई पुरुष हैं जो केवल वैयक्तिक उन्नति से ही सन्तुष्ट रहते हैं और सामाजिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। दूसरे कई ऐसे मनुष्य हैं जो पर्याप्त रूप से अपनी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों को विकसित करने का प्रयत्न न करके केवल दूसरों की उन्नति के ही विचार में तत्पर रहते हैं। वेदों में इन दोनों को (जिन्हें असम्भूति और सम्भूति के नाम से कहा जाता है) मिला कर काम करने का

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।। (य० ४.१३)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा उपदेश है।

इसी प्रकार भोग और त्याग के समन्वय का तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। (य० ४.१) इत्यादि में उपदेश है। उनमें धन की निन्दा

नहीं की गई वल्कि 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्। (ऋ० १.१२१.१०) इत्यादि द्वारा धन के स्वामी होने की प्रार्थना की गई किन्तु ऐसे धर्मोपार्जित धन को परोपकारार्थ लगाने की आज्ञा है। वाइविल इत्यादि में धन की निन्दा इस प्रकार के शब्दों में की गई है कि

(It is easier for a camel to enter into the eye of a needle than for a rich man to enter into the Kingdom of God" (Mathew 2317)

अर्थात् यह अधिक सुगम है कि एक ऊंट सुई की नोक में से निकल जाए अपेक्षा इसके कि एक धनी आदमी परमेश्वर के राज्य में प्रवेश कर सके।

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा ही व्यष्टिवाद इत्यादि परस्पर विरुद्ध समझे जाने वाले विविध वादों का उचित समन्वय हो सकता है अन्यथा नहीं।

(६) वेदों की षष्ठ विशेषता इनकी शिक्षाओं का तर्क और विज्ञान सम्मत होना है। वेदों में न केवल धर्म का मूल है अपितु विज्ञान का भी इस बात का प्रतिपादन महर्षि दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और अपने वेदभाष्यों में किया था। श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के प्रमुख सदस्य तथा सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान्, महाराष्ट्र के प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्री नारायणराव भवानीराव पावगी, डा० वी० जी० रेले L. M. F. S., F. C.P .S. श्री पंचम नारायण गौड़ M. A., B. Sc. जगत् विख्यात योगी श्री अरविन्द जी इत्यादि अनेक प्रसिद्ध आधुनिक विद्वानों ने अपने त्रयी परिचय: Vedic Fathers of Geology, the Vedic Gods'—as figures of Biology, the Message of the 20th Century, Dayananda and the Veda इत्यादि ग्रन्थों में वेदों में अनेक विद्वानों का मूल बताते हुए महर्षि दयानन्द के मत का प्रबल समर्थन किया है। जो पौराणिक भाई महर्षि दयानन्द के वेदों के विज्ञानपरक अर्थों का उपहास किया करते थे उनके सर्वमान्य नेता महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने भी अपनी 'भारतीय संस्कृति और वैदिक विज्ञान' में वेदों में अनेक वैज्ञानिक तत्व दिखलाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है तथा दबे शब्दों में सायणाचार्यादि मध्यकालीन भाष्यकारों की त्रुटि को स्वीकार किया है कि उन्हें उस समय की परिस्थिति के कारण विज्ञानपरक अर्थों का भान न हुआ। बाइबिल कुरान इत्यादि में विज्ञान के मूल की तो बात ही क्या करनी, उनमें विज्ञान तथा तर्क विरुद्ध इतनी बातें पाई जाती हैं कि

हिन्देशिया, एरियस, मेस्टर, पैलेगियस इत्यादि दार्शनिकों तथा गैलीलियो, ब्रूनो आदि पृथ्वी को गोल कहने वाले तथा अनेक लोकों को मानने वाले वैज्ञानिकों पर अनेक अत्याचार किये गये जिनका विस्तृत निरूपण विलियम ड्रेयर ने अपनी History of the conflict between Religion and Science' नाम पुस्तक में किया है।

वैदिक धर्म की इस विशेषता का प्रतिपादन इंगलैंड के मनीषी W.D. ब्राउन ने इन स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य वाक्यों द्वारा किया है—

'Vedic Religion is a thoroughly scientific religion where religion and science meet hand in hand. Here Theology is based upon science and philosophy' (W.D. Brow in the Superiority of Vedic Religion)

अर्थात् वैदिक धर्म एक पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जहाँ धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिलाकर चलते हैं। यहाँ धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान और फिलासफी पर अवलम्बित हैं। लुई जैकोलियन नामक फ्रांस के विद्वान् ने सृष्टि उत्पत्ति विषयक मतमतान्तरों के मन्तव्यों का अनुशीलन करते हुए बड़े आश्चर्य के साथ वेदों के विषय में लिखा है कि—

'Astonishing fact ! The Hindu Revelation (Veda) is of all Revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science, as it proclaims the slow and gradual formation of the world' (The Bible in India by Jacolliot Vol. Chap. L.P. 186)

अर्थात् कितनी आश्चर्यजनक सच्चाई है। हिन्दुओं का अभिमत ईश्वरीय ज्ञान (वेद) ही जो लोकों की मन्द और क्रमिक रचना बतलाता है सब ईश्वरीय ज्ञानों में से एक ऐसा है जिसके सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान के साथ पूर्ण रूप से मिलते हैं।

(८) वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद पाया जाता है और ईश्वर 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँशुद्धम पापविद्धम्। (यजु० ४०.८) इत्यादि के अनुसार सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निर्विकार पूर्णानन्दमय है। 'एक एवनमस्यः सुशेवाः' वह एक ईश्वर ही उपासना के योग्य है। इस विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन अन्य किसी भी मतमतान्तर के ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। इसीलिए आर्य समाज के नियमों में मनुष्यों की उन्नति के लिए वेदों का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म बताया गया है।

वेदों में असुरता, दुष्टता और अनीति को कुचलने के प्रेरक सन्देश

श्री प्रो० रामचरण महेन्द्र एम. ए.

धर्म, शान्ति, न्याय इत्यादि की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्र की सुव्यवस्था बनी रहे और किसी प्रकार का आन्तरिक या बाह्य आक्रमण न हो, लेकिन यदि धर्म, न्याय, शान्ति की रक्षा के लिये युद्ध भी करना पड़े, तो वह भी धर्म युद्ध समझा जाय और असुरता को सिर उठाने से रोका जाय। असुरता, दुष्टता और अनीति को रोकने के लिये भारत ने युग-युग से प्रयत्न किए हैं। पाप का उन्मूलन तथा धर्म की रक्षा दोनों के लिए समुचित मनोबल और सामर्थ्य अपेक्षित है। वेदों में असुरता को परास्त करने के लिये शस्त्र सम्भालने और विजय के लिए आगे बढ़ने के प्रेरक सन्देश हैं। देखिए, वेद इस विषय पर क्या दिव्य सन्देश देते हैं।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्राः सन्तु वाहवोऽस्ना धृष्या यथासथ। ऋग्वेद। ८।

अर्थात् हे आर्य वीरो देश और राष्ट्र की रक्षा के हेतु तन्द्रा त्याग उठ कर अग्रगामी बनो। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। तुम्हारी भुजाएं प्रचण्ड पमाक्रम से भर उठें, जिससे तुम कभी जीते न जा सको।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीडू उत प्रतिष्क भे।
युष्माकमस्तु तविसी पनीयसीमा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ऋग्वेद

हे वीर! तुम्हारे अमोघ एवं अभेद्य आयुध शत्रुओं को खदेड़ देने में समर्थ हैं। तुम्हारी सेना, संगठन व शक्ति शत्रु का आक्रमण रोकने में पूर्ण समर्थ

है । अपनी इस (धीरता, वीरता, संगठठन और ऐक्य की शक्तियाँ के कारण) तुम प्रशंसा के पात्र हो ।

जहि त्वं काम मम ये सपत्नाअन्धा तमांस्यव या दयनात् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे, मा ते जीविसु कतमच्चनाह; ।।

अथर्ववेद

संकल्प बल ! अब तू जाग ही उठ ! तू ही मनुष्य तथा किसी जाति के उत्थान का मूल आधार है । जाग ! और अपनी शक्ति से दुराचारी राक्षसों को मार गिरा ।

उन्हें अन्धकार की घोर तमिस्त्रा में फेंक दे । फेंक दे, उन्हें इस जोर से फेंक दे कि उनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो जायें । वे निर्वीर्य हो जायें और एक दिन भी जीवित न रह सकें ।

भावार्थ यह है कि जब दृढ़ संकल्प शक्ति का बल हमारे पास होता है, तो विजय निश्चित है ।

अहमस्मि सहमान, उत्तरो नाम भूम्याम
अभीषा ऽस्मि विश्वाषाड़ाशामाशां विक्षासीह ।।

अथर्ववेद

अर्थात् मैं अपने से टकराने वाले शत्रुओं को चूर-चूर करने वाला वीर हूँ । (चूंकि मैं सत्य, न्याय, धर्म और नीति पर टिका हुआ हूँ) मैं अपने समक्ष शत्रुओं को पराजित कर डालने वाला शक्तिवान साहसी हूँ । वीर भाव के कारण मेरे दृढ़ चरण जिधर अभियान करेंगे, उधर के शत्रु मिट्टी की तरह मसल जायेंगे । में वीर हूँ, साहसी हूँ और सैनिक के समस्त गुणों से युक्त हूँ । उत्कृष्ट हूँ ।

परीहतो ब्रह्मणा बर्मणाऽहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च
मा मा प्रापत्रिषवो दैव्या या, मा धनुसीरवसृष्टा वधाय ।।

-अथर्ववेद

अर्थात् मैं ब्रह्मज्ञान का कवच धारण किए हुए हूँ । मार्तण्ड की प्रचण्ड ज्योति से तेजस्वी हूँ । इन दोनों अमोघ कवच तथा तेज से रक्षित मुझ वीर को दैवी विपत्तियाँ भी विचलित नहीं कर सकतीं । तब भला मानवीय

आपत्तियों की क्या औकात है कि मुझे परेशान करें।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहित:।

—अथर्ववेद

अर्थात् देखलो मैं अकर्मण्य नहीं हूँ। दाहिने हाथ में कर्तव्य है। मैं राष्ट्र के लिये धर्म और नीति के लिये, असुरता को परास्त करने के लिये युद्ध कर रहा हूँ, इसलिए पूर्ण विजय मेरे बांये हाथ की मुट्ठी में बन्द है।

हम जीवन संग्राम में लगातार अपने असुरत्व को दबाते रहें। भौतिक युद्ध तो कुछ समय बाद समाप्त हो जाता है, पर जीवन संग्राम का अन्त जीवन के साथ होता है। प्राणी मात्र को जीवन युद्ध करना पड़ता है। कभी पाँव पीछे हटते हैं, तो कभी दुगुने वेग से हम आगे बढ़ते हैं। कभी जीत होती है तो कभी हारें। वेद का यह सन्देश है कि हम हार न मानें। पराजित हो कर भी कर्म करें। नए उत्साह से पुन: आगे बढ़ें। हम में निरन्तर प्रतिकूलता से संघर्ष करने की शक्ति बनी रहे। हम सहर्ष संघर्ष करते हुए पूर्ण विजयी हों। हमारा सम्पूर्ण जीवन विजयी तथा शत्रुओं से मुक्त रहे।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते।

इन्द्र नृम्णं हि ते शवो, हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।

-ऋग्वेद

वेद कहते हैं—

हे वीर, तेरे शास्त्र (तथा आत्मबल) अप्रतिम हैं। तेरी शक्ति अमोघ है। तेरी विजय अनिवार्य है। तेरी आत्मा और शरीर में शत्रुञ्जयी बल ओतप्रोत है।

तेरी शक्ति का पारावार नहीं है। वह शत्रु को निश्चय ही परास्त कर देने वाली हैं।

तो फिर क्यों व्यर्थ ही मन को छोटा करता है! क्यों कायरता कर रहा है। उठ, और आगे बढ़। आततायियों को मार कर, शत्रु पर पूर्ण प्रहार कर, उन्हें परास्त कर अपनी भूमि और प्रजा को छुड़ा और जीत कर स्वराज्य का संरक्षक बन।

यो न : शपादशपत :, शपतो यश्च न : शपात् ।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं, तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे — अथर्ववेद

देखिए, हम भारतीय संस्कृति के पुजारी सज्जन हैं। हमारी परम्परा के अनुसार हम किसी भी साधुजन को संतप्त नहीं करते। व्यर्थ ही उत्तेजना वश होकर इस किसी को परेशान नहीं करते।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दुर्जन हमें कष्ट दे, तो हम उसे छोड़ दें हम दुर्जन और पर पीड़क को सजा भी खूब देते हैं। शठ को शठता. से ही सजा देते हैं।

हे आततायी ! ऐसे न्याय और शान्ति प्रिय हम लोगों को यदि दुर्वचन कहेगा, तो कुत्ते के समान सूखी रोटी के टुकड़े के समान मैं तुझे मौत के आगे फेंक दूंगा। सजा दिये विना न छोड़ूंगा। शठ के साथ शठता की नीति मैं व्यवहार में लाता हूँ।

योनो दिप्सददिप्सतो, दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयो रग्नेपि दधामि तम् ॥ —अथर्ववेद

अर्थात् किसी को व्यर्थ न सताने वाले हम लोगों को यदि कोई मारने की धमकी देगा, तो हम उसे जलती हुई आग की लपटों में आहुति दे देंगे।

आततायियों के लिए वेद भगवान ने स्पष्ट घोषणा की है।

यदि नो गाँ हंसि, मयश्वं यदि पूरुषम् ।
तंत्वा सीसेन विध्यामो, यथा नोऽसो अवीरहा ॥

हे आततायी ! तू मुझे निस्तेज न समझना।

अपनी यह धारणा छोड़ दे कि तू आकर मुझे सता सकेगा

और यह भी मत समझना कि मैं तेरे अत्याचार को चुपचाप सहन कर लूंगा।

देख, यदि तू मेरी गाय, घोड़े अथवा किसी बन्धु जन की ओर हाथ भी उठायेगा तो मेरे सीसे की गोलियाँ तुझे छलनी बना देंगी।''

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि'
यदीक्षे तद् वनन्ति मा।

त्विषीमानस्मि जूतिमान
अवान्यान् हन्मि दोधतः ।

मैं जिससे बातें करता हूं, मधुरता से करता हूँ।

मैं जिसे प्यार से देखता हूं, उसे अपना बना लेता हूं।

किन्तु इस माधुर्य के साथ—

मुझ में इतना तेज भी है कि जो मेरी ओर क्रोध पूर्वक देखता है, उसे तत्काल मार गिराता हूँ।

वेद में कहा गया है-

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं, विश्वस्येशान ओजसा। वृत्राणि वत्रहन् जहि ऋगवेद

हे पराक्रमी !

अपने प्रताप से अनुगामी बन कर संसार को अनुशासित कर-

और —

संसार से पाप का नाश कर के पुण्य स्थापित कर !

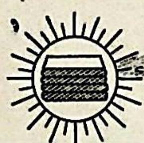
अप त्यं परिपन्थिनं, मुषीवाणं दुरश्चितम् दूरमधिस्त्रु तेरज ॥ ऋग्वेद

हे अग्रगामी ! तेरे पथ में जो भी चोर, डाकू, कुटिल, पापी और राक्षस आवे उसे उठा कर दूर फेंक दे और निर्भीक बढ़ता जा !

वेद संसार का महान् ज्ञान भंडार है। इसमें हर विषय पर मौलिक विचार रत्न भरे हुए हैं हमारे ऋषि मुनि समुन्नत और परिपक्व थे सब से पुराना होते हुए भी वेद सदा सर्वदा नया है। सदा सहायक और पथ प्रदर्शक है।



"वेद" ही संसार में बस, सत्य का भंडार है।
"वेद" ही है शांति दाता, ज्ञान पारावार है॥



वेद पथ

कुसमाकर

'वेद-पथ' निर्णय करेगा, न्याय क्या अन्याय क्या है ?
आज तक समझे न, जीवन का धवल-ध्रुव-ध्येय क्या है ?
चल पड़े पथ पर न समझे, 'श्रेय' क्या है 'प्रेय क्या' है ?
किस लिये आया यहाँ हूँ, चाहिए करना मुझे क्या ?
क्यों पराभव में पड़ा, भव सिन्धु से तरना मुझे क्या ?
सत्य, सुख, सुविधा, सफलता का सबल सदुपाय क्या है ?

प्रिय 'प्रलोभन' के उदधि में एक ऐसा ज्वार आया ।
जो प्रकम्पित प्राणियों में 'हीनता' का भार लाया ।
ऊर्मियाँ 'उत्कोच' की उठती अधम अविचार भरतीं ।
दुष्ट दानवता प्रबल पाखण्ड की बौछार करतीं ।
विधि-विधानों से विहित बोलो, विमल व्यवसाय क्या है ?

बढ़ गईं इतनी महत्वाकाँक्षाएँ आज जन की ।
विश्व के रक्तिम दृगों में तैयारी है गाँव मन की ।
स्वार्थ की उन्मत्त मदिरा मग्न है परमार्थ प्रतिमा ।
भूल भ्रमरी सी भटकती आत्म--गौरव-ज्ञान--गरिमा ।
व्यास'व्यय' का बढ़ रहा है, पर न समझे 'आय' क्या है ?

खिंच गई ऐसी क्षितिज पर आज धूमिल एक रेखा ।
विश्व ने प्यासे दृगों से, एक क्या सौ-बार देखा
द्रोह के द्रुम पर चढ़ी कितनी विषय विषवेलियाँ हैं ।
बह रही है शोण-शोषण, कर रही अठखेलियाँ है ।
कौन समझावे कि अन्तर छिपा अभिप्राय क्या है ?
वेद-पथ निर्णय करेगा, 'न्याय क्या 'अन्याय' क्या है ?

वेदों का काल

—आचार्य प्रियव्रत



भारतीय आर्यों की यह धारणा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अग्नि आदि चार ऋषियों को चारों वेदों का ज्ञान दिया था। भारतीय मन्तव्य और गणना के अनुसार इस वर्तमान सृष्टि को बने हुए विक्रम संवत् २०२२ में १,९७,२९,४९६६ वर्ष हो चुके हैं। इस लिये वेद का उत्पत्तिकाल भी आर्यों में यही माना जाता है। परन्तु आधुनिक पश्चात्य विद्वान् और उन की पद्धाति पर चलने वाले भारतीय विद्वान् वेद को इतना प्राचीन नहीं मानते। इन लोगों की दृष्टि से वेद का रचनाकाल इस आर्य-गणना की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान वेद का जो काल मानते हैं वह निम्न तालिका से प्रकट हो जायेगा—

मैक्समूलर	१२००	से	१५००	वर्ष ईसा से	पूर्व
मैक्डौनल्ड	१२००	से	२०००	"	"
कीथ	१२००			"	"
बुह्लर	१५००			"	"
हौग	२०००			"	"
ह्विटनी	२०००			"	"
विल्सन	२०००			"	"
ग्रिफिथ	२:००			"	"
श्रोडर	२०००			"	"
विन्टर्निट्ज	२५००			"	"
जैकोबी	३०००	से	४०००	"	"

आर्य-परम्परा में वेद का जो काल माना जाता है उसे स्वीकार न करते हुए भी प्राय : सभी पाश्चातत्य विद्वान् यह बात एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वेद मनुष्य-जाति का सब से पुराना ग्रन्थ है। भारतीय विद्वान वेद के काल को पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा अधिक पीछे ले जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों ने वेद का जो रचनाकाल माना है वह निम्न तालिका से सूचित होता है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित	३०००		वर्ष ईसा से पूर्व
लोकमान्य तिलक	६०००	से १००००	,, ,,
अविनाशचन्द्र दास	२००००		,, ,,
डी० ए० मुखोपाध्याय	२५०००		,, ,,

इस के अतिरिक्त पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने अपने वेदकाल-निर्णय नामक ग्रन्थ में ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर 'वेद' का रचनाकाल आज से ३००००० वर्ष पूर्व माना है। पावगी महोदय ने अपनी वैदिक फादर्स आफ जियोलौजी (Vedic Fathers of Geology) नामक पुस्तक में भूगर्भ-शास्त्र के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि जिसे भूगर्भशास्त्र की परिभाषा में तृतीय युग (Tertiary Epoch) कहा जाता है वेद उस काल के हैं। डा० कोल जैसे भूगर्भशास्त्रियों के मत में आज से २४०००० वर्ष पूर्व इस तृतीय युग की समाप्ति होकर हिम-युग (Glacial period) आरम्भ हो गया था जो कि आज से लगभग ८०००० वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका है। हिम-युग से पूर्व का यह तृतीय युग (Tertiary Epoch) लाखों वर्ष रहा है। पावगी की सम्मति में वेद इस तृतीय युग की रचना है। इसलिये वेद कम से कम २४०००० वर्ष पुराना तो है ही, वह इस से भी लाखों वर्ष पुराना हो सकता है। इस प्रकार वेद के काल पर जितना गम्भीरता और बारीकी से विचार किया जाता है वह उतना ही पीछे चलता जाता है। हो सकता है कि आगे आने वाले विद्वान वेद का काल आर्य-परम्परा के अनुसार सृष्टि का आरम्भ-काल ही मानने लग पड़ें।

१- सर चार्ल्स लायल और प्रो० जे० डब्ल्यू० स्पैंसर आदि कई भूगर्भ-शास्त्री हिमयुग की समाप्ति आज से ४२-४३ हजार वर्ष पूर्व मानते हैं।

ये पाश्चात्य विद्वान् और उन की पद्धति पर चलने वाले भारतीय विद्वान् वेद का रचना काल निश्चित करने में वेद की कुछ अन्तःसाक्षियों का सहारा लेते हैं। पर वास्तव में वेद की इन अन्तःसाक्षियों के आधार पर वेद का काल निश्चित नहीं किया जा सकता। वेद का काल निश्चित करने में जिन हेतुओं का अवलम्बन किया गया है उन्हें मुख्यत्त पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इन पांचों की संक्षिप्त समीक्षा नीचे की जाती है।

(१) ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम वेद में अनेक ऐसे शब्द आते हैं जो भारतीय इतिहास के कुछ व्यक्तियों के भी नाम है। वेद के इन शब्दों को भारतीय इतिहास के व्यक्तियों के नाम मान कर उन के आधार पर वेद के उन स्थलों का काल निश्चित करने का यत्न किया जाता है। उदाहरण के लिये, कुछ वेदमन्त्रों में परिक्षित शब्द आता है। परिक्षित महाभारत के अर्जुन के पौत्र का भी नाम है। वेद के परिक्षित को भी वही मान लिया जाता है। और इस के आधार पर वेद के इन मन्त्रों को राजा परिक्षित् के समकालीन या उस के पीछे के बने हुए समझा जाने लगता है। इसी प्रकार वेद के कुछ मन्त्रों में' भरता शब्द आता है। 'भरता : ' कुरुवंशी राजाओं का भी नाम है। इस आधार पर वेद के इन मन्त्रों का काल महाभारत का काल या उस से पूर्व के कुछ राजाओं का काल समझा जाने लगता है। इसी प्रकार एतिहासिक व्यक्तियों के नाम से मिलने वाले वेद के अन्य शब्दों से भी वेद के उन-उन स्थलों का काल-निर्णय किया जाता है। पर यह भूल है। वेद के ये शब्द किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। वेद में ये शब्द अपने यौगिक अर्थ (Etymological sense) में आते हैं। मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थों के अनुसार इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के माता-पिताओं ने वेद के इन शब्दों के आधार पर उन के ऐसे नाम रख दिये थे। वेद का इन व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन व्यक्तियों के नामों की और वेद के शब्दों की केवल श्रवण-मात्र की समानता है। वेद में इतिहासवाद का खण्डन करते हुए महर्षि जैमिनी ने भी मीमांसा-दर्शन में यही बात कही है। उन का कथन है दूसरे जो ऐतिहासिक नाम हैं उन में तो वेद के शब्दों के साथ श्रवण की समानता मात्र

है। मुसलमानों के धर्मग्रन्थ कुरान में परमात्मा को अकबर कहा गया है। अकबर का शब्दार्थ 'महान्' होता है। दिल्ली के प्रसिद्ध मुगल सम्राट अकबर का नाम भी अकबर है। इस आधार पर जैसे यह परिणाम निकालना हास्यास्पद होगा कि कुरान दिल्ली के सम्राट अकबर के समय या उस के पीछे बना है, उसी प्रकार ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों से मिलते हुए शब्दों से यह परिणाम निकालना भी हास्यास्पद है कि 'वेद' के वे स्थल उन उन व्यक्तियों के समय या उस के पीछे बने हैं। नित्य परमात्मा के नित्य ज्ञान वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास हो ही नहीं सकता।

(२) ऐतिहासिक आख्यानक वेद में अनेक जगह कुछ ऐतिहासिक से दिखाई देने वाले आख्यान प्रतीत होते हैं। इन आख्यानों के वर्णनों और उन में आये नामों के आधार पर वेद के उन स्थलों का काल-निर्णय करने का यत्न किया जाता है। इन आख्यानों की भी यह स्थिति है कि यदि उन्हें ध्यान से देखा जाय तो अनेक आख्यानों में तो कुछ भी इतिहास नहीं पाया जाता। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के १।२४।१२-१३ और ५।२।७ मन्त्रों में शुन : शेप ऋषि और राजा हरिश्चन्द्र की कहानी बताई जाती है। यह एक लम्बी-चौड़ी कहानी है और इसमें अनेक व्यक्तियों के नाम आते हैं। परन्तु ऋग्वेद के इन मन्त्रों में शुन : शेप इस एक शब्द के अतिरिक्त और किसी भी व्यक्ति का नाम नहीं आता और न ही मन्त्रों में कहानी की बातों का ही कोई निर्देश मिलता है। रहा शुन : शेप शब्द। मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ में इस शब्द का भी बड़ा सुन्दर यौगिक अर्थ हो जाता है। न जाने शुन : शेप ऋषि और राजा हरिश्चन्द्र की यह कहानी वेद के इन मन्त्रों पर कैसे थोप दी जाती है। यही अवस्था अनेक कहानियों की है। कुछ आख्यानक ऐसे हैं जिन में किसी प्राकृतिक या आत्मिक सचाई का रोचक ढंग

---

१. परंतु श्रुतिसामान्यामात्रम् ।जै०सू०।१।१।३१॥

से उपदेश देने के लिए कथानक की कवि-कल्पना कर ली गई है. जैसे कवि लोग अपने काव्यों और व्याख्यानों में मनोरंजक और शिक्षाप्रद कहानियें बना लिया करते हैं। इन आख्यानकों में इतिहास यों ही नहीं रह जाता। कुछ आख्यानकों में जगत् में सदा होते रहने वाली घटनाओं को कहानी का रूप दे कर समझाया गया यह एक प्रकार से जगत् का नित्य इतिहास होता है। मनुष्यों के ऐतिहासिक इतिहास से वेद के इन आख्यानकों का भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐतिहासिक से प्रतीत होने वाले शब्दों के यौगिक अर्थ के सम्बन्ध में अभी ऊपर कहा ही जा चुका है। नित्य वेद में अनित्य ऐतिहासिक आख्यानक नहीं हो सकते।

(३) भाषा–भेद कहा जाता है कि वेद के कुछ भागों की भाषा जटिल, अस्पष्ट और दुर्बोध सी है तथा कुछ भागों की भाषा सरल स्पष्ट और सुबोध है तथा आधुनिक संस्कृत से मिलती सी है। पहले प्रकार की भाषा वाले वेद के स्थल पुराने हैं और दूसरे प्रकार की भाषा वाले स्थल अर्वाचीन हैं। इस प्रकार वेद एक काल का और एक रचयिता का बनाया हुआ नहीं है प्रत्युत विभिन्न कालों में विभिन्न रचयिताओं द्वारा बनाया गया है। वेद में दिखाई देने वाले भाषा भेद से यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती। प्रतिपाद्य विषय के भेद से भाषा शैली का भेद एक ही लेखक के ग्रन्थों में भी देखा जाता है। उदाहरण के लिए महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी और हर्षचरित में जटिल और दुर्बोध स्थल भी हैं तथा सरल और सुबोध स्थल भी हैं। दोनों शैलियों की भाषा का लेखक एक ही है। फिर भी वर्णनीय विषय के भेद से शैली भिन्न प्रकार की हो गई है। यही बात वेद के शैली-भेद में भी समझी जा सकती है। फिर भाषा की दुर्बोधता और सुबोधता पाठक के ज्ञान पर निर्भर करती है। जो भाषा एक पाठक को दुर्बोध प्रतीत होती है वही दूसरे के लिये सुबोध हो सकती है। कुछ भी हो, भाषा-भेद के आधार पर आवश्यक रूप से यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि वेद विभिन्न रचयिताओं द्वारा बनाये गये हैं। एक ही लेखक एक ही ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न शैलियों की भाषा भी लिख सकता है।

(४) विचारों को निकृष्टता और उच्चता कहा जाता है कि वेद के कुछ भागों में अशिक्षित, जंगली जैसे, विकास बहुत प्रारम्भिक अवस्था के लोगों के बहुत निम्न स्तर के विचार पाये जाते हैं। वेद के ये भाग पुराने हैं। और कुछ भागों में शिक्षित, सभ्य विकास की पर्याप्त उन्नत अवस्था के लोगों के बहुत ऊंचे स्तर के विचार पाये जाते हैं। वेद के ये भाग अर्वाचीन हैं। इस प्रकार वेद एक काल की, एक व्यक्ति की रचना नहीं है। प्रत्युत विभिन्न कालों की, विभिन्न व्यक्तियों की रचना है। इस युक्ति में भी बल नहीं है। पहले तो वेद के बहुत पुराने और निम्न स्तर के विचारों से युक्त समझे जाने वाले स्थलों में जैसे ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में भी बहुत ऊंचे स्तर के विचार दिखाये जा सकते है। दूसरे प्रत्येक लेखक अपने ग्रन्थ में अपना विशेष क्रम रखता है कि कौन से विचार कहाँ रखने हैं और कौन से कहां ? किन्हीं भागों में यदि साधारण विचार हैं तो इस से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे भाग आवश्यक रूप से ग्रन्थ के दूसरे भागों की अपेक्षा भिन्न काल में और भिन्न लेखक द्वारा लिखे गये हैं। कौन से विचार कहां दिये गये हैं। इसमें वेद का अपना विशेष प्रयोजन हो सकता है। तीसरे जिन स्थलों को निम्न स्तर के विचारों से युक्त समझा जाता है वह तो वेद के स्वाध्याय के सही नियमों को न जानने के कारण है। वेद के अध्ययन के सही नियमों को जानकर उस का चिन्तन करने पर तो वेद का प्रत्येक मन्त्र बहुत ऊंची श्रेणी के विचार देने लगता है। यदि अज्ञानी को वेद के किसी भाग में विचार नहीं दीखते हैं तो यह वेद का दोष नही हैं। यदि अन्धे को खड़ा हुआ ठूंठ नहीं दीखता है तो यह ठूंठ का अपराध नहीं है वह तो उस पुरुष का अपराध है।

(५) नक्षत्रों की स्थिति वेद के मन्त्रों में कई जगह नक्षत्रों की विशेष स्थितियों की ओर निर्देश मिले हैं। नक्षत्रों की इन स्थितियों के आधार पर भी वेद के काल का निर्णय किया जाता है। वेद के काल-निर्णय के इस हेतु को बहुत अधिक प्रवल समझा जाता है। नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर काल-निर्णय की युक्ति-और उसकी समीक्षा को समझने के लिये यहां कुछ

* नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराध : स भवति। यास्क :, निरु० १।१४।।)

आकाश की बात जान लेना आवश्यक है। पृथ्वी वर्ष भर में सूर्य के चारों ओर एक चक्कर लगा लेती है। आकाश में सूर्य के चारों ओर पृथिवी के घूमने के मार्ग को क्रान्तिवृत्त कहते हैं। इस क्रान्तिवृत्त के चारों ओर आकाश में नक्षत्रों के २७ समूह विद्यमान हैं। इन की प्रतीयामान आकृति के आधार पर इन के भिन्न-भिन्न नाम रख लिये गये हैं। इन्हें २७ नक्षत्र कहते हैं। किसी भी वृत्त के ३६० अंश (डिग्री) माने जाते हैं। वे २७ नक्षत्र पृथिवि के क्रान्तिवृत्त के चारों ओर एक वृत्त में ही विद्यमान हैं। अत : ये नक्षत्र मोटे तौर पर एक-दूसरे से १३ अंश की दूरी पर अवस्थित हैं। पृथिवी की भूमध्य रेखा को विषुवत कहते हैं। वृत्ताकार होने से इसे विषुवद्वृत्त भी कहते हैं। यदि यह कल्पना कर ली जाये कि विपुवद्वृत फैल कर क्रान्तिवृत्त तक चला गया तो यो दोनों वृत एक दूसरे को साढ़े तेईस अंश के कोण पर दो स्थानों पर काटेंगे। इन दोनों कटाव-बिन्दुओं में से एक को वसन्त-सम्पात (Vernal Equinox) और दूसरे को शरत्-सम्पात (Autamnal Equinox) कहते हैं। विषुवद्वृत्त के इन कटाव-बिन्दुओं के ये नाम इस कारण रख दिये गये हैं कि जब सूर्य वसन्त-सम्पात पर होता है तो वसन्त ऋतु आरम्भ होती है और जब शरत्सम्पात पर सूर्य होता है तो शरद ऋतु प्रारम्भ होती है। यों तो पृथिवी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है। पर हमें सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमता हुआ प्रतीत होता है। इस लिये पृथिवी के क्रान्तिवृत्त को सूर्य का क्रान्तिवृत्त भी कह दिया जाता है जब सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण जाने लगता है तो उसे वसन्त-सम्पात बिन्दु में से होकर जाना पड़ता है। जब सूर्य वसन्त-सम्पात पर होता है तो दिन-रात बराबर होते हैं। यह समय २१ मार्च को होता है। जब सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन को जाने लगता है तो उसे शरत्-सम्पात बिन्दु में से होकर जाना पड़ता है। जब सूर्य शरत्-सम्पात पर होता है तब भी दिन-रात बराबर होते हैं। यह समय २३ सितम्बर को होता है। वसन्त-सम्पात बिन्दु ७२ वर्ष में १ अंश के हिसाब से बहुत मन्द गति से क्रान्तिवृत्त पर पूर्व से पश्चिम की ओर सरकता रहता है। इसी हिसाब से शरत्-सम्पात भी। यह वसन्त-सम्पात क्रान्तिवृत्त पर चलता रहता हुआ २७ नक्षत्रों में से किसी न किसी के सम्मुख रहता है। दूसरे शब्दों में क्रान्तिवृत्त पर चलता हुआ सूर्य वसन्त-सम्पात के समय

किसी न किसी नक्षत्र के सम्मुख रहता है। इसे सूर्य का उस नक्षत्र में होना कहा जाता है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में जाने में ९६० वर्ष लगते हैं।

यदि वसन्त-सम्पात के समय सूर्य के किसी विशेष नक्षत्र में होने का वर्णन कहीं मिल जाये तो हम गणना कर के यह जान सकते हैं कि वह स्थिति कब रही होगी। आजकल वसन्त-सम्पात में सूर्य उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में रहता है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे में जाने में लगभग १००० वर्ष लगते हैं। अमुक नक्षत्र विशेष से वसन्त-सम्पात को उत्तराद्रपदा तक आने में कितने वर्ष लगे यह आसानी औरायन (Orion) में लिखा है कि ऋग् १०।८६ सूक्त में वसन्त-सम्पात का मृगशीर्ष नक्षत्र में होने का वर्णन है। मृगशीर्ष नक्षत्र उत्तराभाद्रपदा से ६ नक्षत्र पहले है। इस लिए मृगशीर्ष नक्षत्र में वसन्त-सम्पात आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व रहा होगा। क्यों कि वेद के इस सूक्त में नक्षत्रों की इस स्थिति का वर्णन पाया जाता है इस लिये यह सूक्त भी आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व बना होगा।

नक्षत्रों की इस प्रकार की स्थिति के वर्णनों के आधार पर भी वेद के काल का निर्णय नहीं हो सकता। ऊपर बताया गया है कि वसन्त-सम्पात बिन्दु ७२ वर्ष में १ अंश के हिसाब से सरकता रहता है। इस प्रकार ३६० × ७२=२५९२० वर्षों में वसन्त-सम्पात क्रान्तिवृत्त पर धूम कर अपने पहले स्थान पर आ जाता है। यदि आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व वसन्त सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में था तो उस से लगभग २६००० वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग ३२००० बर्ष पूर्व भी वह उसी नक्षत्र में था। फिर आज से लगभग ५८००० वर्ष पूर्व भी वह उसी नक्षत्र में था और आज से लगभग ८४००० वर्ष पूर्व भी। इस प्रकार जितना चाहे पीछे जा सकते हैं। तब वेद के इन मन्त्रों को आज से छः हजार वर्ष पुराना न मान कर आज से बत्तीस हजार, अठावन हजार वर्ष या इस से भी पुराना क्यों न माना जाये? वेद में वर्णित यह नक्षत्र-स्थिति आज से केवल ६००० वर्ष पहले की ही है, उस से पहले की नहीं, इस के लिये कोई भी निश्चायक हेतु नहीं है। इस गणना पद्धति में एक दोष है। वह यह कि आज से लगभग बीस हजार वर्ष पश्चात् फिर वसन्त सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में होगा, उस से दो हजार

वर्ष बाद अर्थात् आज से बाईस हजार वर्ष बाद उत्पन्न होने वाला कोई विद्वान इस युक्ति के आधार पर वेद के इस सूक्त को अपने से केवल दो सहस्र वर्ष पूर्व का ही सिद्ध कर सकेगा।

जब वसन्त-सम्पात किसी विशेष नक्षत्र में पड़ेगा तो उसी हिसाब से अन्य ऋतुएं भी किन्हीं विशेष नक्षत्रों में पड़ेंगी। यदि किसी मन्त्र में किसी ऋतु विशेष और उस के सूर्य के किसी नक्षत्र विशेष में होने का वर्णन मिले तो उस के आधार पर भी ऊपर दिखाई गई रीति से उस मन्त्र के काल की गणना की जा सकती है। आजकल के विद्वानों ने इस प्रकार के वर्णनों के आधार पर भी अनेक मन्त्रों के निर्माण-काल की गणना की है। वसन्त-सम्पात की भांति ही, नक्षत्रों की दृष्टि से, अन्य ऋतुओं की स्थिति भी क्रान्ति-वृत्त पर ७२ वर्ष में १ अंश के हिसाब से घूमती हुई २५९२० वर्ष में उसी नक्षत्र में पहुँच जाती है। ऊपर दिखाई गई रीति से जिस प्रकार वसन्त-सम्पात के वर्णन के आधार पर किसी मन्त्र के निर्माण-काल की गणना करना युक्ति-युक्त नहीं है उसी प्रकार अन्य ऋतुओं के वर्णन के आधार पर भी किसी मन्त्र की काल-गणना करना युक्ति-युक्त नहीं है।

इसलिये वेद का काल निश्चय करने के लिये सब से प्रबल समझी जाने वाली नक्षत्रों की स्थिति की इस युक्ति में भी कोई बल नहीं है। वेद में नक्षत्रों की किसी विशेष स्थिति का वर्णन किसी और प्रयोजन से भी हो सकता है। वेद कोई विशेष उपदेश देने के अभिप्राय से भी नक्षत्रों की किसी स्थिति का वर्णन कर सकते हैं। यह भी हो सकता है कि जहां मन्त्रों में नक्षत्रों की किसी विशेष स्थिति का वर्णन समझा जाता है वहां वह वर्णन हो ही नहीं, केवल भ्रम से ही वैसा समझा जाता हो।

वास्तव में वेद की अन्तःसाक्षी से वेद के किसी ऐतिहासिक काल का निश्चय नहीं हो सकता। वेद तो अपने पुरुष-सूक्तों में और दूसरे स्थानों में इतना ही कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने ऋषियों को वेद सिखाया था। सृष्टि की आयु आर्य-जाति के शास्त्रों के अनुसार १,९७,२९,४९०६६ वर्ष की है। वेद के इस कथन के आधार पर इस कल्प की दृष्टि से वेद का काल भी एक अरब, सत्तानवे करोड़, उनतीस लाख, उनचांस हजार, छियासठ वर्ष पूर्व मानना चाहिये। यों तो वेदों का कोई काल निश्चित नहीं हो सकता। क्योंकि वे परमात्मा के ज्ञान में नित्य रहते हैं। अनादि काल से भगवान प्रत्येक सृष्टि के आरम्भमें ऋषियों पर उनका प्रकाश करते आ रहे हैं। ●



सृष्टि के आदि से
अलौकिक नाद की
अपूर्व ध्वनि
चतुर्दिक
सुमधुर झंकार के संग
मोहक संगीत लहरी गुंजाती
मंगल-गीतों की
भाव- भीनी अंजलि
अर्पण करती
निखरती
संवरती
और
उभरती
अविरल गति से,
अनुदिन
उस लोक की
मधुमय आभा लाने में,
कृतसंकल्प हो
शनैः शनैः
जल तरंग की भाँति
विकासोन्मुख हो
बिछलती
बढ़ती
अनन्त नगर के
असीम साज से
निरूपम कलाकार द्वारा
उद्भूत हो
प्राणी जगत् को, जड़ को
अमृत पथ की ओर
अग्रसर करती
कर्ण कुहासों में
शाश्वत वीणा के
अगणित तंत्रों से
पावन वेद ऋचाओं का
गान करती
तमस्तोम को
उज्जवल प्रकाश में बदलती
पहले भी गूंजती थी,
अब भी गूंज रही है
और
आगे भी गूंजती रहेगी,
इस क्रम में
कभी भी
व्यवधान न होगा !

●

वेद में पारिवारिक जीवन-दर्शन

—— कु० सुशीला एम० ए०

"वेद" में जहाँ अन्य गूढ़ रहस्य भरे पड़े हैं वहाँ हमारे जीवन की प्रमुख इकाई परिवार को स्वर्ग बनाने का भी सुन्दर मार्गदर्शन किया किया गया है। पाठक-विदुषी लेखिका द्वारा प्रस्तुत विचारों पर मनन करें।

—सम्पादक



वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद-भक्त महर्षि दयानन्द जी महाराज का वेद-विषयक यह निष्कर्ष केवल श्रुत अथवा अनुमान ज्ञान पर आश्रित नहीं अपितु अनुभव पर आधारित है। उन्होंने वेदोक्त समस्त विषयों का सूक्ष्म परिशीलन कर आर्य समाज का यह नियम बनाया था। सचमुच वेद न केवल अध्यात्म ज्ञान का आगार है न केवल भौतिक अग्नि विद्युत् जलादि पदार्थों के गुणों का सम्यक परिचय शास्त्र है न केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड व्यवहार का पथ-प्रदर्शक है अपितु राष्ट्रिय सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवस्था का अनुपम विधायक है। पारिवारिक सम्बन्धों के सामान्य विषय को तद-नुसारिणी भाषा शैली में सरल सरल स्पष्ट व्यञ्जना देते देख हमें अपने कर्त्ता के विषय में वेद की ही यह उक्ति अनायास स्मरण हो आती है—

देवस्य पश्य काव्य न ममार न जीर्यति ।

परिवार सामाजिक जीवन की इकाई है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। किसी भी आश्रम में क्यों न रहे परिवार से सर्वथा विच्छिन्न जीवन एक

कल्पना मात्र भले ही हो तथ्य से विरहित है । पारिवारिक सम्बन्धों की जिन कड़ियों से मिल कर परिवार की शृंखला बनती है उनमें मुख्य है—पति-पत्नी, माता (पिता) पुत्र (पुत्री) भाई बहिन अथवा भाई भाई, बहिन बहिन । ननद देवर सास ससुर के सम्बन्ध क्रमशः भाई बहिन तथा माता पिता के रूप में निर्दिष्ट हैं । घर के अन्य परिजन दास दासियों के साथ सम्बन्धों के स्वरूप का भी वेद में यदा कदा संकेत पाया जाता है । इन सब सम्बन्धों के आधार पर परिवार मुख्यतः दो श्रेणियों में विभाजित हो जाता है—एक वे जो पूज्यजनों के रूप में गृह में स्थित हैं दूसरे उनके निर्देश्य तथा अनुशिष्य जन हैं ।

कुछेक वेदमन्त्रों के आधार पर हमें इन पारिवारिक सम्बन्धों के विशद निर्वाह पर विचार करना है । पति पत्नी जो सन्तानों के माता पिता हैं परिवार के मूर्धन्यस्थानी हैं । स्थायी तथा चिरकालिक सम्बन्ध की दृष्टि से दूसरा स्थान "पुत्र" का है जिसे माता पिता से सम्पर्क रखना है । "कन्या" क्योंकि विवाह व्यवस्थाधीन पराए घर की सम्पत्ति है । माता पुत्री के सम्बन्ध में किसी प्रकार की वैमनस्य कल्पना "वेद" में भी प्रतिभासित नहीं होती ।

अथर्ववेद के एक ही मन्त्र में पुत्र के माता तथा पिता के प्रति एवं पति पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शाँतिवाम् ॥

इस मन्त्र के स्पष्टार्थक शब्दों पर दृष्टिपात करते ही हमारे किसी आधुनिक परिवार का चित्र तुलनात्मक दृष्टि से अपने मन मस्तिष्क में अङ्कित कर देखिए । यदि पुत्र पिता के पदचिन्हों पर चलने वाला हो तो कलह का क्या काम ? माता के समान विचारधारा का हो तो नारी जाति के तिरस्कार को स्थान कहाँ ? पत्नी के प्रति मधुमती वाणी बोले तो शान्ति घर को छोड़ कर जाना कहाँ चाहेगी ?

इस मन्त्र को लेकर हमारी एक बहिन ने पूछा कि वेद में पति के लिए पत्नी को ही मीठी वाणी बोलने का आदेश क्यों दिया, पति को क्यों नहीं ? हमने उत्तर दिया भोली बहिन' यह कोई शास्त्रीय निर्देश नहीं । उल्लेख तो करना ही था । फिर इसे दोनों ओर के लिए ही आदेश मानो । क्योंकि यदि

पत्नी पति के प्रति मधुर वाणी बोलती है तो क्या कारण है जो पति उसे प्रतिदान में मधुर वचन न देगा ? कभी अपने परायों से भी मधुर व्यवहार का प्रतिफल कटुता में पाया है पुनः पति पत्नी के से गूढ़ सम्बन्ध की क्या चर्चा ?

अगले सम्बन्धों की कटुता की भी संसार में पर्याप्त सम्भावना है । अतः इसी सूक्त में आगे कहा :—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च : सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

भाई भाई । बहिन बहिन अथवा बहिन भाई परस्पर द्वेष न करें समान मार्ग तथा व्रत के परिपालक होकर भद्र वाणी का प्रयोग करें । कैसा निष्कंटक ऋजु मार्ग है परिवार को सुखी बनाने का । शब्द लाघव का कैसा कमाल है ?

हमारे पारिवारिक जीवन मर्यादाएँ उसी दिन मिटनी प्रारम्भ हो जाती हैं जब परिवार के बड़े बूढों का आदर घट जाता है । वैदिक जीवन की कुञ्जी पञ्चयज्ञों में से एक पितृयज्ञ है । बड़े बूढे विद्वान गुरुजनों का सत्कार सेवा भी एक यज्ञ—पवित्र कर्म—गृहस्थों के लिए अनिवार्य बतलाया गया है । यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय में इस आशय के स्पष्टार्थ सूचक मन्त्र इस प्रकार है :—

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।
अमीमदन्त पितरो तथाभागमावृषायिषत ॥ यजुर्वेद २।३१।

सन्तान को चाहिए कि उत्पादक पालक पितरों को सम्यक् भोजनादि से रक्षण प्रदान करें ।

यह आदेश किसी रूढ़िवाद का पोषक नहीं अपितु सप्रयोजन है । इसका एक प्रयोजन नहीं अपितु अनेक हैं । अनेक पूज्यजनों की सेवा सत्कार से परिवार के मनुष्य जो कुछ पा सकते हैं उसकी पूर्ति अन्यत्र कहीं से असम्भव है । इसीलिए इसी प्रसङ्ग में अगले ३२ वें मन्त्र में पुनः कहा :—

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितर : शोषाय
नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितर : स्वधायै नमो
वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः
पितरो नमो वो गृहान्न : पितरो दत्त सतो वः पितरोः
देष्मैतद्वः पितरो वासः । यजुर्वेद ।२।३२।

हम अपने पूज्यजनों के समक्ष नम्र भाव तथा उन्हें अन्नादि प्रदान इस लिए करते हैं। इससे हमें दुःखों से त्राण, जीवन शक्ति राज्य न्याय नीति विद्या अन्न धनादि सदैव प्राप्त हों। वे हमारे पास रहें। हमारे सादर प्रदत्त पदार्थों को गृहण करें। बड़े जनों के प्रति छोटे पारिवारिक सदस्यों की हार्दिक श्रद्धा भक्ति वेद में अभीष्ट है। तभी तो पितरों को केवल उदरपूर्ति निमित्त बन कर वास देना मात्र पर्याप्त नहीं समझा। उत्तम कोटि के पदार्थों से सत्कृत करने का आदेश देते हुए कहा—

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं
परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥

कि पितरों को उत्तम रस औषधि जल दूध घी सुसंस्कृत भोजन रस युक्त फलादि प्रदान करें। तथा पूज्यजनों के कर्त्तव्य की इतिश्री भी इस रूप में नहीं हो चुकी कि उन्होंने हमारा उत्पादन पोषण किया। अब भी उनका छोटों के प्रति कर्त्तव्य बतलाते हुए वेद कहता है—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्तजं।
यथेह पुरुषोऽसत्।

छोटों को पूर्ण पुरुष बनने के लिए बड़ों के संरक्षण की आवश्यकता है इसे बड़े पूरा करें।

पारिवारिक सम्बन्धों के निर्विघ्न निर्वाह का ऐसा मनोहर अपि च लाभ-प्रद पाठ और किस धर्म ग्रन्थ में पढ़ने को मिलेगा।

आज जब हमारे परिवार विश्रृङ्खल हो रहे हैं। बड़े छोटे की सीमाएँ बालू के महल की तरह ढह रही हैं। मर्यादा हीनता की वेगवती बरसाती नदी दोनों किनारे तोड़ कर बह रही हैं इन सुनहरे अर्थों से भरे अध्याय खोलने पढ़ने तदनुसार जीवन ढालने की कितनी कितनी आवश्यकता है इसे लिखने में लेखनी दम साध लेती है। हमें यह भ्रम मन से निकाल देना चाहिए कि वेद केवल मोक्ष शास्त्र है। यह केवल मुमुक्षुओं के काम की वस्तु है साँसारिकों को इससे क्या लगाव ? नहीं, वेद तो नित्योपयोगी है। सब के लिए है, सर्वदा के लिए है। संयुक्त परिवार के घेरे से निकल कर भी हमें घर तो बसाना ही है। पति पत्नी भाई बहिन तो उसमें भी रहेंगे। माता-पुत्र, पिता-पुत्र भी चिर या

अचिरकाल तक सम्पर्क में आएँगे ही। हमारी परिस्थितियाँ पूर्वकाल से कुछ भिन्न हो सकती हैं किन्तु मूलभूत परिवर्तन तो उनमें नहीं हो सकता अतएव हम वेद के कथन को पुराना तथा अनुपयोगी कह कर नहीं ठुकरा सकते। सच तो यह है कि बिगड़ते हुए पारिवारिक सम्बन्धों के इस युग में इस सन्देश की अनिवार्य उपयोगिता घटने के स्थान पर बढ़ी ही है। निःसन्देह हमें वर्तमान युग में ऐसे उपदेश आचरण में लाकर दुःख जाल से मुक्त होने का पथ प्रशस्त करना ही होगा।

आज संसार की सब से बड़ी समस्या पारिवारिक सम्बन्धों की विकृति है। और इसका समाधान कोई भी प्रशासन किसी भी कानून द्वारा तीन काल में भी नहीं कर सकता। धर्मोपदेश ही इस रोग का, उपचार है। पारिवारिक शान्ति ही राष्ट्रिय तथा अन्तराष्ट्रिय क्षेत्रों में शान्ति स्थापित करेगी। इस लक्ष्य को समक्ष रखते हुए हमें वेद के आदेशानुसार आचरण अपने परिवारों में प्रचलित करने चाहिएँ। प्रशासनिक सुधारों के क्षेत्र में हम विवश हो सकते हैं किन्तु परिवार की दृष्टि से सब अपने आप में सर्वेसर्वा हैं। हमें भूलना नहीं है कि वेद विहित मर्यादाओं का अतिक्रमण करके हमने बहुत कुछ खोया है। पूज्यजनों का निरादर कर हम उनके बहुमूल्य पथ-दर्शन के लाभ से हाथ धो बैठे हैं। पारस्परिक मधुर व्यवहार के अभाव में घर कलह-क्लेश की ज्वालाओं से दग्ध हुए जा रहे हैं। इन हानियों के परिणामों से क्लान्त अशान्त वातावरण वेदोक्त परिवार सम्बन्धों के निर्वाह से परिवर्जित हो सकता है। प्रभु हमें वरदा वेदमाता की सुखद गोद में जीवन बिताने की प्रेरणा करें। ●

●

"वेद" ही जीवन हमारा
"वेद" प्राणाधार है।
"वेद" है सुख शान्तिदाता
"वेद" खेवनहार है॥

●

परमेश्वर की ही पूजा करें

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ ऋ० १।२०।१॥

पदार्थ :—हे शतक्रता) असंख्यात कर्म और उत्तम ज्ञानयुक्त परमेश्वर ! (ब्रह्मणः) वेदों को पढ़कर उत्तम २ क्रिया करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ उपदेश, गुण और अच्छी २ शिक्षाओं से (वंशमिव) जैसे अपने वंश को (उद्येमिरे) प्रशस्त गुणयुक्त करके उद्यमवान अर्थात् पुरुषार्थी करते हैं, वैसे ही जो (गायत्रिणः) गायत्र अर्थात् प्रशंसा करने योग्य छन्द राग आदि पढ़े हुए धार्मिक और ईश्वर की उपासना करने वाले पुरुष हैं व (त्वा) आपकी (गायन्ति) सामवेद आदि के गानों से प्रशंसाकरते हैं तथा (अर्किणः) अर्क अर्थात् जो कि वेद के मन्त्र पढ़ने के नित्य अभ्यासी हैं, वे (अर्कम्) सब मनुष्यों को पूजने योग्य (त्वा) आपको (अर्चन्ति) नित्त पूजन करते हैं ।

भावार्थ :—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है । सब मनुष्यों को परमेश्वर ही की पूजा करनी चाहिये अर्थात् उसकी आज्ञा में सदा वर्तमान रहना चाहिए । जैसे पुरुषार्थी वेदविद्या को पढ़कर अच्छे २ गुणों के साथ अपने और अन्यों के वंश को भी पुरुषार्थी करते हैं, वैसे ही अपने आपको भी होना चाहिए और जो परमेश्वर के सिवाय दूसरे का पूजन करने वाला पुरुष है, वह कभी उस उत्तम फल को प्राप्त होने योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि न तो ईश्वर की ऐसी आज्ञा ही है और न ईश्वर के समान कोई दूसरा पदार्थ है कि जिसका उसके स्थान में पूजन किया जावे । इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर ही का गान और पूजन करें ।

वैदिकी वाक् का भाषा शास्त्रीय विवचन

—युधिष्ठिर मीमांसक

●

भाषा की उत्पत्ति कैसे हुयी ? उस का क्रमिक विकास हुआ या वह भी आदि सृष्टि में अन्य पदार्थों के समान ही प्रभु की ओर से मनुष्य को प्राप्त हुई ? यह उलटा प्रश्न सुलझने का सफल प्रयास प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने किया है ।

लेख को पढ़कर पाठक जान सकेंगे कि पश्चात्य भाषा विज्ञान अत्यन्त संकुचित भूमि पर खड़ा है और वैदिक-भाषा-शास्त्र पूर्णतया वैज्ञानिक है ।

—संपादक

●

• • •

वैदिकी वाक् का भाषा-शास्त्रीय चिन्तन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि वैदिकी वाक् का स्थान संसार की भाषाओं में क्या है? इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भाषा-शास्त्रीय चिन्तन भी दो प्रकार का है—एक पौरस्त्य दृष्टि से और दूसरा पाश्चात्य दृष्टि से। हम इस लेख में इन तीनों विषयों पर संक्षेप से लिखेंगे।[1]

पाश्चात्य मत—पाश्चात्य विद्वान् सम्पूर्ण विषयों का चिन्तन विकास मत को प्रमाण मानकर प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः पाश्चात्य विकास मत में ऐसी अनेक न्यूनताएं हैं जिनके कारण वह अभी तक प्रमाण कोटि को प्राप्त नहीं कर सका और न उन न्यूनताओं का समाधान ही अपनी पद्धति से आज तक कर सका। हम यहाँ उसके एक अंश की ओर ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त समझते हैं।

विकास मत का सिद्धान्त है कि पूर्व प्राणियों के जो अङ्ग उत्तरोत्तर कार्य में नहीं आते, उनका उत्तरोत्तर योनि में ह्रास होता जाता है और अन्त में वे सर्वथा लुप्त हो जाते हैं। यथा वानर की पूंछ मनुष्य तक पहुँचते-पहुँचते लुप्त हो गई। इसी सिद्धान्त के अनुसार पूर्व नर प्राणियों में जो स्तन अंग था वह भी उत्तरोत्तर योनियों में ह्रसित होते-होते उसके चिह्न भी घोड़े पर आकर सर्वथा लुप्त हो गए। ऐसी अवस्था में घोड़े में सर्वथा लुप्त हुए स्तन चिह्न घोड़े से उत्तरोत्तर विकसित हुए वानर, वन मानुष और मनुष्य जाति के नरों में पुनः किस नियम से प्रकट हो गए इसका कोई समाधान विकास मत में

१. इस लेख में श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भाषा का इतिहास' ग्रन्थ से अत्यधिक सहायता ली है। (लेखक)

नहीं है। इतना ही नहीं, विकासवादी जो विकास क्रम मानते हैं वह, अब जो प्राणि जातियाँ हैं उनमें क्यों नहीं उपलब्ध होता। कुत्ता गाय भैंस आदि अनेक ऐसे प्राणी हैं जिनकी कई-कई पीढ़ियाँ दीर्घायु पुरुष के जीवन काल में हो जाती हैं, परन्तु उनमें विकास रूप में कुछ थोड़ा सा भी अन्तर देखने में नहीं आता। अतः यह भी एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात है कि जो पूर्वकालीन प्राणियों में विकास क्रम स्वीकार किया गया है, वह अब क्यों लुप्त हो गया?

इसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी यह विचारणीय है कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? पाश्चात्य मत के अनुसार भाषा की उत्पत्ति के निम्न कतिपय प्रकार माने जाते हैं—

१. पूह-पूह मत—इस मत में भाषा की उत्पत्ति का आरम्भ आश्चर्य, भय प्रसन्नता और पीड़ा के समय मनुष्य के मुँह से अकस्मात् निकली ध्वनियों से माना जाता है।

२. टा-टा मत—इस मत में अक्षिनिकोच अथवा शरीर संकोच आदि का ध्वनि द्वारा प्रकट करने की ऊँ अह आदि शब्दों से माना जाता है।

३. डिंग-डांग मत—इस मत के अनुसार यह माना जाता है कि पदार्थ आदि मानव के सामने उपस्थित होने पर स्वाभाविक रूप से उनके मुँह से उस पदार्थ के लिए कोई शब्द निकल गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे शब्द समूह इकट्ठे होकर भाषा बन गई।

४. बौ-बौ मत—इस मत के अनुसार अन्य पशु पक्षियों की ध्वनियों के अनुकरण पर नाम रखने की प्रवृत्ति हुई। जैसे बिल्ली के लिए म्याऊँ नाम।

५. डार्विन की कल्पना है कि आरम्भ में वाणी मुख का मूक अभिनय था। मुँह के ध्वनियन्त्र अज्ञात रूप से हाथ आदि अंगों के चालन की नकल करते थे। उसी अभिनय में विकास द्वारा धीरे-धीरे शब्दों की उत्पत्ति हुई।

इत्यादि अनेक मत पाश्चात्य भाषा शास्त्रियों ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में कल्पित किए। परन्तु उनसे भाषा की उत्पत्ति का सर्वसम्मत सिद्धान्त निर्धारित न हो सका।

अन्त में निराश होकर पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों ने कहना आरम्भ कर दिया कि भाषा-शास्त्र के चिन्तन के लिए 'भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई' इस

पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। भाषा को सिद्धवत् मान कर भी उसका चिन्तन हो सकता है।

भारतीय मत—पाश्चात्य मत के विपरीत भारतीय भाषा-शास्त्रियों का मत है कि भाषा मूलतः अपौरुषेय है अर्थात् सर्ग के आरम्भ में ही मनुष्यों की उत्पत्ति के साथ ही मनुष्यों को दैवी प्रेरणा से भाषा की प्राप्ति हुई। यतः उत्पन्न होते ही मनुष्यों के मुख से जो शब्द उच्चरित हुए वे मनुष्य प्रयत्न जन्य अथवा चिन्तनजन्य नहीं थे अतः आद्य दैवी वाक् अपौरुषेय मानी जाती है। ईश्वर ने मनुष्यों को सर्ग के आरम्भ में उपभोग के लिए जैसे समस्त पदार्थ दिए, उसी प्रकार यथार्थरूप में उनका उपयोग करने का ज्ञान भी उन्हें दिया। इसीलिए ऋग्वेद में कहा है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरता नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणातदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋ० १०।७१।१॥

यह ज्ञान आदि कालीन ऋषियों के हृदय में प्रेरित किया गया। यह इस मन्त्र से स्पष्ट है। ज्ञान और शब्द का परस्पर नैसर्गिक सम्बन्ध है। इसलिए मन्त्र के द्वितीय चरण में स्पष्ट कहा है **नामधेयं दधानाः**। उत्तरकालीन मनुष्य उन्हीं आद्य ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट ज्ञान समन्वित दैवी वाक् को सत्संग द्वारा प्राप्त करते हैं। यह तत्त्व भी ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में दर्शाया है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविदन्नृषिषु प्रविष्टाम्।

ऋ० १०।७१।३॥

यह नैसर्गिक वाक् ही वैदिकी वाक् है। यतः इस वाक् में शब्द और अर्थ का संकेत मनुष्य प्रयत्न जन्य नहीं होता है, अतः भारतीय भाषा-शास्त्री दैवी वाक् के शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। अतः यह शब्दार्थ सम्बन्ध मनुष्यों को उत्पत्ति के साथ ही प्राप्त होता है इसलिए इसको मीमांसा शास्त्र-कार जैमिनि **औत्पत्तिकस्तु शब्द स्यार्थेन सम्बन्धः** (१।१।५) सूत्र में औत्पत्तिक कहते हैं। औत्पत्तिक शब्द का अर्थ यहाँ उत्पन्न होने वाला नहीं है, अपितु नित्य अर्थात् नैसर्गिक है। अतएव मीमांसा शास्त्र के व्याख्याता **औत्पत्तिकस्तु नित्यं ब्रूमः** ऐसा व्याख्यान करते हैं।

अन्य देशीय प्राचीन मत—दैवी वाक् की उत्पत्ति का जो भारतीय मत है, वही मत प्रायः अन्य देशों के प्राचीन आचार्यों को भी अभिमत था।

यूनानी मत—यूनानी मत के अनुसार देवों की और मनुष्यों की भाषा पृथक् मानी गई है। शब्दों की सत्ता आकाश में स्वाभाविकरूप से स्वीकार की है।

मिश्री मत—मिश्र के विद्वान् पवित्र लेख कोन्द्वन्त्र अर्थात् देव भाषा (The Speech of Gods) कहते हैं। सम्भवतः यह वैदिक देवमन्त्रा शब्द का अपभ्रंश हो।

इतना ही नहीं, यहूदी ईसाई और मुसलमान अपनी-अपनी धर्म पुस्तक को ईश्वर प्रेरित वा आकाशी पुस्तक कहते हैं। यह कथन भी भारतीय दैवीवाक् वैदिकी वाक् की उत्पत्ति सिद्धान्त का प्रकारान्तर से समर्थन करता है।

दैवीवाक् से व्यावहारिकी वाक् का विकास—ईश्वर की प्रेरणा से आदि मानवों को जो वाक् प्राप्त हुई, वह सीमित होने के कारण इस योग्य न थी कि उस से ही मानवों का उत्तरकालीन समस्त लोक व्यवहार संचालित हो सके। इसलिए आदि ऋषियों ने तथा उत्तरवर्ती विद्वानों ने दैवी वाक् के सहयोग से एक महती व्यावहारिक वाक् का विकास किया। दैवी वाक् से ही मानुषी वाक् का विकास होता है, इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण निम्न मन्त्र में मिलता है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवोवदन्ति।

ऋ०८।१००।११।

यहाँ पशु शब्द मनुष प्रजा के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1]

ऋषियों ने व्यावहारिकी वाक् की सम्प्राप्ति के लिए दैवीवाक् के आधार पर किस प्रकार विकास किया, इसका निर्देश भगवान् मनु ने इस प्रकार किया है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्ममे ।१।२१॥

---

१. तुलना करो—विवाह प्रकरण में पठित मन्त्र—उत्तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नाना रूपा पशवो जायमानाः (अ० १४।२।२५) के साथ।

अर्थात्—आदि विद्वान् ब्रह्मा ने वेदज्ञान प्राप्त करके उन्हीं वैदिक शब्दों के आधार पर सब पदार्थों के नाम रखे[२] और वैदिक प्रयोगों के अनुसार ही प्रत्येक शब्द के पृथक् पृथक् कर्म-अर्थ निर्धारित किए तथा वैदिक शब्दों के आधार पर ही प्रत्येक नाम और आख्यात शब्दों की संस्था = रूपविन्यास = समस्त विभक्ति वचनों रूप के निर्धारित किए।

भारतीय मत पर पाश्चात्यों के आक्षेप—भारत के दैवीवाक् मत पर पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय भाषाविदों ने अनेक आक्षेप किए हैं। हम उदाहरण के लिए गाट फ्राईड हर्डर के आक्षेप उद्धृत करते हैं—

(१) हर्डर का बलिष्ठतम तर्क यह है कि 'यदि भाषा ईश्वर रचित और उसी द्वारा मनुष्य के मन में प्रविष्ट की गई होती तो आशा करनी चाहिए थी कि वह अत्यधिक तर्कयुक्त और शुद्ध युक्तियों से भरपूर होती, परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं।'

(२) दूसरा आक्षेप यह है कि 'भाषाओं में नाम पद आख्यात से उत्पन्न माने जाते हैं। परन्तु यदि भाषा ईश्वर-उत्पादित होती तो ठीक इसके विपरीत इसका आरम्भ नामों से होता, क्योंकि यही तर्कयुक्त आदर्श मार्ग था।'

समाधान—हर्डर के दोनों ही आक्षेप दैवीवाक् अथवा वैदिकी वाक् पर लागू नहीं होते।

प्रथम आक्षेप में वह ईश्वर-उत्पादित वाक् में जिन गुणों की चाहना करता है, वे सब वैदिकी वाक् में पूर्णतः विद्यमान् हैं। वैदिकी वाक् जैसी सरल अकृत्रिम और तर्कयुक्त भाषा कोई भी नहीं है। वर्तमान संस्कृत भाषा भी इस वैदिकी वाक् जितनी उत्कृष्ट नहीं है। अतः प्रथम आक्षेप वैदिकी वाक् पर लागू ही नहीं होता।

दूसरा मत भी हर्डर के अज्ञान का द्योतक है। भारतीय वैयाकरण जहाँ समस्त नामों को आख्यातज मानते हैं, वहाँ वे साथ में यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि शब्द अपनी इकाई के रूप में स्वतन्त्र हैं। व्याकरण शास्त्र ने तो प्रकृति प्रत्यय विभाग का एक काल्पनिक पक्ष साधारण जनों को भाषा के परिज्ञान

---

२. इसका मूल ऋग्वेद में है—"नामधेयं दधीनाः" (१०।७१।१)।

३. इस विशिष्ट अर्थ के लिए लेखक का सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १ पृष्ठ ३ (द्वि० सं०) देखना चाहिए।

के लिए स्वीकार किया है। प्रतीत होता है इस भारतीय वैयाकरण मत से हर्डर सर्वथा अपरिचित था, अन्यथा वह उक्त आक्षेप न करता।

हर्डर ने 'भाषा का आरम्भ नाम शब्दों से होता' जो आक्षेप किया है वह भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि कोई भी लौकिक व्यवहार केवल नाम पदों से नहीं चल सकता। उसके लिए आख्यात पदों की नितान्त आवश्यकता है।

भारतीय मत—भारतीय मत है कि भाषा का आरम्भ न केवल नाम पदों से सम्भव है और न केवल आख्यात पदों से। भाषा की पूर्णता के लिए नाम आख्यात उपसर्ग और नियात चारों का सहयोग आवश्यक है।

भारतीय प्राचीन वैयाकरण मत के अनुसार संस्कृत भाषा में मूल भूत ऐसे ही शब्द हैं जो नाम की विभक्तियों से युक्त होकर नाम रूप धारण कर लेते हैं और आख्यात विभक्तियों से युक्त होकर क्रिया पद बन जाते हैं और वे ही जब दोनों प्रकार की विभक्तियों से रहित होते हैं, तब उपसर्ग वा नियात कहे जाते हैं। यथा—

पुष्प—यह नाम विभक्ति से युक्त होकर पुष्पः पुष्पौ पुष्पाः रूप नाम और दिवागण में पठित होने से पुष्प्यति पुष्प्यतः पुष्प्यन्तिः क्रिया रूप में परिणित होता है।

पाणिनीय धातु पाठ में ऐसी शतशः धातुएं हैं जो नाम और धातु पक्ष में समान हैं। नाम धातु के समस्त नियम इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

पशु—नाम रूप में पशुः पशू पशवः, क्रिया रूप में पशवति पशवतः पशयन्ति पक्षान्तर पशव्वति पशव्यातः पशव्यन्ति, और उभयविध विभक्तियों के अभाव में पशु नियात माना जाता है। लोधं नयन्ति पशु मन्य मानाः ऋकमन्त्र (३।५३।२३) में यह नियात रूप से प्रयुक्त है।[1]

इसी प्रकार समस्त नियात और उपसर्गों की व्याख्या हो जाती है।

---

१. वर्धमान ने पशु नियात के उदाहरण में यह ऋगंश उद्धृत करके व्याख्या की है—दर्शनीयत्रानं सम्यक् प्रतिपद्यमाना लोभं परित्यजन्तीत्यर्थः। गणरत्न महोदधि पृ० । ८।

आदि व्यावहारिकी भाषा की विपुलता—पूर्व निर्दिष्ट प्रकार से वैदिकी वाक् के आधार पर विकसित की गई आदि व्यावहारिकी भाषा अति विपुल थी। उसमें समस्त वैदिक शब्द और वैदिक शब्दों के नियमों पर विकसित किए गए कोटिशः शब्द विद्यमान थे। यह वैदिक पद बहुला आदि व्यावहारिकी भाषा प्राचीन काल में **अति भाषा** अथवा **आदि भाषा** नाम से व्यवहृत होती थी। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में **अतिभाषा** पद प्रयुक्त है—

अति भाषा तु देवानाम् आर्यभाषातु भूभुजाम् ।१७।२७।।

यहीं इसका **आदि भाषा** पाठान्तर भी मिलता है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनव गुप्त ने अति भाषा का अभिप्राय इस प्रकार व्यक्त किया है—

वैदिक शब्द बाहुल्याद् आर्यभाषातो विलक्षणत्वमस्या इत्यन्ये।
१७।२७।।

नाट्य शास्त्र में आर्य भाषा से अभिप्राय उस समय की शिष्ट लोगों की उस भाषा से है जो आदि भाषा में उत्तरोत्तर ह्रास होकर अवशिष्ट रही थी।

भाषा का ह्रास—उत्तर काल में मनुष्यों की शक्ति स्मृतिमेधा आयुष्य आदि ह्रास के साथ-साथ आदि कालीन अति विपुल व्यावहारिकी भाषा में भी उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और साथ ही उच्चारण अङ्गों के वैकल्प और अज्ञान के कारण उच्चारण शैथिल्य से अपभ्रंशों की उत्पत्ति भी आरम्भ हुई। जब ये अपभ्रंश अधिक मात्रा में साधारण जनों की भाषा में व्यवहृत होने लगे तो यह एक पृथक् भाषा बन गई। प्राचीन शास्त्रकारों ने इसे म्लेच्छ वाक् कहा है।[1]

प्राचीन आदि भाषा में उत्तरोत्तर ह्रास होते-होते यास्क पाणिनि आदि मुनियों के समय जो भाषा बची वह वेद में सुरक्षित वैदिक वाक् से अनेक विषयों में पृथक् सी प्रतीत होने लगी। अतः उस समय के आचार्यों ने संस्कृत भाषा के दो विभाग किए—वैदिकी वाक् और लौकिकी वाक्। यतः आदि काल में ऐसा कोई वास्तविक भेद नहीं था, अतएव कतिपय शास्त्रकार आदि पुरातन काल की अवस्था को ही प्रामाणिक मानते चले आए। इसी दृष्टि से

१. म्लेच्छवाचश्चार्य वाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ।१०।४५

भगवान् जैमिनि ने लोकवेदाधिकरण (१।३।३०) में सिद्धान्त किया—

य एवलौकिकास्त एववैदिकाः, त एवचतेषामर्थाः।

अर्थात् जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं और वे ही उनके अर्थ हैं।

संस्कृत भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन—संस्कृत भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन दो प्रकार का है—एक भारतीय और दूसरा पाश्चात्य। हम यहाँ इन दोनों के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

भारतीय भाषाशास्त्रीय अध्ययन—भारतीय आचार्यों ने संस्कृत भाषा का जो शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है वह तीन अङ्गों वा विभागों में बंटा हुआ है। प्रथम अङ्ग है शिक्षा=उच्चारण शास्त्र, दूसरा—व्याकरण=शब्द निर्वाचन शास्त्र, तीसरा निरुक्त=अर्थ निर्वाचन शास्त्र।

शिक्षा—शिक्षा शास्त्र प्रधानतया वर्णों के यथावत् उच्चारण करने की शिक्षा देता है, उनके स्थान करण और प्रयत्नों का निर्देश करता है और अन्यथा उच्चारण से उत्पन्न होने वाले अपभ्रंशों से बचाता है। उच्चारण दोष, पाठक-दोष और ऐन्द्रिक वैकल्प आदि का वर्णन करता है। यथा

यशोदा का जसोदा युवान का जवान यक्ष का जक्ख

इनमें य का ज अपभ्रंश क्यों होता है इसका कारण निर्हत=अधिक प्रयत्न दोष है। य का तालु स्थान और ईषत् स्पृष्ट प्रयत्न है यदि ईषत् स्पष्ट प्रयत्न के स्थान में कोई पूर्ण स्पष्ट प्रयत्न से उच्चारण करे तो य के स्थान पर समान स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न वाला ज स्वभावतः उच्चरित होगा। यही निर्हत दोष इस प्रकार के भाषा परिवर्तन का कारण है।

इसी प्रकार यदि किसी वर्ण का अर्धक=आधा=अल्प प्रयत्न रूपी दोष से उच्चारण करें तो जैसे अधिक प्रयत्न से य का ज होता है वैसे ही अधिक दोष से ज का य हो जाता है, क्योंकि ज का स्पृष्ट प्रयत्न है और त का ईषत्स्पृष्ट।

ये दो उच्चारण दोषों से उत्पन्न होने वाले अपभ्रंशों के उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार शिक्षादि शास्त्रों में कहे समस्त उच्चारण दोषों की मीमांसा की जाए तो समस्त अपभ्रंशों की व्याख्या हो सकती है।

व्याकरण— व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन है साधु शब्दों की अपभ्रंशों से

रक्षा। इसके लिए वह साधु शब्दों का उपदेश काल्पनिक प्रकृति प्रत्यय विभाग वर्णागम, वर्णविकार, वर्णविपर्यय के रूप में करता है। व्याकरण शास्त्र जहाँ वर्णागम वर्ण विकार वर्ण विपर्यय कहता है वहाँ उनकी वास्तविक सत्ता का उपदेश नहीं करता। यथा—

हिंस से सिंह, कृत+उ (=कर्तु) से तर्कु।

यहाँ व्याकरण का यह अभिप्राय नहीं समझना कि जैसे चाकू से काचू अथवा लखनऊ से नखलऊ आदि में अपठित लोगों द्वारा वर्ण विपर्यय किया जाता है वैसे ही संस्कृत भाषा में हिंस से सिंह और कर्तु से तर्कु बन गया है।

व्याकरण शास्त्र जहाँ कहीं भी लोप आगम आदेश वा वर्ण विपर्यय कहता है वहाँ सर्वत्र उन शब्दों की उन मूल प्रकृतियों की ओर संकेत करता है जो पाणिनि आदि के काल में लुप्त हो चुकी थीं, परन्तु उनसे निष्पन्न कृदन्त आख्यात वात्तद्धितान्त शब्द लोक में प्रयुक्त थे।[1] यथा—

(१) मानुष और मनुष्य शब्द की निष्पत्ति पाणिनि ने मनु शब्द के अन्त में ष का आगमन करके दर्शाई है—मनोर्जातावञ्यतौषुक् च (अष्टा ४।१।१६१) इकार पाणिनि मनु शब्द में षकार जोड़कर मनुष् रूप लुप्त प्रकृति का निर्देश किया है। यह षकारान्त मनुष् शब्द लौकिक वाङ् मय में प्रयुक्त नहीं है वेद में बहुधा प्रयुक्त मिलता है।

(२) कानीन पद के लिए भी पाणिनि ने कन्या शब्द को कनीन आदेश किया है—कन्यायाः कनीन च (अष्टा० ४।१।११६)। कानीन की मूल प्रकृति कनीना भी लोक में व्यवहृत नहीं है। इसलिए पाणिनि ने कन्या को कनीन आदेश करके लुप्त प्रकृति का उद्धार वा निर्देश किया है। कनीना शब्द कनीनक के रूप में एक स्थान पर प्रयुक्त है। अवेस्ता में इसका अपभ्रंश कईनीन मिलता है। व्याकरण शास्त्रकारों को भारतीय भाषा विज्ञान का यह मत विदित था कि संस्कृत भाषा में उत्तरोत्तर ह्रास के कारण बहुत अव्यवस्था हो चुकी है, किन्हीं शब्दों की प्रवृत्तियों का प्रयोग भारत से लुप्त

१. इस विषय की मीमांसा लेखक ने 'ऋषि दयानन्द की पदप्रयोगशैली' नामक ग्रन्थ में की है। इस ग्रन्थ में ऋषि दयानन्द प्रयुक्त असाधु कहे जाने वाले पदों का साधुत्व दर्शाया है।*

हो गया। देशान्तर में देखा जाता है। कई प्रवृत्तियों से निष्पन्न कृदन्त वा तद्धितान्तों का प्रयोग नष्ट हो गया है। शवति गति कर्माकम्बोजेष्वे व भाष्यते विकार एवेनमार्या भाषन्ते शव इति इत्यादि निरुक्त और महाभाष्य के वचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय भाषा शास्त्रज्ञ उक्त अव्यवस्था से परिचित थे, इसी कारण लोक प्रयुक्त शब्दों की व्यवस्था करने के लिए प्रवृत्तियों में वर्णों का लोप आगम आदेश विकार और विपर्याय दिखाया और इस प्रकार सहस्रों विलुप्त प्रकृतियों का उद्धार किया इसीलिए भट्ट कुमारिल ने कहा है—

यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः यस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षित रूपाणि च। तन्त्रवर्तिक १।३।१२।

पाश्चात्य भाषाविदों ने भारतीय शास्त्रों के अन्तः स्पूत रहस्यों को न समझकर अपभ्रंश भाषाओं में देखे जाने वाले वर्णों के लोप आगम विकार आदेश और विपर्यय के अनुसार संस्कृत भाषा में भी उन्हें यथातथ समझकर एक झूठी कल्पना की कि संस्कृत से पूर्व भी कोई एक भाषा थी, जिससे बिगड़ कर संस्कृत भाषा बनी है।

निरुक्त शास्त्र—निरुक्त शास्त्र का वास्तविक क्षेत्र अर्थ निर्वचन है[1], न कि व्याकरण के समान शब्द निर्वचन। इसीलिए निरुक्तकार ने स्वयं कहा है—व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम् स्वार्थसाधकं च (१।१४)। व्याकरण शास्त्र में साधु शब्दों के प्रयोग की महिमा गाई गई है—एक शब्दः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति (महा भाष्य) निरुक्त में अर्थज्ञ की प्रशंसा और अर्थ न जानने वाले की निन्दा की है—अथापि ज्ञानप्रशंसाभवति, अज्ञान निन्दा च (१।१७, १८)। इतना ही नहीं, निरुक्त ग्रन्थ निघण्टु का भाष्य है। निघण्टु में अन्य कोषों के समान एकार्थक अनेक शब्द और अनेकार्थक शब्दों का संग्रह है। निघण्टु शब्द भी कोष का पर्याय है। ऐसी अवस्था में निरुक्त शास्त्र को शब्द निर्वचन शास्त्र मानना ठीक वैसा ही है, जैसी कोशग्रन्थों की टीकाओं

---

१. निर्वचनं नाम अर्थस्यान्वाख्यानम्। अनन्त, भाषिक सूत्र व्याख्या। ।३।१६।।

को व्याकरण शास्त्र का ग्रन्थ मानना ।

पाश्चात्य विद्वान और उनके अनुयायी स्वयमधीतशास्त्र होते हैं । परम्परा से चले आए गुरु शिष्य सम्प्रदाय के अनुसार गुरु चरणों में बैठकर उन्होंने शास्त्र को नहीं पढ़ा । अतः वे शास्त्रों के मर्म को समझने में सर्वथा रहित होते हैं । इस कारण ये लोग भर्तृहरि के **यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्** वचनानुसार अभिमान में मत्त होकर यास्क को प्रमादी मूर्ख झक्की आदि कहते हैं और उसके १२०० निर्वचनों में से ६५० के लगभग अशुद्ध बनाने का दुःसाहस करते हैं । इसीलिए शास्त्रकारों ने **पुस्तकाधीती** पुस्तक से पढ़ने वाले की निन्दा की है ।

इस प्रकार भाषाशास्त्र का विस्तार-वर्णोच्चारण, शब्द निर्चन और अर्थ निर्वचन तीन क्षेत्रों तक है । भारतीय आचार्यों ने अपने शिक्षा व्याकरण और निरुक्तनामा वेदाङ्गों में इस का विस्तार से ठीक ठीक वर्णन किया है ।

पाश्चात्य भाषा विज्ञान

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य होने पर पाश्चात्य विद्वानों का संस्कृत भाषा से कुछ सम्पर्क आरम्भ हुआ । इस सम्पर्क से विशुद्धान्तः करण कतिपय विद्वान संस्कृत भाषा और उनके प्राचीन साहित्य के सौष्ठव पर लट्टू हो गए । उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगा कि हम लोगों की योरोपियन भाषाओं के साथ संस्कृत का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ । इस प्रकार वे अपनी भाषाओं की जननी के रूप में संस्कृत भाषा को पाकर कृत कृत्य हो गए । परन्तु कतिपय ईसाई यहूदी पक्ष-पाती विद्वानों को संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय की प्रशंसा अच्छी न लगी । क्योंकि इससे जहाँ ईसाई यहूदी मत की अनेक मान्यताओं का खण्डन होता था वहाँ राजनैतिक दृष्टि से परतन्त्र भारतीयों के हृदयों में आत्मगौरव की भावना उत्पत्ति की आशंका भी थी । इन दोनों कारणों से पाश्चात्य विद्वानों ने अनुसन्धानों के नाम पर झूठी मान्यताएँ प्रकट करके भारतीय भाषा, संस्कृति और साहित्य को नष्ट करने के लिए भरसक प्रयन किया । इन्होंने

संस्कृत भाषा और उसके साहित्य की प्रशंसा में लिखने वाले अपने सजातीयों का भी बहुत अपमान किया। अन्त में ब्रिटिश राज्य की सहायता से धूर्तों का प्रयत्न सफल हुआ। यतः उनके ही ग्रन्थ यहां के शिक्षाक्रम में रखे गए, अतः भारत में भी उनके उच्छिष्ट भोजियों की एक बड़ी सेना तैयार हो गई, जो आज स्वयं शास्त्रीय रहस्यों को न जानते हुए भी यास्क पाणिनि व्यास सदृश असाधारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को मूर्ख झक्खी और दुराग्रही कहकर अपमान करने में ही अपना बड़प्पन समझते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत भाषा और उनके साहित्य को नष्ट करने के उद्देश्य से जिन साधनों का अवलम्बन किया, उनमें भाषाविज्ञान एक प्रमुख साधन है। इसके द्वारा पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत भाषा, जो समस्त योरोपियन वा भारतीय भाषाओं की जननी के रूप में प्रत्यक्ष जानी जाती है, को प्राचीन ग्रीक लैटिन आदि के समकक्ष रखने का प्रयास किया और उससे पूर्ववर्ती अस्तित्व रहित काल्पनिक भाषा की सृष्टि की।

अपने भाषा विज्ञान के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना की कि मूल योरोपीय भाषा में नए ह्रस्व एकार ओकार थे, संस्कृत भाषा में उन का आकार में परिवर्तन हो गया, परन्तु प्राचीनग्रीक लैटिन आदि ने प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखा। यथा-संस्कृत अस्ति, ग्रीक—एस्ति (ESTI), लैटिन—एस्त (EST)। संस्कृत—जनः, ग्रीक (DGENOS), लैटिन (GENUS)

वस्तुतः संस्कृत भाषा पर यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। इसके दो कारण हैं— प्रथम भारतीय शिक्षाऽऽचार्य ह्रस्व एकार ओकार की सत्ता से अभिज्ञ हैं। आपिशलि और पाणिनि दोनों ने अपनी शिक्षा में सामगान में ह्रस्व एकार ओकार का उच्चारण स्वीकार किया है। अतः यह कहना कि संस्कृत भाषा में ह्रस्व एकार ओकार नहीं थे सर्वथा मिथ्या है। दूसरा—प्राचीनग्रीन और लैटिन ने परम्परा प्राप्त ह्रस्व एकार ओकार का रक्षण किया, यह कथन भी मिथ्या है ग्रीक लोग ह्रस्व अकार का उच्चारण ही अपनी अशक्ति के कारण ह्रस्व एकार ओकार के रूप में उसी प्रकार करते हैं जैसे कि बंगाली अकार का ओकार सदृश उचरण करते हैं। इस के प्रमाण के लिए हम उन विशुद्ध भारतीय शब्दों का निर्देश करते हैं जिनके अकार का उच्चारण ग्रीक लोगों में

एकार ओकार के रूप में विकृत हो गया—

संस्कृत नाम	ग्रीक रूप
मधु	मेथु (METHU)
मथुरा	मेथोरा (METHORA)
शतद्रु	हेजिड्रस (HESIDRUS)
दशार्ण	दोसोर्न (DOSORNA)
माही	मोफिस (MOPHIS)
यमुना	जोमनेस (JOMANES)

ये भारतीय शब्द भारत से ही यूनान में पहुँचे थे यह निर्विवाद है। इन में अकार का ए ओ रूप में परिणत हुआ है। अतः ग्रीक भाषा ने ह्रस्व ए ओ की परम्परा को सुरक्षित रखा, संस्कृत में परिवर्तित हो गया यह कहना नितान्त मिथ्या है।

भारतीय भाषा विज्ञान वेत्ता आचार्य वर्ण परिवर्तन के सभी कारणों से भले प्रकार विज्ञ थे, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं। ह्रस्व अकार इ उ ए ओ में परिणत क्यों होता है, इस का निर्देश भी आचार्य आपिशलि और पाणिनि ने आज से लगभग पांच सहस्र वर्ष पूर्व व्यक्त कर दिया था। दोनों आचार्यों ने अपने शिक्षा ग्रन्थों में एक सूत्र पढ़ा है।

सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।

अर्थात् अकार का सर्वमुख स्थान है।

इस नियम के अनुसार जब अ कण्ठ के स्थान में तालु से बोला जाएगा तब वह इकार सदृश ध्वनि देगा। इसी प्रकार ओठ से बोले जाने पर उकार सदृश, कण्ठ तालु से बोले जाने पर एकार सदृश और कण्ठ ओष्ठ से बोले जाने पर ओकार सदृश उच्चारण होता है। यथा—

पण्डित को हिसार के लोग पिण्डित बोलते हैं। कई लोग खच्चर को खिच्चर और खुच्चर कहते हैं। बंगालियों का अ को ओकार जैसा बोलना प्रसिद्ध है। अब इस नियम के प्रकाश में अग्नि के विभिन्न भाषाओं के विभिन्न उच्चारणों को देखिए—

सँस्कृत अग्निः शब्द लैटिन में इग्निस्, पुरानी लिथूनियम में उङ्निस् और स्लौवानिक में ओग्नि रूप में परिवर्तित हुआ है। सामगान में अग्नि का ओग्नाई रूप प्रयुक्त होता है।

इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय भाषा विज्ञान विद् आचार्य कितने प्रतिभाशाली थे। जिन परिवर्तनों की व्याख्या पाश्चात्य भाषा विद् पूर्णतया करने में आज भी असमर्थ हैं, उनकी व्याख्या आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के शिक्षाकार, प्राकृत भाषा के व्याकरणकार और नाट्य शास्त्रकार कर चुके हैं।

पाश्चात्य भाषा शास्त्र पर वज्रप्रहार—भारतीय प्राचीन आचार्यों ने संस्कृत भाषा के स्वरूप की जिस सूक्ष्मता से रक्षा की है, उसे न चाहते हुए भी पाश्चात्य विद्वानों को स्वीकार करना पड़ा है। संस्कृत भाषा के पितृ शब्द के त के स्थान में जर्मन में PETAR में त ही रहता है, और संस्कृत भ्रातृ शब्द के त के स्थान में BRADER में द होता है। यह भेद क्यों हुआ। इस की मीमाँसा करते हुए बर्नर ने इस परिवर्तन भेद का कारण स्वर भेद बताया। जैस्पर्सन ने लिखा—'जर्मन भाषा में इस भेद का कारण स्वर से समझ में आता है। यह स्वर विधान अपने प्राचीन तम रूप में केवल संस्कृत में सुरक्षित है।' (भ्रातृ, पितृ)

इस स्वर शास्त्र के ज्ञान होने पर पाश्चात्य भाषाविज्ञों को प्राचीन ग्रिम नियम में संशोधन करना पड़ा और नया बनाया—जब उदात्तस्वर तप से अव्यवहित पूर्व होता है तब प्राचीन ग्रिम नियम काम करता है परन्तु जब उदात्तस्वर क त प से अव्यवहित उत्तर आवे तब संस्कृत ध्वनियों के स्थान में ग द ब हो जाते है।

अब विचारणीय है कि जब बर्नर और जैस्पर्सन सदृश पाश्चात्य भाषा विद संस्कृत भाषा में उदात्तादि स्वरों की परम्परा को सुरक्षित मानते हैं तब जिन वर्णों के आधार पर स्वर धर्म निहित हैं उनमें परिवर्तन कैसे माना जा सकता है। इस से स्पष्ट है कि यदि उदात्तादि स्वर संस्कृत भाषा में सुरक्षित रहे तो उनमें ह्रस्व ए ओ का आ में विपरिणाम भी नहीं माना जा सकता। भला यह कैसे सम्भव हो सकता है कि प्राचीन भारतीयों ने अति सूक्ष्म स्वर धर्म को तो सुरक्षित रखा परन्तु उनके आधार भूत वर्णों को परिवर्तित कर दिया। भाषा के ह्रस्व का इतिहास भी संस्कृत भाषा में परिवर्तन के विपरीत

है। प्राचीन संस्कृत में विद्यमान उदात्तादि स्वर अब नहीं रहे परन्तु प्राचीन संस्कृत में जो वर्ण जैसे प्रयुक्त होते थे वे आज तक सुरक्षित हैं। कोई भी वैदिक पद उत्तर वर्त्ती संस्कृत में परिवर्तित नहीं हुआ।

इस दृष्टि से वैदिकी वाक् अद्य यावत् अपरिवर्तित है। इस अपरिवर्तित का श्रेय यहां के कुम्भीधान्य निष्कारण वेदाध्ययन करने वाले तपः पूत ब्राह्मणों को है और साथ ही यहां के शिक्षाकारों वैयाकरणों और नैरुक्तों ने भी इस अपरिवर्तन में महती सहायता की है। इस कारण अनादिकाल से अद्ययावत् संस्कृत भाषा में वर्णों का लोप आगम विकार और विपर्यय आदि नहीं हुए।

वैदिक वाक् का भाषा शास्त्रीय मूल्य—भगवान् पाणिनि ने अपने समय में अवशिष्ट शिष्ट भाषा = संस्कृत के व्याकरण का प्रवचन करते हुए वैदिकी वाक् के वैशिष्ट्य का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। उस पर गम्भीरता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि तात्कालिक अथवा वर्तमान काल में अवशिष्ट संस्कृत भाषा से वैदिकी वाक् अत्यन्त विस्तृत है। उदाहरण के लिए हम दो चार भेद उपस्थित करते हैं—

(१) लौकिक संस्कृत में जिस अर्थ में अकेला तुमुन् प्रत्यय होता है वैदिकी वाक् में उसी अर्थ में तुमुन् के अतिरिक्त लगभग २० से ऊपर प्रत्यय होते हैं जिन का पाणिनि ने अपने शास्त्र में विधान किया है।

(२) लौकिक संस्कृत में अकारान्त के प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में देवौ प्रथमा वहुवचन में देवाः तृतीया वहुवचन में देवैः एक एक रूप ही होता है परन्तु वैदिक संस्कृत में क्रमशः देवा देवौ, देवासः देवाः, देवेभिः देवैः दो रूप होते हैं।

(३) लौकिक संस्कृत में उपसर्गों का प्रयोग क्रिया पद से अव्यवहित पूर्व होता है परन्तु वैदिकी वाक् में व्यवहित पूर्व और पर सर्वत्र प्रयोग देखा जाता है।

(४) लौकिक संस्कृत में समास में क्त्वा को यप् होता है और बिना समास के क्त्वा का प्रयोग होता है, परन्तु वैदिकी वाक् में क्त्वा और यप् दोनों स्वतन्त्र प्रत्ययों के समान समास असमास उभयत्र प्रयुक्त होते हैं। इन दो प्रत्ययों के साथ एक तीसरा प्रत्यय क्त्वा और देखा जाता है।

ऐसे अनेक वैशिष्ट वैदिकी वाक् में निहित हैं जो उस से विकसित की गई आदि व्यावहारिक भाषा में आए। उन सब वैशिष्टयों से युक्त अति भाषा वा

आदि मानवी भाषा से संसार की समस्त भाषाओं की उत्पत्ति हुई। जब तक उस प्राचीन अति भाषा का विशाल स्वरूप पुनः उपस्थित न किया जाएगा तब तक भारतीय विद्वानों का यह मन्तव्य कि वैदिकी वाक् से समस्त संसार की भाषाओं का उद्गम हुआ पूर्ण न होगा। इस के लिए ऐसे महाकोष की आवश्यकता है जिसमें अतिभाषा के उन सब शब्दों का संग्रह हो जो प्राचीनकाल में व्यवहृत थे और आज हम जिन्हें भूल गए हैं।

इस अतिभाषा के स्वरूप ज्ञान में पाणिनीय व्याकरण और अन्य प्राचीन व्याकरण नियम अतिशय उपयोगी हैं। मुझे इस दिशा में कार्य करते हुए २१ वर्ष हो गए हैं अब इस परिस्थिति में पहुँचा हूँ कि वर्तमान में ज्ञात संस्कृत शब्द समूह से न्यूनातिन्यून चार पाँच गुने अधिक शब्दों को उपस्थित किया जाए। अभी मैं पाणिनीय व्याकरण की इस दृष्टि से केवल चतुर्थांश भाग की व्याख्या में ही सफल हुआ हूँ। परन्तु इससे मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यदि भारतीय विद्वान प्राचीन अतिभाषा के स्वरूप को यदि अधिक मात्रा में उपस्थित कर दें तो निश्चय ही पाश्चात्य भाषा विज्ञान का आज तक निर्मित गढ़ क्षणमात्र में धराशायी हो जाएगा।

आधुनिक भाषाविज्ञान के संस्थापक संस्कृत भाषा से लेशमात्र परिचित थे उन्हें वर्तमान में व्यवह्रियमाण संस्कृत भाषा का भी पूरा ज्ञान नहीं था। उदाहरण के लिए हम पाश्चात्य भाषा विज्ञान के अति प्रसिद्ध महारथी का एक वचन उद्धृत करते हैं—

"कतिपय शब्दों की तुलना से ज्ञात होता है कि योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अधिक दूर है। बंगला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्दों का संस्कृत के पितृ और स्वसृ शब्द से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।"

इतने बड़े भाषाविज्ञ माने गए बाँप को संस्कृत के प्रारम्भिक छात्रों के बराबर भी संस्कृत का ज्ञान नहीं था यह उस के इस उद्धरण से स्पष्ट है। संस्कृत का प्रारम्भिक छात्र भी बहिन का वाचक भगिनी शब्द से, और अमरकोष कण्ठस्थ करता हुआ पितृवाचक बाप शब्द से परिचित होता है। ये 'बाप' और 'भगिनी' ही बंगला के बाप और बोहिनी की प्रकृति हैं।

इस पर उदाहरण से ही यह स्पष्ट हो सकता है कि पाश्चात्य भाषा विज्ञान संस्कृत ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त संकुचित भूमि पर खड़ा है अतएव उसके परिमाण सर्वथा परीक्ष्य हैं।

हमारी परम निधि : वेद

श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार



साधारणतः नास्तिक का अर्थ ईश्वर को न मानने वाला समझा जाता है, किंतु मनुस्मृति में नास्तिक का अर्थ वेदों की निन्दा करने वाला किया गया हैं। "नास्तिको वेद निन्दकः ।" हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि प्राचीन काल में नास्तिक शब्द एक गाली समझा जाता था। इसका साफ अर्थ यह है कि परमात्मा को न मानना इतना बुरा न नहीं माना जाता था, जितना कि वेद की निन्दा करना। वेदों के प्रति हमारी प्रगाढ़ श्रद्धा का यह एक प्रमाण है।

मध्यकाल में एक ऐसा समय आया, जब कि साँख्य दर्शन को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक, भले ही वे नव सांख्य वादी हों, इस सृष्टि के कर्त्ता परमात्मा की सत्ता से इन्कार करते थे किन्तु वे भी वेदों की स्वतः प्रमाणता पर अगाध विश्वास करते थे, उसे अस्वीकृत करने का साहस नहीं कर सकते थे। इसका अर्थ यह है कि उनकी दृष्टि में वेदों का महत्त्व परमात्मा से भी अधिक था।

यह दो प्रमाण इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि एक समय ऐसा अवश्य था कि जब भारतीय विद्वानों का एक वर्ग वेदों में वह श्रद्धा और आस्था रखता था, जो इस सृष्टि के विधाता और नियन्ता भगवान के प्रति भी नहीं थी। वस्तुतः चारों वेद भारतीय विचारधारा में इतना अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके थे कि उसकी तुलना संसार के किसी भी देश के

किसी भी धर्म से नहीं की जा सकती। इसी सत्य को ऋषि दयानन्द ने पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था।

प्राचीन भारतीय विद्वानों का यह विश्वास रहा है कि भगवान ने मानव जाति के कल्याण के लिए—इस कल्याण में अभ्युदय और निश्रेयस दोनों ही सम्मिलित हैं—सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश दिया था। यही कारण हैं कि प्राचीन भारत का साहित्य-धार्मिक अथवा लौकिक वेदों की महिमा से अनुप्राणित है। शतपथ ब्राह्मण में चारों वेदों को श्वास प्रश्वास की क्रिया के समान भगवान की अनायास उत्पत्ति कहा है।

एवं अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्।
एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः॥
२१.१४।५।४।१०॥

इसी ब्राह्मण में कहा गया है कि संसार में जो कुछ भी सत्य है, वह त्रयी विद्या हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी वेदों की अनन्त महिमा का वर्णन करते हुए, ऋग्वेद और सामवेद को सरस्वती के भरने बताया है। वेदों के ज्ञान से परमात्मा ज्ञान सम्भव है, जो वेद को नहीं जानता वह परमात्मा का स्मरण भी नहीं कर सकता। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम तै ३।१२।६।७॥

प्राचीन शास्त्रों से ऐसे सैंकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे वेदों के प्रति प्राचीन विद्वानों की अगाध श्रद्धा का वैसा परिचय मिलता है जैसा किसी भी अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रति संसार के किसी भाग में उपलब्ध नहीं होता। शंकराचार्य प्रकाण्ड तार्किक थे। अपने तर्क के बल पर ही वह भारतवर्ष के प्रकाण्ड विद्वानों को परास्त कर सकते थे। ऐसा तार्किक विद्वान भी वेदों की प्रमाणिकता से इन्कार करने का साहस नहीं कर सका। उन्होंने इस परम रहस्य-मयी विशाल सृष्टिकी अपेक्षा भी वेदों को अधिक महत्त्व दिया और ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण में यही युक्ति दी कि वेद शास्त्र का निर्माण करने वाला कोई महान तत्त्व तो होना ही चाहिए। वे लिखते हैं कि "सर्वज्ञान युक्त वेदों का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। पुरुष के श्वास प्रश्वास की तरह अनायास ही ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति हुई है।"

उपनिषद, रामायण, महाभारत, गीता तथा अन्य शास्त्रों में वेदों के सम्बन्ध में जो श्रद्धापरक वाक्य हैं, उनको लिखकर हम पाठकों के मस्तिष्क

पर कोई बोझ नहीं डालना चाहते। वेद तो भगवान का ऐसा काव्य देवस्य पश्य काव्यम् न ममार न जीर्यति। यदि हम वेदों के इस महत्त्व को समझ लें तो हमें यह भी समझने में कठिनता न होगी कि ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज का तीसरा नियम क्यों बनाया है और उसमें अनेक ब्रह्म थियोसोफिस्ट विद्वानों के विरोध के बावजूद वेदों में सब और सत्य शब्दों पर क्यों आग्रह करते हैं। वस्तुतः वेद भारतीय संस्कृति और भारतीय विचारधारा के आधारभूत स्तम्भ हैं। इन्हें किसी एक मत या सम्प्रदाय के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। वेदों की रचना शैली अद्भुत है। एक-एक ऋचा अनेक अर्थों का प्रतिपादन करती है। यदि उसमें अध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान होता है तो उससे आदि-भौतिक और आधि दैविक सत्य भी हम प्राप्त कर सकते हैं।

ऋषि दयानन्द ने वेदों की इस अद्भुत और अनन्त रत्न पूर्ण निधि को उस पर पड़ी हुई धूलि और गर्द गुबार को झाड़ पोछ कर विशुद्ध रूप में हमारे सामने पुनः प्रस्तुत किया और हमें बताया कि यह वस्तुतः ज्ञान है, जिसे हम भूल गये थे।

आज से करीब ४० वर्ष पूर्व जब पुण्य श्लोक पं० जयदेव जी विद्यालंकार वेदों का भाष्य करते हुए किसी उद्वेष के कारण वेद भाष्य छोड़ने का विचार करते थे, तो मैंने उन्हें यही कहा था कि आप भूखे रहकर भी यह महान कार्य अवश्य सम्पन्न कीजिए। इससे आपकी आत्मा को परम सन्तोष मिलेगा। किसी विद्वान की दृष्टि में वेद ईश्वरीय ज्ञान न हो तो भी वेद सृष्टि के पुस्तकालय में सबसे प्रथम ग्रन्थ हैं। यदि आज भी यूरोप के विद्वान प्लेटो और अरस्तू के ग्रन्थों पर इतना अधिक परिश्रम करते हैं तो वेदों पर तो उनसे हजार गुना परिश्रम किया ही जाना चाहिए।"

यह दुःख की बात है कि आर्य समाज के इस विद्वान को अपने जीवन के सन्ध्याकाल में जीवन यात्रा के लिए एक कन्या-शिक्षणालय में कार्य करने को विवश होना पड़ा। हमने विद्वानों की सेवाओं का आदर नहीं किया। प्रश्न यह है कि ऋषि दयानन्द का उत्तराधिकारी आर्य समाज वेदों का नारा लगाकर ही रह जायगा अथवा वेदों के अध्ययन की ओर भी प्रवृत्त होगा और उनकी शिक्षाओं के अनुकूल चलने का प्रयत्न करेगा? ●

वेद और विज्ञान

- श्री पं० रामनाथ वेदालंकार
- श्री पं० प्रेमचन्द्र शास्त्री
- श्री शिवपूजन सिंह "पथिक"

"वेद" सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। अतः वे सभी विद्याएं जिन से मनुष्य जीवन के सत्य को प्राप्त कर सकता है, 'वेद' में निहित हैं। विज्ञान के जिन आधार भूत तत्त्वों का वर्णन 'वेद' में वर्णित है वे अत्यन्त खोज पूर्ण विस्तृत ग्रन्थ का विषय हैं। फिर भी तीन विद्वानों द्वारा इस महत्त्वपूर्ण विषय पर हमें गंभीर विचार पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। इन से 'वेद' में भरे विज्ञान-भंडार का स्वल्प परिचय पाठक पा सकेंगे। —सम्पादक

जन कल्याण के लिए वैदिक-विज्ञान

श्री रामनाथ वेदालंकार

विज्ञान मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक आवश्यकता है। हम संघर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करते हैं, कोयलों पर रोटी को फुलाते हैं, बारूद से पर्वत खण्डों को तोड़ते हैं, नल द्वारा पानी को ऊँचाई पर ले जाते हैं, कूप से पानी खींचने के लिए चरखी का उपयोग करते हैं, सिंचाई के लिए ढेंकली लगाते हैं, शीत में ऊनी वस्त्र पहनते हैं, पर्वत पर चढ़ते समय शरीर को झुका लेते हैं, इत्यादि हमारी छोटी-छोटी क्रियाओं में भी विज्ञान के नियम काम करते हैं, भले ही हमारा उनकी ओर ध्यान न जाता हो। मनुष्य विज्ञान के बिना पंगु है। विज्ञान द्वारा ही वह हिंस्र जन्तुओं तथा शत्रुओं से रक्षार्थ शस्त्रास्त्रों का निर्माण करता है, शीघ्रता से स्थानान्तर पर पहुँचने के लिए यानों को रचता है, रुग्ण होने पर है स्वास्थ्य-लाभ के उपायों का आविष्कार करता है, विविध विद्याओं की उन्नति के लिए यन्त्र बनाता है, उपयोगी वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए कारखाने निर्मित करता है। वेदों में जिस प्रकार धार्मिक राजनीतिक आदि क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए प्रेरणाएं दी गयी हैं, उसी प्रकार वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगति के लिए भी वेद हमें प्रेरित करते हैं, यद्यपि इतना अवश्य है कि वेद की दृष्टि में विज्ञान का उपयोग जनकल्याण के लिए होना चाहिए। यहाँ हम वेदों में उल्लिखित कुछ वैज्ञानिक बातों की चर्चा करेंगे।

व्योमयान

वेदों में व्योमयान से आकाश में उड़ने का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। ऋग्वेद में एक ऐसे रथ का वर्णन किया गया है जिसमें न घोड़ा है, न लगाम है, जो तीन पहियों से चलता है तथा आकाश में भ्रमण करता है—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो
रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः ।ऋग् ४।३६।१

एक अन्य स्थान पर सैनिकों को प्रेरणा की गई है कि तुम ऐसे व्योम-यानों पर स्थित होकर पक्षियों के समान उड़ो, जो विद्युत से चलते हों, जिनके विशाल पंख हों तथा जिनमें शस्त्रास्त्र एवं आवश्यक खाद्य-सामग्री निहित हो—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै
रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।
आ वर्षिष्ठया न इषा—
वयो न पप्तता सुमायाः ।।ऋग् १।८८।१

ऋग्वेद के दशम मण्डल में कपोत नामक एक व्योमयान का वर्णन हैं जैसे आज कल व्योमयानों के नाम राजहंस आदि रख लिये जाते हैं। दूसरे देश का दूत होकर एक कपोत किसी अन्य देश में पहुँचा है। उस देश के वासी उसका स्वागत करते हुए कहते हैं कि दूसरी भूमि का दूत जो यह कपोत हमसे कुछ चाहता हुआ हमारी भूमि में आया है, उसका हम सत्कार करते हैं—

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्
दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं
शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ।। ऋग् १।१६५।१

यह ठीक वैसा ही प्रसंग है, जैसे हमारे पड़ौसी देश पाकिस्तान का कोई यान (यानारोही दल) किन्हीं समस्याओं पर वार्तालाप करने के लिए हमारे देश में आये। जैसे इस मन्त्र में पक्षिविशेष कबूतर वाची कपोत शब्द विमान

के लिए प्रयुक्त किया है, वैसे ही अन्यत्र पक्षिसामान्य वाची 'वि' शब्द आता है।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुद्रियः ॥ऋग् १।२५।७

यहाँ वरुण की स्तुति में कहा गया है कि वह आकाश में उड़ने वाले विमानों तथा समुद्र में चलने वाली नौकाओं को जानता है। नौकाओं की तुलना में पक्षिवाची 'वि' शब्द का विमान अर्थ करने में ही अधिक औचित्य है।

जलयान

जलयान के प्रयोग का उपदेश देने के लिए वेद में 'अश्विनौ' द्वारा व्यापारी भुज्यु को समुद्र पार ले जाने का एक काल्पनिक कथानक मिलता है। तुग्र एक राजा है, वह अपने देश के व्यापारी भुज्यु तथा उसके साथियों को जलपोतों द्वारा देशान्तर में भेजता है। पोतचालक अश्वी निरन्तर तीन दिन-रात जलयात्रा कराते हुए उन्हें सुरक्षित पार पहुँचा देते हैं—

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः ।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिः अन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥
तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भि र्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः ।
समुद्रस्य धन्वंन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥
ऋग् १।११६।३।४

यहाँ नौकाओं या जलपोतों की विशेषता बताने वाले उनके कुछ विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। 'अन्तरिक्षप्रुद्' से सूचित होता है कि वे जलपोत बिना डूबे पानी के ऊपर-ऊपर चलते हैं। 'अपोदक' से आशय है कि उन पर पानी का प्रभाव नहीं होता, अर्थात् वे 'वाटरप्रूफ़' हैं। वे पतंग हैं, अर्थात् वेग के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि वे पानी के ऊपर उड़े चले जा रहे हैं। वे शतपद् भी हैं, क्योंकि उनमें चलाने-रोकने आदि के लिए अनेक कलें लगी हुई हैं। ६ इंजनों वाले होने के कारण वे षडश्व हैं। इस प्रसंग में आये तुग्र, भुज्यु एवं अश्विनौ शब्द भी यौगिक हैं। राजा के अर्थ में आया तुग्र शब्द 'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु' धातु से औणादिक रक् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इससे राजा का शत्रुहिंसक, बली, संग्रहशील आदि होना सूचित होता है। 'भुज्यु' का अर्थ है भोग्य पदार्थों की इच्छा करने वाला, यहां इच्छा

अर्थ में क्यच् प्रत्यय हुआ है। अश्विनौ का अर्थ है अश्वों वाले या गति वाले अर्थात् चालक।

एक अन्य मन्त्र में ऐसे यान का उल्लेख है. जो पनडुब्बी की तरह समुद्र के अन्दर भी चल सकता है, तथा आवश्यकतानुसार पक्षी के समान आकाश में भी उड़ सकता है। इसे भी अश्विनौ ने तुग्र के पुत्र भुज्यु के उपयोग के लिए रचा है—

युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवम्
आत्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम् ।ऋग् १।१८२।५

जल के घटक तत्व

आधुनिक विज्ञानवेत्ता प्रयोगशाला में परीक्षण करके दिखाते हैं कि जल घटक तत्त्व ओक्सिजन तथा हाइड्रोजन नामक दो गैसें हैं। उनमें विद्युद्द्वारा प्रवाहित करने से जल उत्पन्न हो जाता है, तथा विद्युत् द्वारा जल को फाड़ने पर वह उक्त गैसों में विभक्त हो जाता है। यह रहस्य निम्न वेदमन्त्र में वर्णित है—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥ऋग् १।२।७

इसमें उक्त दो गैसों को क्रमशः मित्र तथा वरुण नाम दिया गया है। जल के लिए घृत शब्द प्रयुक्त हुआ है—घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चति कर्मणः, निरुक्त ७।२४। अथर्व वेद में एक स्थान पर वर्षा को मित्र और वरुण से मिलकर बना हुआ कहा गया है—न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति, अथर्व ५।१९।१५। ऋग्वेद के इस मन्त्र में वसिष्ठ को मित्र एवं वरुण से उत्पन्न तथा उर्वशी के मन से अधिजात कहा है। यहां भी वसिष्ठ से वर्षा की बून्द अभिप्रेत है, और मित्र-वरुण उक्त दो वायुएं तथा उर्वशी विद्युत है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ
उर्वश्यां ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः ॥ऋग् ७।३३।११

वर्षा कराना

कभी-कभी वर्षा की महती आवश्यकता होने पर भी वर्षा नहीं होती, या तो बादल आ-आकर चले जाते हैं, या आते ही नहीं। ऐसी अवस्था में वर्षा कराने के उपायों का आविष्कार करने में वर्तमान विज्ञान संलग्न है। वैज्ञानिक ऐसे परीक्षण कर रहे हैं कि विमान द्वारा ऊपर पहुँचकर आकाश में कुछ पदार्थ छिड़कने से बादलों को बरसाया जा सके। अभी यह कार्य असंभव तो नहीं, किन्तु अतिव्ययसाध्य समझा जा रहा है। परन्तु वेद में मन्त्र द्वारा कृत्रिमरूप से वर्षा कराने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के वृष्टिकाम सूक्त में देवापि आर्ष्टिषेण यज्ञ के वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा उत्तर समुद्र (आकाश) से अधर समुद्र की ओर जल बरसाने में सफल होता है—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्
देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्र
मपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि ॥ऋग् १०।९८।५

अगले मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि आकाश में जल देवों द्वारा रुके हुए स्थित हैं, अर्थात् ऐसी परिस्थिति है कि बादल छाये हुए हैं, किन्तु वृष्टि नहीं होती, तब देवादि अपनी कला से उन्हें बरसा देता है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में अग्नि को सम्बोधन कर कहा है कि तुम राक्षसों को अर्थात् वृष्टि में बाधक भौगोलिक परिस्थिति को विनष्ट कर प्रचुर जलों को बरसा दो। आज भले ही इस विज्ञान से हम पूर्णतः परिचित न हों, पर वेद से प्रेरणा लेकर हम इस दिशा में प्रगति कर प्रकृति पर विजय पा सकते हैं :

कृत्रिम टांग लगाना

रणभूमि में रात्रि में युद्ध करते-करते खेल योद्धा की पत्नी विश्पला की टाँग कट कर गिर पड़ती है, जैसे पक्षी का पंख टूट कर गिर जाता है। खेल है ऐसा वीर जो संग्राम को क्रीड़ा समझता है। विश्पला का अर्थ है प्रजा का पालन करने में समर्थ वीरांगना। अश्विनौ नामक चिकित्सक उसकी टूटी

टाँग के स्थान पर नई आयसी जंघा लगा देते हैं, जिससे वह आसानी से चल-फिर सकती है—

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम् ।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ॥
ऋग् १।११६।१५

यहाँ केवल काम चलाऊ चलने-फिरने की बात नहीं, अपितु 'धने हिते सर्तवे' कहा है, जिसका अर्थ सायणाचार्य करते हैं 'शत्रुओं में निहित धन को जीतने के लिए गति करना अर्थात् युद्ध करना'। एवं वेद की दृष्टि में कटी हुई टांग के बदले शल्य-चिकित्सक ऐसी सुदृढ़ कृत्रिम टांग लगा सकते हैं जिससे वास्तविक टांग के समान युद्ध भूमि में लड़ा भी जा सकता है।

अन्धों को नेत्र देना

किसी रोग विशेष से अन्धे हुए व्यक्तियों में पुनः नेत्रज्योति लायी जा सकती है, इस तथ्य को बतानें वाली एक कथा वेद में इस प्रकार है। एक ऋज्राश्व नाम का राजा है। ऋज्राश्व का अर्थ है ऐसा पुरुष जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े सरल मार्ग पर चलते हैं, पर सत्पुरुष भी कभी व्यसन में पड़ जाते हैं। वह ऋज्राश्व प्रजा की सैकड़ों भेड़ों को पकड़-पकड़ कर वृकी को खिलाने लगता है। ऐसा अहित करते देख उसे पिता प्रभु अन्धा कर देते हैं, उसकी आँखों में मोतिया उतर आता है। तब वह अपनी करनी पर पश्चात्ताप करता है। वे शल्य-चिकित्सा कर पुनः उसे नेत्र प्रदान कर देते हैं—

शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानं ऋज्राश्वं तं पितान्धं चकार ।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥
ऋग् १।११६।१६

वृद्ध को तरुण बनाना

आजकल कुछ वैज्ञानिक ऐसी औषधि के आविष्कार में लगे हैं, जिससे वृद्ध को तरुण बनाया जा सके। वेद में इस विद्या का भी वर्णन मिलता है।

अश्वी वैद्य एक जीर्ण शरीर वाले च्यवान को अपनी संजीवनी क्रियाओं से पुनः युवा कर देते हैं—

युवं च्यवानमश्विना जरन्तं
युनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः ॥ऋग् १।११७।१३

ऋतुओं के सम्बन्ध में भी वेद ऐसी ही चर्चा करता है। वे वृद्ध माता-पिता को पुनः युवा बना देते हैं।

पुरुष सन्तान उत्पन्न करना

जिन स्त्रियों के कन्याएं ही उत्पन्न होती हैं, उनके लिए पुत्रोत्पत्ति का वेद में यह उपाय बताया गया है कि शमी वृक्ष के ऊपर उगे हुए अश्वत्थ (पीपल) का वे सेवन करें। अब यह सेवन किस प्रकार, किस रूप में, किस समय किया जाये इसका अनुसन्धान करना भिषगाचार्यों का कार्य है।

शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तंत्र पुंसुवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि ॥अथर्व ६।११।१

इस प्रकार वेदों में प्रतिपादित कुछ वैज्ञानिक विषयों की चर्चा इस संक्षिप्त लेख में की गई है। अन्य भी अनेक विज्ञान सम्बन्धी बातों का मूल-रूप से वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है। उनसे प्रेरणा पाकर हम इस दिशा में अग्रसर हो सकते हैं। एक शंका यह की जाती है कि यदि वेद में व्योमयान आदि के निर्माण की विधि नहीं लिखी तो वेदों के ये वर्णन हमारे लिए निरर्थक हैं, हम इनका क्या करें। परन्तु वेद तो वस्तुतः प्रेरणा के स्रोत हैं। हमें क्या-क्या करना चाहिए किस-किस दिशा में प्रगति करनी चाहिए यह प्रेरणा वेद से प्राप्त होती है, उसे हम किस प्रकार करें यह हमें अपनी बुद्धि से समझना है। आज भी जिन्होंने वैज्ञानिक वस्तुओं का आविष्कार किया है, वह क्या कहीं अक्षरशः लिखा हुआ पढ़ कर किया है? जैसे उन्होंने किया वैसे हम भी कर सकते हैं, प्रेरणा हम वेद से ले सकते हैं।

●

वेद विज्ञान के भंडार हैं

श्री प्रेमचन्द शास्त्री, विद्याभास्कर



महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में लिखा है कि—वेद केविषय चार हैं। विज्ञान काण्ड, कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड। इन सब में से विज्ञान काण्ड मुख्य है, क्योंकि उसमें परमेश्वर से लेकर तृण तक सब पदार्थों का साक्षात बोध हो जाता है।

वस्तुत: वेद विज्ञान के भण्डार हैं। परन्तु कुछ लोगों को 'वेद और विज्ञान' विषय परस्पर विरोधी प्रतीत होगा, जब वे अन्य धर्म की पुस्तकों की दृष्टि से वेद को भी एक ऐसी ही धर्म पुस्तक समझकर इस पर विचार करेंगे। परन्तु वेद ईश्वरीय ज्ञान है और उसकी अन्त: साक्षियों को लेकर विचार करने पर स्थिति सर्वथा ही विपरीत होगी। वेद वस्तुत: सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है—इस बात की घोषणा वर्त्तमान युग के महान् आचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती ने की। वेद का गम्भीर अध्ययन करने वालों को यह तथ्य पदे-पदे दिखलाई पड़ेगा। अनेक ज्ञान-विज्ञानों का भण्डार वेद के मन्त्रों में भरा पड़ा है। वेद धर्म पुस्तक है, परन्तु वैसी धर्म पुस्तक नहीं जो सृष्टि नियम के विरुद्ध मनघड़न्त बातों और चमत्कारों आदि से भरी हुई हो। धर्म और विज्ञान 'वेद' में साथ-साथ चलता है। जब धर्म विज्ञान से विहीन होगा तो अन्ध-विश्वास को प्रोत्साहन मिलेगा। जब विज्ञान धर्म से विहीन होगा तो पाशविकता बढ़कर विनाश की ओर अग्रसर होगी। अत: धर्म और विज्ञान में समन्वय होना चाहिए। कभी-कभी लोग धर्म का वैज्ञानिकीकरण करने की बात कहते हैं, परन्तु वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि धर्म के वैज्ञानिकीकरण की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता तो विज्ञान के धार्मिकीकरण की है। वेद का धर्म वस्तुत: वह धर्म है जो विज्ञान से समन्वित है और विज्ञान सदा ही उसमें धर्म से ओतप्रोत है। इसी

भाव को यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के १४ वें मन्त्र में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह।

अर्थात् धर्म और विज्ञान को साथ-साथ लेकर चलना चाहिए।

वेदों में किन-किन ज्ञान-विज्ञानों का मूल है, यह बतलाना हो तो एक वृहद्काय ग्रन्थ बन सकता है। यदि स्वामी जी के कथानुसार प्रत्येक मन्त्र के तीनों प्रकार के—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—अर्थों पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञान-विज्ञानों के मूलों की सीमा ही नहीं रहती। यदि थोड़े शब्दों में कहना हो तो यह कह सकते हैं कि वेदों में मनुष्योपयोगी सब ज्ञानों का मूल विद्यमान है। वैयक्तिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, सामूहिक, जानपदिक सभी कर्त्तव्यों का ज्ञान इसमें है। विधिनिषेध रूप में सब कर्त्तव्य कर्म और अकर्त्तव्य कर्मों का उल्लेख है। तीनों लोकों का, तेंतीस देवताओं का, ऋतु-संवत्सर-चक्र का, सबका उल्लेख इसमें है। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-उत्तर मीमांसा, इसका मूल वेदों में है। अक्षर विद्या और नक्षत्र तत्व का मूल वेदों में है। यजुर्वेद के चमकाध्याय (१८वाँ अध्याय) को पढ़ जाने से तो इस विषय में कोई सन्देह ही नहीं रहता।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेगयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

इस वेदमन्त्र में भाषा-विज्ञान का मूल विद्यमान है। इसमें तीन वाणियों का गुफा में निहित होने का उल्लेख है और यह बतलाया गया है कि मनुष्य चतुर्थवाणी बोलता है। ये चार वाणियाँ क्रम से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम से प्रसिद्ध है।

वेदों में विज्ञान का मूल कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर रूप में भी आया है। यजुर्वेद के नीचे लिखे मन्त्रों में विज्ञान का कितना सुन्दर चित्रण प्रश्नोत्तर-रूप में किया है—

(प्रश्न)—

कः स्विदेकाकी चरति, क उ स्विज्जायते पुनः ?
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किं वा वपनं महत्॥

(उत्तर)—

सूर्यं एकाकी चरति, चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं, भूमिएवपनं महत् ॥

(प्रश्न)—

१—अकेला कौन चलता है, अर्थात् कौन किस ग्रह के चारों तरफ नहीं चलता है ?

२—कौन चारों तरफ घूमता है ?

३—जाड़े की दवा क्या है ?

४—बीज बोने का सबसे बड़ा क्षेत्र क्या है ?

(उत्तर)—

१—सूर्य अकेला चलता है अर्थात् वह किसी ग्रह के चारों तरफ नहीं घूमता ।

२—चन्द्रमा चारों ओर घूमता है ।

३—अग्नि जाड़े की दवा है ।

४—भूमि बीज बोने का सबसे बड़ा क्षेत्र है ।

इस प्रकार के अनेक प्रश्नोत्तर वेदों में मिलते हैं । वेदों में ऐसे अनेक विज्ञान भरे पड़े हैं, जिनका पता आजकल के बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं को भी नहीं है ।

वेदों में गणित विद्या, भूकम्प, जलप्लावन, विद्युत्कोप, वायुकोप, नीति-विद्या, रसायन, शिल्प, धनुर्विद्या, ज्योतिष आदि सब प्रकार की विद्याओं का वर्णन है । जिनको पहले वेदों में श्रद्धा नहीं थी, और जो इन्हें कल्पित गीत बताया करते थे, वे पाश्चात्य विद्वान् भी अब शनैः-शनैः इस बात को मानने लगे हैं कि प्राचीन भारत खूब उन्नत अवस्था में था और इसी ने यूरोप में अनेक प्रकार की विद्या, कला और अन्य अनेक वस्तुओं का प्रचार किया था ।

यदि वेदों का प्रचार अब फिर हो जाय, और परमेश्वर की कृपा से भारत में पहला ही समय आ जाय तो वेदों के सब अद्भुत विज्ञान फिर से उन्नत हो सकेंगे । परमात्मा करे, हमें फिर ऐसा अवसर देखने का सौभाग्य प्राप्त हो ।

वेद में विज्ञान की मान्यता के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण

—शिवपूजनसिंह एम०ए०, सिद्धान्तवाचस्पति

पौराणिक मण्डल वेदों में 'विज्ञान' नहीं मानता है। अर्थात् समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्दजी सरस्वती महाराज ने वेदों में आधुनिक विज्ञान को वेदों में प्रदर्शित किया है। सायण, उव्वट, महीधर प्रभृति पौराणिक भाष्यकारों ने पौराणिक विचार-संकीर्णता के कारण वेदों में माँस, पशुहिंसा, व्यभिचार, अश्लीलता प्रभृति को तो प्रदर्शित किया; परन्तु विज्ञान के सम्बन्ध में उनके भाष्यों में नाममात्र भी संकेत नहीं है।

महर्षि दयानन्द जी महाराज "तारविद्या का मूल" प्रदर्शित करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं:—

"युवं पेदवे पुरवार मश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥"

(ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ११९, मंत्र १०)

अभिप्रा०—(युवं पेदवे०) इस मन्त्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है, क्योंकि (*द्यावा-पृथिव्यो रित्येके०) इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्वी नाम जाता है।

(पुरुवारम्) अर्थात् इस तार विद्या को बहुत विद्वान् स्वीकार करते हैं तथा इसमें उत्तम गुण रहते हैं। (स्पृधाम) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उनकी, शत्रुओं के पराजय और अपने वीरों की रक्षा के लिए, यह तार विद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतं) वह तारयन्त्र शुद्ध धातुओं का होना चाहिए, (अभिद्युम्) और उसे विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिए। (प्रतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में उसका प्रकाश दुःसह होता है और उसे उल्लंघन नहीं किया जा सकता, (चर्कृत्यम्) वह सब क्रियाओं को वारम्बार चलाने के लिए योग्य होता है। (शर्य्यैः) अनेक प्रकार की कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों की सिद्ध करने के लिए विद्युत् की उत्पत्ति करके उसको ताड़न करना चाहिए। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है उसको सिद्ध करके उससे उपयोग लो। किस प्रयोजन के लिए? (पेदवे) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए यथा (स्पृस्वां) दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिए तार विद्या सिद्ध करनी चाहिए। (चर्षणीसहम्) यह ताराख्य यन्त्र मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्यों के सहन करने वाला है। (इन्द्रमिव) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य करता है वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवंदुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वियों के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़ी प्रयत्न से सिद्ध करके इससे उपयोग लेना चाहिए। इस मन्त्र में पुरुष व्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिए।"[1]

ऋग्वेद १।११६।३, १।११६।८, १।११६।५, १।११६।६; १।३४।२, १।३४।७; १।४६।८, १।८५।४; १।४६।७; १।१६४।४७; १।१६४।४८; से 'नौविमानादि विद्या' का यजु० १८।२५; १८।२४; साम० छं०। प्र० १; खं० १। मं०१; से गणितविद्या; यजु० २३।६२; ऋ० १०।१३०।३; से रेखा-गणित; का वर्णन है।[2]

*द्यावापृथिव्यावित्येके, निरु० अ० १२, खं० १

१. "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" तारविद्या विषयः।

२. वही

योगिराज श्री अरविन्द घोष जी इसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं—

"There is nothing fantastical in Dayanand's idea that Veda Contains truths of Science as well truths of religion. I will add my own conviction that Veda Contains other truths of science which the modern world does not possess at all. Immediately the Character of the Veda is fixed in the sense Dayanand gave to it, the merely ritual mythological and polytheistic interpretation of SayanaCharya Collapses, and the merely maturalistic and materiological interpretation of Europeans also Collapses. We have instead one of the world's sacred books and the divine word of lofty and noble religion"[3]

अर्थात्— "महर्षि दयानन्द की इस धारणा में कि वेद धर्म और पदार्थ विद्या के भण्डार हैं, कोई अयुक्त वा अनहोनी बात नहीं है। मैं उनकी उक्त धारणा में अपना विश्वास और जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में पदार्थ विद्या की अन्य ऐसी सच्चाइयाँ भी हैं जिनको आजकल का संसार यत्किञ्चित् भी नहीं जान पाया है। एक बार वेदों की स्थिति स्वामी दयानन्द के अभिमतानुसार समासीन हो जाने दो, तो फिर देखोगे कि सायणाचार्य का केवल रूढ़िपरक और कपोल-कल्पित सर्वेस्वरवाद पर आश्रित वेदों के भाष्य का भवन अपने आप गिर जायगा, और उसी के साथ-साथ पाश्चात्य विद्वानों का केवल भौतिक पदार्थ और प्राकृतिक पूजन पूरक भाष्य भी धराशायी हो जायगा। और वेद एक उच्च तथा गौरवास्पद ईश्वरीय ज्ञान पुस्तक के रूप में हमारे पास शोभायमान होगा।"

यद्यपि श्री बलदेव उपाध्याय एम०, ए०, साहित्याचार्य, महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी, श्री दीनानाथ शास्त्री प्रभृति कतिपय अनुदार पौराणिक पन्डित वेदों में विज्ञान नहीं मानते हैं तथापि कुछ उदार पौराणिक विद्वान् भी वेदों में 'विज्ञान' मानते हैं।

---

३. "नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ" पृष्ठ १३६ तथा "आर्य सिद्धान्त विमर्श" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०८-११०।

साहित्याचार्य पं० कालीचरण झा चतुर्वेदोपाध्याय (जिला स्कूल पूर्णियाँ) अपने "वेद और विज्ञान" शीर्षक लेख[४] में लिखते हैं :—

"......मित्र" का अर्थ सामान्यतः सूर्य है। किन्तु जब वह "वरुण" नामक शक्ति में साज व्यवहृत होता है, तब उसका अर्थ वह शक्ति है, जिसके मिश्रण या सहायता से जल बनता है। वेद में जहाँ "मित्र" और "वरुण" का एक जगह (एक मंत्र में) "मित्रावरुण" करके उल्लेख देखा जाता है। वहाँ विशेषत: जल-निर्माण आदि किसी न किसी रूप में जल-विषयक वर्णन पाया जाता है।"

पुनः पाद टिप्पणी में—"आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त भी यही है कि, आक्सिजन (Oxygen) और हाइड्रोजन (Hydrogen) नाम की दो वाय्वात्मक शक्तियाँ हैं- जिनमें से एक शुद्ध वायु और दूसरी प्रकाश और प्राणों के लिए आवश्यक वायु है। इन दोनों के योग से पानी बनता है। संभवतः ये दोनों शक्तियाँ मित्र और वरुण ही हैं, क्योंकि वेद में कहे गए इन दो (मित्र, वरुण) शक्तियों के गुणों के अनुसार ही आधुनिक वैज्ञानिक आक्सिजन और हाइड्रोजन के पारिभाषिक लक्षण बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।'[५]

"वेद के सूर्य-रश्मि-विज्ञान, जल-विज्ञान, अग्नि-विज्ञान, वायु-विज्ञान इन्द्रिय-विज्ञान आदि के द्वारा ही ऋषियों से प्रलयाग्नि के समान अग्नि-वर्षा करने वाला आग्नेयास्त्र, बादलों से भी अधिक तेजी से वर्षा करने वाला वारुणास्त्र, सब को सुला देने वाला जम्भकास्त्र, सबको उड़ा देने वाला वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, लक्ष्य को सर्वथा विनिष्ट कर देंने वाला, अनिवार्य और अमोघ ब्रह्मास्त्र आदि अनेकानेक अद्भुत अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया था।......और, किस शिक्षा के फल से पूर्वोक्त वैज्ञानिक आविष्कार और पुष्पक विमान सरीखे अनेक प्रकार के आकाश-यान, आकाशवाणी (Wireless Telephone) आदि अनेकानेक यन्त्र बनाते थे ? किस शिक्षा के द्वारा, वे

४. मासिक पत्रिका "गंगा" का "वेदाङ्क" प्रवाह २, जनवरी १९३२ ई०, तरंग १, पृष्ठ २१० ।

५. वही पृष्ठ २१० की पाद-विप्पणी ।

खेचरी (आकाश में चलने की) । विद्या, दूसरे के मन की बात जानना, भूत, भविष्य, वर्तमान विषय जानना आदि का यौगिक "विज्ञान" ज्ञान रखकर सँसार को चकित करते थे ? कहने की आवश्यकता नहीं कि, सबका उत्तर "वैदिक विज्ञान" में आ जाता है ।"[६]

"......यहां यह कहना अनुचित न होगा कि, सायणाचार्य के याज्ञिक अर्थ से वैदिक विज्ञान पर उतना पर्दा नहीं पड़ा, जितना उव्वट, महीधर सरीखे वैयाकरण भाष्यकारों के भाष्यों से पड़ा। इन लोगों ने तो लौकिक व्याकरण के बल से वैदिक शब्दों को इतना तोड़ा-मरोड़ा कि, "वैंदिक विज्ञान" "निहितं गुहायाम्" हो गया है।

कहने का सारांश यह है कि, उपर्युक्त भाष्यकारों के भाष्यों से हमें वैदिक-विज्ञान-रहस्यों का पूरा पता नहीं लगता, प्रत्युत हमें कई जगह उलझनों और सन्देहों में पड़ जाना पड़ता है। जहाँ "गणनान्त्वा गणपतिं हवामहे" आदि अतिशय प्रसिद्ध और विज्ञान महत्त्व प्रतिपादक मन्त्रों का अतिशय असंगत अर्थ किया जाता है, वहाँ लौकिक व्याकरण-साहित्य से सर्वथा अप्रसिद्ध और अज्ञेय मन्त्रों के समुचित अर्थ होने की आशा कैसे की जा सकती है ?......"[७]

जिस प्रकार झा जी ने सायण महीधर उव्वट प्रभृति भाष्यकारों को दोषी माना है उस प्रकार आचार्य श्री पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी का भी विचार है। आप कलकत्ता के संस्कृत कालेज के वैदिक साहित्य के प्राध्यापक थे। बंगाल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के कई ग्रन्थों का इन्होंने सम्पादन किया है। आपके "त्रयी चतुष्टय," "त्रयी परिचय" "निरुक्तालोचन" ऐतरेयालोचन" प्रभृति ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। सामवेद सायण भाष्य का सम्पादन टिप्पणी सहित भी आपने किया है।

"त्रयी चतुष्टय" नामक ग्रन्थ में वेदों के भाष्यकारों व विशेषतया सायणचार्य जी के विषय में अपनी सम्मत्ति लिखते हैं—

६. वही पृष्ठ २१०।

२ उस समय से तात्पर्य यहाँ सायणाचार्य जी के समय की ओर है।
(लेखक)

"At a time when Photography, Phonography, Gaslight, Telegraph, the Telephone, Railway and Belloons had not been introduced into the country, how could our people under stand any verses referring to these things."

"उस समय+जब कि आलोक चित्र विद्या (फोटोग्राफी), प्रत्येक प्रकार शब्दों का अनुकूल अक्षरों द्वारा व्यक्तीकरण (फोनोग्राफी), वायुप्रकाश (गैस-लाइट), तार (टेलीग्रैफ), दूरभाषणयन्त्र (टेलीफोन), घूम्रशकंट (रेलवे) और वायुयानों (बैलून का भारत में प्रचार न था, किस प्रकार भारत के वेद-भाष्यकार उन मंत्रों के यर्थाथ सहस्यों को समझ सकते थे, जिसमें इन वस्तुओं संकेत हों।"

वे आगे लिखते है—"Our opinion is, that in Vedic times, our country had made extra-ordinary progress. In those days the sciences of Geology, Astronomy, and Chemistry were called "Adhidaivik Vidya" and those of physiology, Psychology and Theology, "Adhyatma Vidya". Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, there are sufficient indications in Vedic works of those sciences having been widely known in those-to days. It is need less to say that the reason why these indications are not under stood now is due to the imperfect interpretation of an expositor having no knowledge of the Science. The study of certain portions of the Vedas leads even to the conclusion that certain scientific researches had been carried in the country to such perfection that, not to speak of this moribund country even America, the constant source of scientific discoveries and the advanced countries of Europe have not yet attained it. It is this which makes it impossible for us to understand the real purport of such

passages. In fact, a full and satisfactory interpretation of Veda requires a perfect familiarity with all these sciences on the part of the expositor, and it is simply a misfortune to undertake its exposition without such familiarity. ...It is a perfectly plain, therefore, that it is only one that has attained, a thorough knowledge of Agriculture, Commerce, Geology, Astronomy, Hydrostaties, Igneology, Botany, Zoology, physio-eogy, and the science of war, can alone be a fit interpreter of the vedas and that, it is only a commentary written by such an expositor that can alone give full satisfaction and remove all doubts." ८

हमारी सम्मति है कि वैदिक काल में हमारे भारत देश ने पर्याप्त उन्नति कर ली थी उस समय भूगर्भ विद्या, ज्योतिष और रसायन विद्या को आधि-दैविक विद्या कहा जाता था और शरीर विद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्म विद्या को आध्यात्म विद्या। उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त हो गए हैं तो भी वेदों में उन विज्ञानों के सम्बन्ध के पर्याप्त निर्देश मिलते हैं जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में उन विज्ञानों का पर्याप्त प्रचार था।

वेदों के भाष्यकारों को चूंकि स्वयं ऐसे विज्ञानों का परिज्ञान नहीं होता इसलिए वें वेदों में आए, वैज्ञानिक निर्देशों को ठीक प्रकार समझ नहीं सकते। वेदों के कतिपय भागों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भारत भूमि में कई वैज्ञानिक अन्वेषण इतने गहरे हो चुके थे कि वैज्ञानिक अन्वेषणों में अग्रसर अमेरिका तथा यूरोप के उन्नत देश भी अभी तक उस गहराई तक पहुँचनहीं पांए। इसी कारण "वैदिक विज्ञान" की गहराई को समझ सकने कि साधनों के न होने के कारण ही हम वेदों के कई अंशों के वास्तविक अभि-प्रायों को समझ नहीं सकते। वास्तव में वेदों की पूर्ण तथा सन्तोषप्रद व्याख्या के लिए आवश्यक है कि व्याख्याता को सभी विज्ञानों और उनकी शाखाओं से

८, "Trayi Chatushtya, Preface, VII-IX.

पूर्ण परिचय हो। बिना इस पूर्ण परिचय के वेदों के भाष्य के लिए यत्न करना दौर्भाग्य तथा अनिष्ट है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि वही मनुष्य वेदों का योग्य भाष्यकार हो सकता है जिसे कि कृषि शास्त्र, व्यापार, भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष, द्रव स्थितिविज्ञान, अग्निविद्या, वनस्पति शास्त्र, जीव-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, तथा युद्ध विद्या आदि का पूर्णज्ञान हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया भाष्य ही केवल पूर्ण सन्तोष दे सकता है और सब प्रकार के संशयों को मिटा सकता है।"

सामश्रमी जी के लेख से स्पष्ट प्रकट होता है कि वेदों में विज्ञान है और इससे महर्षि दयानन्द जी सरस्वती के सिद्धान्त की ही पुष्टि हो रही है।

●

वेद पढ़ने का अधिकार मनुष्यमात्र के लिए

●

"मनुष्य मात्र को (वेद) पढ़ने का अधिकार है.........।"

सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र पढ़ने (और) सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के २६ अध्याय में दूसरा मन्त्र है:—

"परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो.........(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय (आर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अति शूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है।"

वेद

(१)

आदिम प्रभात की प्रथम रश्मि
तुम जड़ संसृति के प्रथम बोध,
चिर मूक लोक के प्रथम वाक्य
तुम मानवता की प्रथम शोध।

(२)

सोई सुरता के सुखद स्वप्न
निशि के वासर के सोम-सूर्य,
सात्विक संस्कृत के पथ-दर्शक
चेतन की जड़ पर विजय सूर्य।

(३)

सुर-तटिनी में तव पावनता
नगपति में गौरव दृश्यमान,
सागर गंभीरता का प्रतीक
परिचायक विस्तृति का विहान।

(४)

विज्ञान-विटप पल्लवित आज
परिलक्षित तुममें सूक्ष्म रूप,
ध्रुव सत्य, तत्त्व की प्रपा अन्य
तुम ही हो आदिम ज्ञान-कूप।

(५)

बन विज्ञ-शिखामणि गये अज्ञ
पाकर तेरी ही ज्ञान-गन्ध,
मानव के अन्तस् के अशेष
मिट गये मोह-अक्षीण-बन्ध।

(६)

हैं मान्य विश्व के लिए सभी
विद्या-वदान्य ! तव सदुपदेश,
'सब एक पिता के अमर पुत्र
है नहीं मनुज कोई विशेष'।

पाकर तुमसे नव-नव स्फूर्ति
करदें हम जग को गत-क्लेश,
फैलावें जग में भद्र भाव
तम करें दूर बन कर दिनेश।

धर्मवीर कुमार
शास्त्री एम० ए०
सदर बाजार दिल्ली कैंट

वेद में आयुर्वेद

—रामगोपाल शास्त्री

"वेद" में जहाँ अनेक विद्याओं का वर्णन है वहाँ मनुष्य शरीर के स्वास्थ्य संरक्षण के लिये "आयुर्वेद"—औषध विज्ञान का भी वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। प्रस्तुत लेख विद्वान् लेखक के २६ वर्षों के गंभीर अनुसंधान का परिणाम है। वस्तुतः शरीर के स्वास्थ्य के लिए ईश्वरीय ज्ञान द्वारा निर्दिष्ट पद्धति ही सर्वोपयोगी है। आवश्यकता और भी अधिक अन्वेषण और साधना की है। —संपादक

●

ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व संहिताओं के अध्ययन से यही निश्चय हुआ है कि, अथर्व वेद में आयुर्वेद का वर्णन और वेदों की अपेक्षा बहुत विस्तृत रूप में मिलता है। अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में अथर्ववेद के आठ नाम आए हैं। उनमें भेषज वेद अथर्व ११।८।१४, यातुवेद शतपथ ब्राह्मण ११।५।२।२० यह नाम ही सिद्ध करते हैं कि अथर्व वेद में आयुर्वेद सब से अधिक है। (शेष ६ नाम—(१) अथर्वाङ्गिरसो वेदः अ० १०।७।२० (२) अथर्व वेदः गोपथ ब्राह्मण १।२९(३) भृग्वंगिरसां वेदः गो० ब्रा० ३।४ (४) अङ्गिरो वेदः शतपथ ब्रा० १३।४।३।८ (५) ब्रह्मवेदः अ० १५।६।८ (६) क्षात्रवेदः श० ब्रा० १४।८।१४।२)

मन्त्र द्रष्टा

सर्वानुक्रमणिका ग्रन्थ में आयुर्वेदिक मंत्रों के द्रष्टा ७५ ऋषियों तथा महर्षियों के निम्नलिखित नाम आए हैं :—(१) अथर्वा (२) अगस्त्यमैत्रा वरुणी, (३) अत्रिः (भौमाः), (४) अथर्वाङ्गिरा, (५) अङ्गिरा (प्रचेताः), (६) अङ्गिराः, (७) इन्द्राणी, (८) उन्मोचनः, (९) ऊर्ध्वग्रावा (आर्बुद्रिः), (१०) उपरिवभ्रवः, (११) ऋभुः, (१२) ऋषभो (वैराजः), (१३) कबन्धः, (१४) कवष (एलूषः), १५) कुमारो (यामायनः), (१६) कौशिकः, (१७) कण्वो (घौरः), (१८) कक्षीवान् दैर्घतमसः, (१९) कूर्मः (गार्त्समदः, (२०) कौरुमथिः, (२१) गरुत्मान्, (२२) गार्ग्यः, (२३) गृत्समदः (आंगिरसः), (२४) गोतमो (राहूगणः), (२५) चातनः, (२६) जाटिकायनः, (२७) त्रिशिराः (त्वाष्ट्रः), (२८) दीर्घतमा (औचथ्या), (२९) देवश्रवाः (यामायनः मथितश्च), ३०) द्रविणोदाः, (३१) प्रजापति, (३२) प्रजावान् (प्राजापत्यः) (३३) प्रत्यङ्गिराः, (३४) प्रस्कण्वः [काण्वः), (३५) बभ्रुपिङ्गलः, (३६) वादरायणिः, (३७) बृहस्पति, (३८) ब्रह्मा, (३९) भगः, (४०) भरद्वाजः, (४१) भागलिः, (४२) भिक्षुः, (आंगिरसः), (४३) भिषक् (आथर्वणः), (४४) भृगुः (४५) भृग्वंगिरा, (४६) मधुछन्दा (वैश्वामित्रः), (४७) मनुः (वैवस्वतः), (४८) मातृणामा, (४९) मृगारः, (५०) मेधातिथि (काण्वः), (५१) यमः यमी च, (५२) यक्ष्मनाशनः, (५३) रक्षोहा, (५४) वरुणः, (५५) वसुक्क्नः, (ऐन्द्राः), (५६) वामदेवः, (५७)वीतहव्याः, (५८) विवृहा (काश्यपः) (५९) विश्वामित्रः (गाथिनः), (६०) वसिष्ठः (मैत्रावरुणिः), (६१) शन्तातिः, (६२) शुक्रः, (६३) शुनः शेपः, (६४) शंखः (यामायनः), (६५) शौनकः, (६६) शम्भुः, (६७) शिरिम्बिठिः, (६८) सविता, (६९) सर्पः (काद्रवेय आर्बुदिः), (७०) सप्तवध्रिः (आत्रेयः), (७१) संकुसुको (यामायनः), (७२) (सर्प ऐरावतो जारत्कर्णः), (७३) सिन्धुदीप आंबरीषः, (७४) सूर्या (सावित्री), (७५) हविर्धानः ।

आयुर्वेद

आयुर्वेद का अर्थ है जिससे आयु को प्राप्त किया जाय अथवा आयु के

सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जाय। वेदों में आयु को दीर्घ करने के लिए अनेक मंत्र आए हैं। वेद का सिद्धान्त है कि; प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य के नियमों पर चलने से यदि दुर्घटना न हो, अपनी आयु को दीर्घ कर सकता है। स्वास्थ्य विरोधी आचरण में आयु घट सकती है। आयु निश्चित है लाख यत्न करने पर भी घट बढ़ नहीं सकती, यह सिद्धान्त वेद को मान्य नहीं। वेद में स्थान स्थान पर आता है कि हे मनुष्यो अपने शरीर को पत्थर की नांईं दृढ़ बना कर दीर्घायु वाले बनो। "अश्मानं तन्वं कृधिः" अथर्व १।१।२ "अश्माभवतु ते तनुः अथर्व २।१३।४।" अथर्व वेद ३।११।७ में लिखा है कि १०१ प्रकार की मृत्युएं हैं, जिनमें १०० वर्ष तथा इससे अधिक वर्ष की मृत्यु को ही काल मृत्यु माना है। शेष सब मृत्युएं जो सैंकड़ों कारणों से होती हैं अकाल मृत्युएं हैं। "व्यन्ये यन्तुमृत्यवे यानाहुरित-राञ्छतम्"। ऋग्वेद १०।१८।४ में लिखा है कि "अन्तर्मृत्युं दतांपर्वतेन" अर्थात् यदि १०० वर्ष से पूर्व मृत्यु आवे तो उसके मध्य में पर्वत खड़ा कर दो। "मृत्योः पदं योपयन्तः" ऋग्वेद १०।१८।२ मृत्यु के पाँओं को खदेड़ते हुए दीर्घायु करो। अथर्व वेद ३।११।२ में लिखा हैं कि वैद्य, अपनी रसायनादि औषध तथा चिकित्सा के प्रभाव से "क्षितायुः" जिसकी आयु समाप्त हो चुकी है तथा "मृत्योरन्तिकं नीत एव" जो मृत्यु के पास पहुँच चुका है उसे भी वैद्य १०० वर्ष पर्यन्त जीवित कर सकता है। इसके लिए देखो अथर्व वेद ८।२।६,२४,२५ वेद का आदेश है कि, दीर्घायु में भी अदीन रहे। बुद्धि हीन, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट युक्त दीर्घजीवन को भी वेद निन्दनीय समझता है। अदीना स्याम शरदः शतम्। यजुः ३६।२४ प्रायः करके ७०, ७५ वर्ष के ऊपर वृद्ध पुरुष की बुद्धि विस्मृति युक्त हो जाती है। अथर्व १६।६७।३ में लिखा है कि "बुध्येम शरदः शतम्" अर्थात् हम १०० वर्ष पर्यन्त बुद्धि पूर्वक स्मृति पूर्वक जीवन व्यतीत करें। यजुर्वेद ४०।२ में लिखा है कि निरालस्य होकर कर्म करते हुए १०० वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करो। "कुर्वन्नेवेद कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" ऋग्वेद १०।१८।५ में मंत्र आता है कि "यथा न पूर्वमपरो जहाति" अर्थात् समाज को ऐसे नियमों का पालन करना चाहिए कि; जिससे माता पिता के जीवित रहने पर बच्चों की मृत्यु न हो।

रोग का कारण

वेदों में रोग की उत्पत्ति के तीन कारण माने हैं। पहला कारण शरीर के भीतर स्वयमेव उत्पन्न होने वाला मल रूप विष। दूसरा अनेक प्रकार के जीवाणु (germs)। तीसरा वात पित्त और कफ इन तीन दोषों के विकार। अथर्व वेद ६।८।१० में पाठ है "यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहम्" हे रोगी! तेरे भीतर जो सब प्रकार के रोगों का विष है, उसे बाहिर निकालता हूं। यहां प्राकृतिक चिकित्सा का बीज है।

दूसरा रोग का कारण कृमि (जीवाणु germs) हैं। अथर्व वेद ५।२९।६,७ में लिखा है कि; अन्न, जल, दूध, फल आदि खाद्य पदार्थों में प्रवेश करके जीवाणु जब शरीर में पहुँचते हैं तो पुरुष को रोगी कर देते हैं। यजुर्वेद १६।६ में लिखा है कि जलादि पीने के अनन्तर, उच्छिष्ट पात्रों में कुछ ऐसे अदृश्य जीवाणु लगे रहते हैं; जो उच्छिष्ट पात्रों में, खाने-पीने वाले के शरीरों में पहुँच कर हांनि पहुँचाते हैं। अथर्ववेद ७।७६।८ में उन जीवाणुओं का वर्णन है जो स्त्रियों के गर्भाशय में जाकर उन्हें मृतवत्सा और वन्ध्या बना देते हैं। पुरुषों का रुधिर चूसने वाले, मांस शोषण करने वाले, शरीर वृद्धि का निरोध करने वाले, नेत्र नासिका तथा दांतों में पहूँच कर हानि पहुँचाने वाले, मस्तिष्क में पहुँच कर मानसिक रोग उत्पन्न करने वाले ऐसे अनेक अदृश्य जीवाणुओं का ऋग्वेद १०।१६२।२,४ तथा अथर्ववेद ८।६।६; अथर्व ५।२९।१०,५; अथर्व २।२५।३; अथर्व ५।२३।३; ऋग्वेद १०।१६२।६; अथर्व २।३१।४; अथर्व ५।२९।८; में वर्णन पढ़े।

पर्वत, वन, ओषधि, जल तथा मल स्थान में उत्पन्न होने वाले तथा प्राणियों की आंतों में उत्पन्न होने वाले उदरावेष्टा आदि कृमियों का वर्णन भी अथर्व २।३१।५।४; अथर्व ८।६।१५; अथर्व ७।५८।२,३ में आता है। अथर्ववेद २।३१; २।३२; २।२५; ४।३७; ५।२३; ५।६; ५।२९; ८।२३; १९।३६ सूक्तों में ९८ प्रकार के कृमियों की नामावलि है:—

क्रमियों के नाम—(१) अत्रि, (२) अरातिः, (३) अराय्यः, (४) अन्वांत्र्यः, (५) अनुपलालः, (६) अप्रचंकशः, (७) अनंगुरिः, (८) अयाशवः, (९) अर्जुनः, (१०) अलगण्डः, (११) अवस्कवः, (१२) अभिशोचः, (१३) असृक्पावा, (१४) अलिंशः, (१५) अवकादः, (१६) आण्डादः, (१७) आयाकेष्ठाः, (१८) आश्लेषः, (१९) ऊदुम्बलः, (२०) उद्धर्षी, (२१) उरुण्डः, (२२) ऋक्षग्रीवी, (२३) एजत्कः, (२४) कण्वः, (२५) कुकुभाः, (२६) करुभाः, (२७) कण्कषासः, (२८) कुकुन्धाः, (२९) कुकुरभाः, (३०) कुक्षिलाः, (३१) कुम्भमुष्काः, (३२) कुसूलाः, (३३) कृष्णः, (३४) केशवः, (३५) केश्यसुरः, (३६) कोकः, (३७) क्रव्याद्, (३८) क्षुल्लकाः, (३९) खलजः, (४०) गृध्रः, (४१) चतुरक्षः, (४२) छायकः, (४३) तिरीटी, (४४) तुण्डिकः, (४५) तुंगल्वः, (४६) तुण्डेलः, (४७) त्रिककुद्, (४८) त्रिशीर्षी, (४९) दुर्गन्धी, (५०) दुर्णासा, (५१) द्वयावी, (५२) द्वयास्यः, (५३) नग्नकः, (५४) नदनिमा, (५५) पलीजकः, (५६) पण्डक, (५७) पवीनस, (५८) पलालः, (५९) पंचपादः, (६०) प्रमीली, (६१) प्रहाररी, (६२) पर्यस्ताक्षः, (६३) पार्ष्टेयः, (६४) बभ्रुः, (३५) बभ्रुकर्णः, (६६) बस्तवासिनः, (६७) मककाः, (६८) मट्मटाः, (६९) मलीम्लुचः, (७०) मरीमृशाः, (७१) मनोहनः, (७२) मायिनः, (७३) मुनिकेशः, (७४) यातुमान्, (७५) येवाषास, (७६) रोहितः, (७७) लोहितास्यः, (७८) वत्सपः, (७९) वव्रिवासः, (८०) विरूपः, (८१) विश्वरूपः, (८२) विषूचीनः, (८३) व्यध्वरः, (८४) शकधूमजः, (६५) शर्कुः, (८६) शालुडः, (८७) शिखण्डी, (८८) शितिकक्षा, (८९) शितिबाहवः, (९०) शिपवित्नुकाः, (९१) शीर्षण्यः, (९२) श्रोणिप्रतोदी, (९३) श्वकिष्किषिणः, (९४) सारङ्गः, (९५) सुनामा, (९६) स्तम्बजः, (९७) स्त्रिमाः, (९८) हविरदः ।

(३) रोग का तीसरा कारण वात, पित्त तथा बलास (कफ) को माना है । अथर्ववेद ६।१०९।३ में पिप्पली को वातनाशक लिखा है । "वातीकृतस्य भेषजी" । यजुर्वेद १९।८५ "नमिनाति पित्तम्" में पित्त को माना है । अथर्व १९।३४ में जंगिड ओषधि को कफनाशक लिखा है । वात पित्त कफ का अधिक विस्तार वेदों में नहीं ।

रोगों के नाम

वेद में मुख्य रूप से बारह रोगों का विस्तृत वर्णन आता है उनके नाम ये हैं। (१) ज्वर, अथर्व ६।२० (३) कास, अ.६।२० (२) बलास (कफ) अथर्व ५।२२।११ (४) अपचित् (गण्डमाला) अथर्व ६।२५ (५) जायान्य (यक्ष्मा T.B.) अथर्व ७।७६ (६) हरिमा (कामला पाण्डु) ऋग्वेद १।५ ।१ (७) मूत्ररोध (मूत्रकृच्छ्र) अथर्व १।२ सूक्त, (८) क्षेत्रिय अथर्व ३।७।६, (६) किलास (फुलबहरी) अथर्व १।२३ सूक्त, (१०) आस्राव अथर्व १।२।४, (११) विषूची (विषूचिका) अथर्व ७।४२ सूक्त, (१२) उन्माद (पागलपन) अथर्व ६।१११।२। इसके अतिरिक्त शरीर के अंगों के रोगों के नाम आते हैं, जहाँ से रोग उत्पन्न होते हैं; जैसे नासिका रोग, कर्ण रोग आदि। इन अंगों के नाम से उन अंगों के रोगों का नाम है; पर इनका विस्तृत वर्णन नहीं। नेत्र, नासिका, कर्ण, चिबुक, शिर, मस्तिष्क, जिह्वा, ग्रीवा, तरुणास्थि, पृष्ठवंश, प्रदोष, अंस, भुजा, आंत्र, गुदा, उंडुक, हृदय, मूत्रप्रणाली, यकृत्, प्लाशी, उरू, जानु, पार्श्व, प्रपद, श्रोणी, मेढ्र, योनि, वनङ्करन, लोम, नख, पर्व, क्लोम, पित्ताशय, फुफ्फुस, प्लीहा, उदर, नाभि, अस्थि, मज्जा, स्नायु, धमनी, हिरा, (शिरा), हस्त, अंगुली, त्वचा, कंकूष, मूर्धा, शिरसीमा। इनका वर्णन ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १६३, अथर्व २।३३ सूक्त, अथर्व ६।८ सूक्त, अथर्व २०।६६ सूक्त में देखें।

इन अंगों को लिख कर भी वेद ने एक पद लिखा है; "अज्ञात् यक्ष्माः" अर्थात् ऐसे रोग जिनका पता नहीं अथवा जो नवीन उत्पन्न हो जावें उनका भी चिकित्सा करने का वर्णन वेद में आता है. ऊपर लिखे मुख्य रोगों में ज्वरों के अनेक भेद लिखे हैं उनके नाम ये हैं :—

अभ्रजा, वातजा, शुष्मः, परुषः, अंगज्वरः, अंगभेदः, शीतः, रूरः, तृतीयकः वितृतीयः (चातुर्थिक), सदन्दि (सततं) शारदः, वार्षिकः, ग्रैष्मः, विश्व-शारदः (मलेरिया), अन्येद्युः, उभयद्युः, अरुणः, बभ्रुः, वन्यः, च्यवनः, नोदनः, अव्रतः (विषम ज्वर), घृष्णु, हायनः।

इन ज्वरों के लिए देखों अथर्ववेद १।१२।३; १।२५।४; ५।२२ सूक्त; ६।२०।३; ७।११६।१; १६।३६।१०।

रोगों में जायान्य (राजयक्ष्मा) का जो वर्णन आया है उसमें लिखा है कि; इस रोग के जीवाणु (germs) पक्षी की नाईं एक से दूसरे के शरीर में उड़कर प्रवेश करते हैं। "पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पुरुषम्" अथर्व ७।७६।४ इसका विशेष वर्णन "वेदों में आयुर्वेद" नामक ग्रन्थ में पढ़ें।

शल्य

शल्य का अर्थ है चीड़ फाड़ (operation) अश्वियों द्वारा सिर, धड़ से सर्वथा कटे हुए अंगों को फिर से जोड़ने का वर्णन आता है। युद्ध में कटी हुई टांग के लिए लोहे की टांग लगाने का वर्णन आता है। यह अश्वि कौन हैं इसका भी पूरा पता नहीं लगा। निरुक्त में द्यावा पृथ्वी, सूर्य चन्द्रमा, दिन रात्रि तथा पुण्यकृत राजाओं को अश्वि लिखा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।२ में लिखा है कि "अश्विनौ वै देवानां भिषजौ" अश्वि देवों के वैद्य हैं वृहद् देवता ७।१२६ में निरुक्त के अतिरिक्त प्राण और अपान इन दोनों को भी अश्वि माना है।

अग्नि से जलने, चोट के आने, बाण आदि अस्त्रों के घावों को ठीक करने का वर्णन अथर्व ५।५।४ में आता है। अथर्व ४।१२ सूक्त में लिखा है कि; फटा हुआ मांस और टूटी हुई हड्डियों को भी ऐसा जोड़ा जाता है, जिससे जोड़ का पता भी न लगे।

विष

वेदों में विष दो प्रकार का लिखा है—स्थावर तथा जंगमों से होने वाला। स्थावर विष कई प्रकार की ओषधियों तथा कन्दों से होता है। जंगम विष सर्प, वृश्चिक तथा अन्य विषैले जीवों से उत्पन्न होता है। इसका वर्णन भी अथर्व ४।६।८ तथा अथर्व १०।४।२२ में मिलता है। वेद में पैद्व, तौदी, आयाती आदि अनेक वनस्पतियों का वर्णन है जो विष को नष्ट करती हैं। इसका वर्णन अथर्व ६।८८।४, १०।४।३ आदि स्थानों में आता है। वेद में गर्भाधान और वाजीकर प्रकरण भी बहुत विस्तार से आता है। उसके लिए देखो अथर्व ३।२३।२; ५।२५।८; अथर्व ४।४ सूक्त; ६।७२ सूक्त तथा ६।१०१ सूक्त।

औषध

वेद में सूर्य, चन्द्र अथर्व ६।८३।१, अग्नि अथर्व १०।४।२, वायु (मरुत्) ऋग् २।३३।१३, जल ऋग्, १।२३।१६, मूला नक्षत्र (विचृतनाम तारे) अथर्व २।२८।१, विद्युत् ऋग् ७।१०४।२१ इन प्राकृतिक द्रव्यों को भिन्न-भिन्न रोगों की औषध माना है।

खनिज द्रव्यों में आंजन (सुरमा) अथर्व ४।६।६, तथा सीसा (सिक्का) अथर्व १।१६।४ को रोगौषध लिखा है। समुद्रज में केवल शंख अथर्व ४।१०।४ और प्राणियों में मृगशृंग अथर्व ३।७।१ को रोग नाशक माना है। इनके अतिरिक्त १७ ओषधियों का विस्तृत वर्णन वेद में आता है:—

(१) अजशृंगी अथर्व ४।३७ सूक्त, (२) अपामार्ग अथर्व ४।१७ सूक्त, (३) अरुन्धति अथर्व ६।५९ सूक्त, (४) कुष्ठ (कूठ) अथर्व ५।४।६, (५) केशदृंहणी अथर्व ६।२१।३, (६) क्लीवकरणी अथर्व ६।१३८ सूक्त, (७) तलाशा अथर्व ६।१५ सूक्त, (८) तौविलिका अथर्व ६।१६ सूक्त, (८) दशवृक्ष अथर्व २।६ सूक्त, (१०) पाटा अथर्व २।२७ सूक्त, (११ पिप्पली अथर्व ६।१०९ सूक्त, (१२) पृश्निपर्णी अथर्व २।२५ सूक्त, (१३) रोहणी अथर्व ४।१२ सूक्त, (१४) लाक्षा अथर्व ५।५।१, (१५) सहस्रचक्षु अथर्व ४।२० १६) सहस्रपर्णी अथर्व ६।१३९ सूक्त, (१७) सोमलता ऋग् मंडल ९।१ सूक्त।

इन ओषधियों के अतिरिक्त ऋग्वेद १०।९७ सूक्त तथा अथर्ववेद ८।७ सूक्त में ओषधियों के गुणबोधक नाम भी आए हैं :—

(१) अंशुमती, (२) अग्नेःघासः, (३) अग्रंआपः, (४) अपक्रीता, (५) अपांगर्भः, (३) अपुष्पः, (७) अफलः, (८) अभिष्टुतः, (९) अमृतस्यभक्षः, (१०) अवकोल्वः, (११) अवपतन्तिदिवः, (१२) आंगिरिसी, (१३) आमृतः, (१४) उग्रः, (१५) उदकात्मानः, (१६) उन्मुंचतिः, (१७) एकशुंगः, (१८) काण्डिनीः, (१९) कृत्यादूषणीः, (२०) कृष्णा, (२१) गोभाजः, (२२) जामयः, (२३) तीक्ष्णशृंगी, (२४) दिव्या, (२५) देवी (२६) धनं सनिष्यन्तिः, (२७) धामानि शतम्, (२८) धेनुः, (२९) ध्रुवः, (३०) नमस्यन्ती, (३१) पयस्वती, (३२) प्रागतः, (३३) परिष्ठाः, (३४) पर्णं मधुमत् (३५) पर्णोवसति, (३६) पारयिष्णु, (३७) पुनर्नवा, (३८) पुरुष-

जीवनी, (३९) पुष्पिणी, (४०) पृश्नी, (४१) प्रचेतसः, (४२) प्रतन्वतीः, (४३) प्रसूमती, (४४) प्रसूवरी, (४५) प्रस्तृणती, (४६) फलिनी, (४७) बभ्रुः, (४८) बलासनशनी, (४९) वल्ली, (५०) मधुमती, (५१) माध्वीः, (५२) मेदनी, (५३) वावशाना, (५४) विरुणा, (५५) विशाखा, (५६) विश्व भेषजी, (५७) विषदूषणी, (५८) वैश्वदेवी, (५९) शत क्रत्वा, (६०) शिवा, (६१) शुक्रा, (६२) सजित्वरी, (६३) सहमाना, (६४) सहस्रनाम्नी, (६५) सहस्रपर्णी, (६६) सुपर्णा, (६७) सीरा, (६८) सुपिप्पला, (६९) सोमराज्ञी, (७०) स्तंभिनी, (७१) स्वधिती।

ओषधियों के गुणबोधक नाम सिद्ध करते हैं कि, अनेकों प्रकार की बनस्पतियें अनेक रोगों में प्रयुक्त होती थीं।

मणि (मनका)

वेद में ९ मणियों का वर्णन आता है। यह मनके भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्षों, बनस्पतियों तथा शंख से बनाए जाते थे। इन्हें गोलाकार बनाकर मध्य में छिद्र करके सन वा धागे से पिरोकर धारण करने का वर्णन मिलता है। इनके बाँधने से अनेक रोगों के नाश का वर्णन आता है। उन मणियों के नाम नीचे दिए जाते हैं :—

(१) अस्तृतमणि अ० १९।४६ सू०, (२) औदुम्बर मणि अथर्व १९।३१ सूक्त, (३) जंगिडमणि अ० २।४ सूक्त, (४) दर्भमणि अ० १९।२८ सूक्त, (५) प्रतिसरमणि अ० ८।४ सूक्त, (६) फालमणि अ० १०।६ सूक्त, (७) वर्णमणि अ० १०।३ सूक्त, (८) शतवारमणि अ० २९।३६ सूक्त, (९) शंखमणि अ० ४।१० ।

उपसंहार

संक्षेप से इस लेख में वेद में आए आयुर्वेद सम्बन्धी रोग और औषध का वर्णन किया गया है। इस लेख से विदित हो जाता है कि, यद्यपि वेद आयुर्वेद का ग्रन्थ नहीं, तो भी प्रचुर मात्रा में आयुर्वेद का वर्णन मिलता है। केवल शरीरान्तर्गत रक्त संचार का वर्णन करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं। डाक्टरों का कहना है कि रक्त संचार (Circulation of Blood) का वर्णन

वर्तमान काल की देन है। आयुर्वेद, यूनानी और किसी भी प्राचीन चिकित्सा पद्धति में धमनियों और शिराओं में रक्तसंचार का वर्णन नहीं। उनका यह कथन निराधार है; अथर्व वेद ७।३२।२ में सैंकड़ों हिरा (शिरा) और धमनियों का वर्णन आता है। अथर्व १।१७।१ में लिखा है कि 'हिरा लोहित वाससः' अर्थात् शिराएं रुधिर का आश्रय हैं। धमनियों में अरुण अर्थात् शुद्ध लाल रंग वाला रुधिर और शिराओं में धूम्र वर्ण वाला अशुद्ध रुधिर घूमता है। इसके लिए देखो अथर्व १०।२।११ इसी मंत्र में धमनी को लोहिनी कहा है। अर्थात् यह रुधिर लोह (Iron) युक्त हैं। अथर्व १०।२।११ में लिखा है कि यह रक्त शरीर में सर्वत्र ऊपर नीचे और तिरछे स्थानों में नदी वेग के प्रवाह की भाँति संचरण करता रहता है।

कोअस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः सिंधु सृत्याय जाताः
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाची पुरुषे तिरश्ची।

अथर्व १०।२।११



मांस भक्षण और वेद

"और जो मांस खाना है यह भी उन्ही वाम मार्गी टीका कारों की लीला है, इसलिए उनको "राक्षस" कहना उचित है। परन्तु वेदों में कहीं मांस खाना नहीं लिखा।"

"दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने या पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी।"

"इसलिए यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में परमात्मा की आज्ञा है कि (अघ्न्याः+यजमानस्य पशून् पाहि) हे पुरुष तू इन पशुओं को कभी मत मार।"

—महर्षि दयानन्द

'वेद' की अपौरुषेयता

—श्री पं० दामोदर सातवलेकर

●

वेद चार हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। स्तुति, कर्म, उपासना और ब्रह्मज्ञान ये चार वेदों के क्रम से चार मुख्य विषय हैं। इन चारों की सुयोग्य प्राप्ति से मानव का जन्म सफल होता है, मनुष्य कृतकृत्य होता है, इसीलिए मानव को अपना जीवन सफल और सुफल बनाने के लिए इन चारों वेदों का आश्रय करना अत्यन्त आवश्यक है।

वेद पौरुषेय हैं वा अपौरुषेय हैं, यह एक विवाद्य प्रश्न विद्वानों ने बनाया है। वास्तव में इस प्रश्न की कोई आवश्यकता नहीं है। देखिए—

पौरुषेय—कहने से ये वेद पुरुष ने बनाये हैं ऐसा निश्चय होता है। 'प्रकृति' और 'पुरुष' ये दो ही वस्तुयें यहां है। प्रकृति की अपेक्षा से 'पुरुष' परमेश्वर का वाचक है। अर्थात् 'पौरुषेय वेद हैं' इसका अर्थ परमेश्वर के प्रकट किये, ऐसा होता है और यह सच है।

अपौरुषेय—वेद अपौरुषेय हैं, इसका अर्थ भी वेद परमेश्वर ने प्रकट किये हैं ऐसा ही है।

यहां पाठक ध्यान में रखें कि परमेश्वर ने बनाए नहीं हैं, जैसे परमेश्वर सनातन, शाश्वत और अनाद्यनंत है वैसे वेद भी उस परमेश्वर के पास सनातन शाश्वत और अनाद्यनंत हैं। परमेश्वर वेद जो उसके पास है, प्रकट करता है, वेदों को वह बनाता या लिखता नहीं; अतः कहा है—

एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित-
मेतद्, यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥
श०प०ब्रा० १४।५।४।१०

'महान परमेश्वर का यह निःश्वास है जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद है।' परमेश्वर के निःश्वास परमेश्वर के पास हैं; परमेश्वर ने उनको बनाया नहीं। जैसा परमेश्वर है जैसे उसके निःश्वास उसके साथ हैं। इस विषय में और देखिये—

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥

'उस परमात्मा से—जिसमें सब का हवन होता है, उस परमात्मा से ऋग्वेद सामवेद छन्द और यजुर्वेद प्रकट हुये।' यहाँ छन्द पद अथर्ववेद के लिए आया है। यहाँ 'जज्ञिरे अजायत' ये पद प्रकट होने के अर्थ में हैं, न कि निर्माण होने के अर्थ में। पर इस शंका को समूल दूर करने के लिए नीचे दिया मंत्र देखिए—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥

अथर्व २०।७।२०

जिससे ऋग्वेद प्रकट हुआ, यजुर्वेद जिससे प्रकट हुआ, सामवेद जिसके लोम है और आंगिरस अथर्वा जिसका मुख है।' इसमें वेदों को परमात्मा के लोभ और मुख कहा है। अर्थात् ये वेद उसी के अंग होने से उनके साथ सदा हैं।

निर्माण करना पीछे से होता है। मुख और केश उसके साथ रहते हैं। जब से वह परमात्मा है तबसे मुख और बाल उसके साथ हैं। उसने वेद प्रकट किए जो उसके पास थे, यह आशय यहाँ स्पष्ट है। अतः कहा है—

यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता।

ऋ० ६।४।६

'उस परमात्मा में सब वेदरूपी काव्य ऐसे रहते हैं जिस प्रकार चक्र में नाभि आश्रित रहती है।' यहाँ चक्र में नाभि रहती है, चक्र नाभि को उत्पन्न नहीं करता, ऐसे वेद परमात्मा में हैं, ऐसा यहां कहा है। तथा और देखिए—

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अथर्व १०।८।३२

'परमात्मा का यह वेदरूपी काव्य देखो, यह कभी मरता नहीं और कभी जीर्ण नहीं होता।' यह सदा एक जैसा ही रहता है। इसमें कभी न्यून वा अधिक नहीं होता। अतः यह सनातन रहा है। इस विषय में कहा है—

अपूर्वेणेषिता वचः ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥

अथर्व २०।८।३३

'(अ–पूर्वेण इषित वाचः) जिससे कोई प्राचीन नहीं ऐसे परमेश्वर ने प्रेरित की हुई वाणियाँ चार वेदरूपी वाणियाँ हैं, (ताः यथायथं वेदन्ति) वे वेद रूपी वाणियाँ यथातथ्य रूप से सब ज्ञान बोलती हैं। वे वाणियाँ जहाँ पहुंचती हैं (तद् महद् ब्राह्मणं आहुः) वह बड़ा ब्रह्म है ऐसा कहते हैं।' अर्थात वेद-वाणियाँ जो अन्तिम ज्ञान कहती हैं, वही 'महत् ब्रह्म' है। यह ज्ञान 'अ-पूर्व' से 'इषित' अर्थात् प्रेरित है। न कि यह अपूर्व ने बनाया है। अपूर्व परमात्मा है, क्योंकि उसके पूर्व दूसरा कोई नहीं है। उसके पास यह वेदवाणी विद्यमान हैं। उस वेदवाणी को वह बाहर प्रकट करता है। और देखिये—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं
यत्प्रैरयत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्
प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋ० १०।१७।७

हे (बृहस्पते) ज्ञानपते! (नामधेयं दधानाः वाचः) प्रत्येक पदार्थ को नाम देनेवाली वेदवाणियाँ (प्रथमं अग्रं यत् प्रेरयत) प्रथमतः अग्रभाग में जब प्रेरित की गयीं तब (एषां यत् श्रेष्ठं अरिप्रं) उनमें जो श्रेष्ठ और शत्रुसे रक्षण करने वाली वाणी थी, (प्रेणा एषां गुहा निहितं) प्रेमसे वह बुद्धि में रखी हुई थी (तत् आविः) वही प्रकट की गयी।

वेदवाणी प्रत्येक पदार्थ का नाम रखती है। वह प्रथम अर्थात् सृष्टि के प्रथम समय में प्रकट की गई, प्रेरित की गई, उसमें ब्रह्म का वर्णन करने वाली, श्रेष्ठ तत्त्व का वर्णन करने वाली, मंत्र की वाणी थी, वह बुद्धि के अन्दर गुप्त थी वही प्रकट की गई। सब के हितार्थ प्रकट की गई।

वेद के शब्दों से पदार्थों के नाम आदि समय में दिये गये थे। यह वेदवाणी बुद्धि में भी प्रकट की गई। सब लोगों का इस और परलोक में कल्याण हो इसलिये यह वेदवाणी प्रकट की गई। अतः यह वेद रचे नहीं गये, पर जो बुद्धितत्त्व में थे वे सर्वकल्याण के लिये प्रकट किये गये।

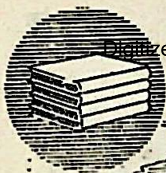
ऐसे ये वेद सत्य हैं, सनातन हैं, अनादि हैं शाश्वत हैं त्रिकालाबाधित सत्यज्ञान देनेवाले अपूर्व ग्रंथ हैं। इसका मनन करने से इनको गहराई में उतरा जा सकता है। इनका एक प्रकट या स्थूल अर्थ है और दूसरा गुह्य अर्थ है। गुह्य अर्थ ही गहराई में ले जाने वाला, अथवा गहराई में पहुँचने वाला है। और यही अर्थ मानव का सच्चा कल्याण करनेवाला है।

भारद्वाज महर्षि की कथा है कि सौ. सौ वर्षोंका तीन जन्मों का समय इन्द्र ने भारद्वाज को दिया। फिर भी वे अधिक जन्म लेकर वेद का ही मनन करना चाहते थे। इन्द्र ने पूछा कि इतना इसमें क्या है, तो भारद्वाज ऋषि ने कहा कि—'हे इन्द्र ! मैंने इन जन्मों में वेद का ही मनन किया, जितना मेरा मन्त्रों का मनन अधिक होता गया, उतनी अधिक गहराई मुझे मंत्रज्ञान में मालूम हुई। इसलिये मैं अधिक गहराई में उतरना चाहता हूँ।"

यह है वेदार्थ की गहराई। जो मनन करेगा वह इस गहराई में पहुँचेगा और सत्य आनन्द का भागी होगा। यह आनन्द प्रत्येक आर्य प्राप्त करे इसलिये महर्षि दयानन्द सरस्वती ने नियम बनाया है—"वेद-सब सत्यविद्या के ग्रंथ हैं। वेदों का पढ़ना और पढ़ाना, सुनना और सुनाना आर्यों का परम धर्म है।"

इस परम धर्म का पालन करने वाले, अर्थात् वेद का मनन प्रतिदिन करने वाले जितने लोग होंगे वे ही महर्षि जी के सच्चे अनुयायी होंगे।

प्रत्येक आर्य गृह में वेदों के ग्रंथ हों, उनके समझने के लिये प्रत्येक आर्य स्त्री-पुरुष संस्कृत सीखे और प्रतिदिन जितना संभव हो, उतना वेदमंत्रों का मनन किया जाय और वैसा आर्यों जा आचरण हो। तब इस भूमंडल में स्वर्गीय आनन्द मिल सकता है॥



वेद का मार्ग

जगदेव सिंह सिद्धान्ती

सिद्धान्त—

महर्षि दयानन्द ने प्रतिपादित किया है कि

१—वेद (मूल संहितायें) चार हैं।

२—चारों वेद अपने विभिन्न रूपों में सृष्टि के आदि में चार ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा) के हृदय में ज्ञानरूप प्रकाशित होते हैं।

३—यद्यपि संख्या भेद से 'वेद' चार हैं परन्तु मन्त्र-रचना-भेद तीन प्रकार का है।



—लेखक

प्रमाण—

उपर्युक्त सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण वेद आदि सत्य शास्त्रों से दिये गये हैं। इसी अर्थ की पुष्टि के लिए एक नवीन [वास्तव में अत्यन्त पुरातन] प्रमाण विज्ञ महानुभावों के समक्ष उपस्थित किया जाता है।

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि
क्षीरेण पूर्णं उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः
स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥
(अथर्ववेद ४। ३४।७॥)

अर्थ—

पर ब्रह्म परमेश्वर उपदेश देता है कि हे मानवो !

(क्षीरेण, उदकेन, दध्ना, पूर्णान्) दूध, जल और दही से भरे हुए (चतुरः कुम्भान्) चार घड़ों को (चतुर्धा) चार प्रकार से (ददामि) देता हूँ। (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) यह सम्पूर्ण धारायें तुझ को समीपता से प्राप्त होवें। यह धारायें (स्वर्गे लोके) आनन्द के आधार स्थान में (मधुमत्) अत्यन्त हर्ष को (पिन्वमानाः) सींच रही हैं। (समंताः) कल्याण स्वरूप, क्रमयुक्त (पुष्करिणीः) हृदय में स्थान ग्रहण करने वाला ये धारायें (त्वा) तुझ को (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित होती है।

लिविक्तिः—

१—चार घड़े चार वेद हैं।

२—दूध जल और दही का अर्थ ऋक् यजु और साम तीन प्रकार की मन्त्र-रचना-शैली है।

३—(चतुर्धा) चार ऋषियों का अलग २ एक एक की एक एक वेद ज्ञान देना पुकारता है।

४—(स्वर्ग लोके) हृदय में ज्ञान दिया जाता है। हृदय ही आनन्द का आधार स्थान है।

५—(मधुमत्) ज्ञान-आनन्द पथ है। हृदय को आनन्द से सींच दिया जाता है।

६ - ज्ञान की धारा में शब्द—अर्थ और शब्दार्थ सम्बन्ध रूप में हृदय में उपस्थित होती है।

७—(समन्ताः) मन्त्रों में शब्द और क्रम नियत है।

जिज्ञासा—

दूध आदि और ऋक् आदि का सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? शब्द और इन पदार्थों का सामञ्जस्य कैसे होता है ?

समाधान—

पावमानीर्योध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिमधूदकम् ॥

ऋ० ९। ६७। ३२॥

(यः) जो महानुभाव (पावनमीः) पवित्र ऋचाओं और (ऋषिभिः संभृतम् रसम्) ऋषि के द्वारा हृदय में भरे हुये रस को (अध्येति) अधिकार पूर्वक ग्रहण

करता है (तस्मै) उनके लिए (सरस्वती) वेद वाणी (क्षीरम्-सर्पि:-मधु-उदकम्) दूध, घी, शहद और जल को (दुहे) अपूर्ण कर देती है।

मन्त्र में क्षीरादि और सरस्वती वेदवाणी का स्पष्ट सम्बन्ध है

पुष्टि:—

शतपथ ब्राह्मण के स्वाध्याय प्रकरण में लिखा है कि।

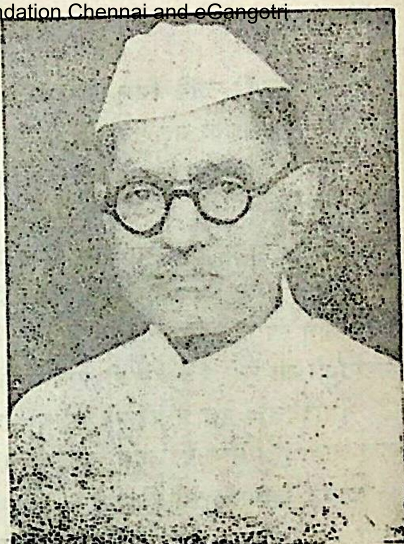
मधु ह वाऋ चः। घृतं ह समान। अमृतं यजूंषि।

इससे स्पष्ट है कि ऋचाओं के मधु, साम को घृत और यजु को जल से उपमा दी जा रही है। ऐसे ही अन्यत्र स्थलों में वर्णन मिलता है।

[पादबद्ध=पद्य मन्त्रों को ऋक्=ऋचा कहते हैं, गद्य मन्त्रों को यजुः कहा जाता है। गान को साम कहते हैं। साम=गान की योनि आधार ऋचा =पदबद्ध रचना=पद्य होता है। जैसे जल द्रव पदार्थों का सामान्यरूप है, उसी प्रकार यजुः=गद्य वाणी का सामान्यरूप है। जैसे साम ऋचा के बिना निष्पन्न नहीं हो सकता, ऐसे दधि क्षीर के बिना बन नहीं सकता, अतः ऋक् को क्षीर और साम को दधि कहना सर्वथा युक्तियुक्त एवं चमत्कारिक है। कुम्भ शब्द से 'वेद' का ग्रहण स्पष्ट है। वेद में एक स्थल पर समुद्र शब्द से भी शब्द सागर का ग्रहण है। परिणाम मंत्र में कितना रहस्य है कि घड़े चार हैं परन्तु उनमें पदार्थ तीन भरे हैं और चार प्रकार से दिये जाते हैं। चार घड़ों में तीन पदार्थ कितना गाम्भीर्य है? चारों में तीन की पूर्ति कैसे होती है यह भिन्न विषय है। मन ही ज्ञान का साधन है। मन्त्र मन को ही स्वर्गलोक कहा है। वेद मन्त्र क्रमशः मंत्ररूप में ऋषियों के हृदय में प्रकाशित होते हैं इसको धारा शब्द कहा जा रहा है। धारा शब्द के विशेषण 'पुष्कारिणीः' और 'समंताः' सिद्ध करते हैं कि मन्त्र क्रम और संख्या में निश्चित करते हैं और हृदय में ही ज्ञान रूप से प्राप्त होते हैं। उस हृदयस्थ वेदज्ञान-राशि को लोक कल्याण के लिए वह परम ऋषि अन्यों को प्रवचन उपदेश द्वारा पहुँचाते हैं।

कर्त्तव्य

हमारा यह परम धर्म और कर्त्तव्य है कि वेद का अध्ययन और अध्यापन करते हुए वेदमार्ग पर चलें।



जीवन को सुन्दर और आनन्द-प्रद बनाने के लिए वेद क्या कहते हैं? इस प्रश्न पर सुलझे और अनुभवी वैदिक विद्वान के विचार पढ़िए



वस्तुतः यदि 'वेद' पर आचरण किया जाए तो दुःख और क्लेश हमारे समीप नहीं फटक सकता। संसार जितना शीघ्र 'वेद' का आदेश स्वीकार करेगा, उतना ही कल्याण है।

वेद का आदेश

— पं॰ बिहारीलाल शास्त्री

ईसाइयों में बाइबिल और मुसलमानों में कुरआन शरीफ और सिखों में जो मान्यता श्री गुरु ग्रन्थ साहब की है वही मान्यता आर्य समाज और सनातन धर्मियों में पवित्र वेद के लिये है। यह सिद्धान्त सर्व विदित है कि संसार में वेद सबसे पुराने ग्रंथ हैं। और वैदिक धर्मी वेदों का प्रादुर्भाव आदि सृष्टि में मानव सभ्यता के प्रादुर्भाव के साथ ही मानते हैं।

ईश्वर ने मनुष्यों के उपयोग के लिए जहाँ नाना प्रकार की वस्तुएं रचीं वहाँ उन वस्तुओं का उचित उपयोग और व्यवहार बताने के लिये ऋषियों के हृदय में ज्ञान भी प्रेरित किया और उन ऋषियों का संसार में रहन-सहन

और पदार्थों के उपयोग और व्यवहार का निर्देश इसी ईश्वर प्रेरित ज्ञान वेद के आधार पर किया।

जिस समय ऋषियों ने वेदों का संदेश और आदेश मनुष्यों को सुनाया उस समय सब मनुष्य एक ही स्थान पर रहते थे। देश विदेश और अनेक जातियों में मनुष्य नहीं बंटे थे। भाषा भी उस समय सब की एक ही थी और वह भाषा है वेदों की भाषा।

आदि सृष्टि में भगवान ने मनुष्य की कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि प्रदान करी तो मनुष्य को स्वभावाभिव्यक्ति करने के लिये भाषा ईश्वर ने ही मनुष्य को प्रदान की। वेद का परीमत है:—

बृहस्पते प्रथम वाचो अग्रे प्त प्रेरत नामधेयदधान : १०।, १। १

महान् संसार के पालक प्रभु ने प्रथम नाम धारण करने वाली वाणियाँ प्रेरित करीं। कुरान शरीफ भी इसी विचार की पुष्टि करता है:—

'व अल्लम आदमल अस्मान्सा कुल्लहा" सू २।' आ० ३ १

परमेश्वर ने आदम को कुल नामों का इल्म दिया।

"फतलक्का आदम मिर्रविन्ही कलमातिन् फताब अलैहि"

आदम अपने प्रभु से कुछ बातें सीखकर भूमि पर आ गया।

अब मनुष्य के लिये वेदों का आदेश क्या है यह सुनिये:—

"सहृदये साम्मनस्स्येम, अविद्वेष कृणोमि वः। अन्योदन्यमभिहर्यंत वत्से जातमिवाध्न्या।" अथर्व

प्रत्येक मनुष्य सहृदय बने। सहृदय उसे कहते हैं कि अन्य के कष्टों को अनुभव करें। किसी भी प्राणी को कष्ट में देख कर मनुष्य के हृदय में दर्द उत्पन्न हो।

सोमनस्य का आशय है कि सब के मनों में सामंजस्य हो। सब के अधिकारों की रक्षा हो। सब मनों में सन्तोष हो सके ऐसी बात होनी चाहिये। एक दो व्यक्तियों के ही मन की न होनी चाहिये। परस्पर द्वेष नहीं होना चाहिये। एक दूसरे के वैभव विकास को देख कर कुढ़े नहीं। और एक दूसरे को इस प्रकार प्रेम करें जैसा गौ अपने सद्यजात वत्सका कर सकती है।

उपर्युक्त मंत्र में जो सामाजिक शिक्षा दी गई है वह कुटम्ब पर नगर पर और देश पर लागू होती है। मनुष्यमात्र के लिये समान हैं। विना सहृदयता के मनुष्य पशु से भी गिरा हुआ है।

यथा "मनुष्य रुपेण वृकाश्चरन्ति" हृदयहीन, सहानुभूति शून्य मनुष्य तो मानव रूप में भेड़िया है। यदि समाज में यह एक ही गुण जागृत हो जाये तो सारा भ्रष्टाचार, कालुष्य और कष्ट दूर हो जाये सहृदयता जन्म जातभी होती है और उसका आधान काव्य शास्त्रों की शिक्षा द्वारा भी किया जा सकता है।

मनों में समझौता रहे, अपने साथ दूसरे के हितों का भी ध्यान रहे यह सब शिक्षा के द्वारा ही संपादन हो सकता है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली इसमें बड़ी सहायक थी। बचपन से ही विद्यार्थी समूह में रहना सीखते थे। भोजन छादन, रहन सहन सब सामूहिक होता था, वैंयक्तिक नहीं। इसलिये मनों में सामंजस्य रखने का स्वभाव बन जाता था। इस प्रकार आचरणात्मक शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति सर्वथा समाज वादी बन जाता था। समाजवाद उस की आदत बन जाती थी।

द्वेष रहित यदि सब हो जायें और एक दूसरे से जलें नहीं तो सबका ही कल्याण है। जलने वाला दूसरे को हानि पहुंचाने की धुन में अपनी तो हानि पहले ही कर डालता है। परोन्नति को देखकर दुःखी होना अपने ऊपर व्यर्थ का दुःख लादना है। कर्मफल विश्वासी मनुष्य कभी दूसरे को देखकर नहीं जल सकता। और कर्म फल विश्वास आदि का अभ्यास होता है आर्य-दर्शन, उपनिषद गीतादि के निरन्तर स्वाध्याय से। द्वेषरहित होने के लिये सभी मन पर जमे हुए कषायों का निवारण करना होगा। यह काम बिना साधना के नहीं हो सकता। वह साधना है धर्माचरण। वैदिक धर्म आचरणात्मक धर्म है केवल विश्वासात्मक नहीं। सब मनुष्य एक दूसरे को प्यार करें। यह सब तब हो सकता है कि विश्व भर की राजनीति एक हो। राजनैतिक बाजीगरों ने कहीं राष्ट्रियता के नाम पर, कहीं मत संप्रदाय के नाम पर, कहीं संस्कृति के नाम पर, कहीं भाषा के नाम पर मनुष्यों में द्वेष बुद्धि भड़का रखी है वेद कहता है:

"जनंबिभ्रती बहुधा विवकहीवाचसं नानाधर्माण पृथिवी पथौकसम्" अथर्व

पृथिवी अनेक भाषाओं वालों और अनेक धर्म वाले जनों को यथास्थान धारण करती है। आदि सृष्टि में अनेक भाषायें और धर्म नहीं थे फिर वेद ने ऐसा क्यों कहा ? कारण है कि उच्चारण और ध्वनि भेद तो प्रत्येक मनुष्य को एक भाषा में भी भिन्न कर देता है। इसी भेद से मनुष्य बोली से पहचान लिया जाता है। धर्म भी गुण कर्मस्वभाव के कारण कामों की योग्यता में भेद के कारण भिन्न हो जाते हैं। सब मनुष्य एक ही सा उच्चारण करें, एकसा-ही सोचें विचारें यह असंभव है। अतः वेद भगवान् सहिष्णुता का आदेश देता है। भिन्नत्व में भी एकत्व की दृष्टि रखने की शिक्षा देता है। वैदिक अध्यात्म में दृढ़.श्रद्धा से प्राणिमात्र में प्रेम की बुद्धि बन जाती है। वेद का उपदेश है:—

यास्मन्त् सर्वाणिभूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः",

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ! यजुः

अर्थ—जब ज्ञानी सब प्राणियों को आत्मवत् जानने लगता है तब कैसा मोह कैसा शोक। वह सब को एक ही तत्व (जड़ और चेतन जानता है। ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान भी बिना स्वाध्याय, सत्संग और साधना के नहीं हो सकता। यह है वेदों की समाज व्यवस्था। वर्णाश्रम विभागों में रहते हुए भी आत्म दृष्टया सब को एक मानकर सब का हित करना। भिन्न वर्तित्व में समदायित्व होना चाहिए। समवर्तित्व से तो अनाचार फैल सकता है। माता, पत्नी, बहिन में बर्त्ताव सम नहीं हो सकता। कुत्ते और मनुष्य साथ साथ नहीं खा सकते।

अर्थ व्यवस्था—प्रत्येक व्यक्ति का पुरुषार्थ और बुद्धि भिन्न २ शक्ति रखता है। अतः सब की कमाई में भेद होगा ही। परन्तु "शतहस्त समाहर-सहस्रहस्त संकिर" वेद ने आदेश दिया कि सौ हाथों से कमाओ और सहस्र से बांटो। दान का उपदेश देकर वेदों ने आर्थिक सामंजस्य स्थापित कर दिया। दान देने से दानी की वृति में उदात्तता आती है और प्रति ग्रही के चित्त में कृतज्ञता उपजती है। दोनों गुण मानवता के विकास के लिए परमोपयोगी हैं। कानून द्वारा किसी का माल छीनकर किसी को देने से माल वाले के हृदय में क्षोभ क्रोध, और वैमनस्य की भावना उदित होगी। और

लेने वाले में अभिमान, कठोरता और प्रमाद बढ़ेगा। आज कानूनों द्वारा यही राक्षसी भाव प्रकट होते हैं। दानादि धर्मों द्वारा जो कोमल भावनाएँ वनती थीं वे नष्ट होरही हैं। वेद ने जिस विषय में समत्व की आवश्यकता थी वह भी वता दिया। सव की विद्या, बुद्धि, वल, धन, वैभव समान नहीं हो सकते परन्तु भोजनादि जीवन के साधन सव को मिलें।

"समानी प्रपा सह वो अन्न भाग"

कोई भी भूखा न मरे इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक घर में वलि वैश्व देव यज्ञ की नित्यविधि रक्खी।

"समाने योतूजे सह वो पुनाज्यं"

सव के लिए नियम कानून समान रहें।

श्रम का महत्त्व—वेद निठल्ला निकम्मा रहने को वुरा समझता है अतः वेद का आदेश है :—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"

सौ वर्ष कार्य करते हुए ही जिओ। प्रत्येक अवस्था में कुछ न कुछ उपयोगी काम करते रहना चाहिए।

"मागृधः कस्य स्विद्धनम्" किसी का धन मत लो। किसी के परिश्रम की वस्तु मत उड़ाओ। वेद कहता है:—"नस्तेय मद्मि" चोरी का माल मत खाओ। विना पुरुषार्थ के दूसरों की कमाई पर ही रहना चोरी का माल खाना है। वेदों के उपर्युक्त उपदेश समाजवाद साम्यवाद सव की पूर्ति निर्दोष रीति पर करते हैं।

ईश्वर के विषय में—लोग कहते हैं कि सृष्टि की प्रारम्भिक दशा में मनुष्य सूर्य चन्द्र, विजली, वायु आदि पदार्थों को देवता मानकर पूजता था। एकेश्वर वाद का ज्ञान तो मनुष्यों को वहुत दिनों विचार करते रहने के वाद हो सका। इसीलिए वेद में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् की स्तुतियां हैं। परन्तु इन ज्ञानाभिमानी लोगों को यह पता नहीं कि वेद ने अग्नि आदि सव नाम उपासना प्रकरण में ईश्वर के ही वताये हैं:—

तदेवाग्नि स्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमाः' यजुः—३२

वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है।

"एकंसद्‌ विप्राबहुधावदन्ति"" ऋग्वेद । ईश्वर एक ही है उस एक ही के अस्तित्व को ज्ञानी लोग बहुत नामों से पुकारते हैं ।

"ईशावास्यमिदम् सर्वम्" यजुः । इस सब जगत् में ईश्वर समाया हुआ है । वह सब में व्यापक है । हमसे दूर नहीं है । हमारे उसके बीच में हमारे अज्ञान का पर्दा पड़ा है ।

"ओतः प्रोतश्च सविभुः प्रजासुः" यजुः । वह सब प्रजाओं में समाया है ।

ईश्वर की उपासना ईश्वर के लिये कोई लाभ पहुँचाने या खुशामद के लिए नहीं है । केवल अपने अज्ञान को दूर करने के लिए उसके गुणों का चिन्तन करना उपासना है । उसके गुण हम धारण करके मुक्त बनें. यही है उपासना का प्रयोजन । ईश्वर निर्लेप, निराकांक्षी है वह न पूजा भेंट चाहता है न बलिदान । वैदिक यज्ञों का प्रयोजन है । वातावरण को शुद्ध नीरोग, प्राणप्रद बनाना । वेदों में दार्शनिक ज्ञान, गणित ज्ञान, आयुर्वेद, संगीत और पदार्थ ज्ञान की चर्चा भी यत्र-तत्र है ।

वेदों के अनुसार जीवात्मा अमर है, अल्पज्ञ है । ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और अज्ञान वश बंधन में पड़ता है । अपने कर्म फल भोगने के लिए ही अनेक शरीर धारण करता है । योग द्वारा जब कर्म से संस्कार वासना दूर हो जाती है तब मोक्ष पा लेता है । इस प्रकार लौकिक और पारलौकिक सभी विषयों में वेद पुरुषार्थ की शिक्षा देता है वेद कहता :—

"स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पस्वस्वये यजस्व स्वयं जुसस्वा महिमातेऽन्येन न संनशे । यजुः २३।१५

हे शक्ति शालिन जीव, अपने शरीर को स्वयं बनाओ अर्थात्, अच्छा बुरा शरीर पाना तुम्हारे कर्मों के आधीन है । स्वयं यज्ञ करो अर्थात् कर्म करो और स्वयं उसका फल सेवन करो । तुम्हारी महिमा और से नष्ट नहीं हो सकती । और कोई तुम्हारी महिमा में व्याप्त नहीं होगा । इस प्रकार स्वावलंबन की शिक्षा देने वाला वैदिक धर्म ही सब मनुष्यों को ग्रहण करने योग्य है । भाग्य पर, देवताओं पर, नबी पैगम्बरों पर भरोसा करना वेद नहीं सिखाता । वेद कहता है अपनी महिमा को, प्रतिष्टा को तुम स्वयं बना सकते हो । ईश्वर प्रबन्धकर्ता है । फलदाता है । परन्तु फलों की प्राप्ति का कर्म

तुम्हारे आधीन है। गीताभी कहती है :—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्पष्टजातिप्रभुः
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥

ईश्वर जीवन के कर्त्तापन, कर्म, कर्म फल संयोग को नहीं रचता। स्वभाव प्रकृति ही इसमें प्रवृत्त होता है। (प्रकृति में नियम और नियंत्रण ईश्वर ने स्थापित कर रक्खा है) जैन धर्म भी यही कहता है। भौतिकवाद भी कर्म पर विश्वास रखता है इस प्रकार वेद ईश्वर को मानता है। ईश्वर प्रदत्त ज्ञान को मानता है परन्तु पुरुषार्थ की शिक्षा देता है। इससे न भाग्य पर दोष आता है न ईश्वर पर। अपने जीवन के निर्माता यह स्वयं हैं। इसी लिए उपनिषद् ने कहा:—

"चरैवति चरैवेति" "चरत् वैमधु विन्दति"

काम करो, काम करो। काम करने वाला ही आनन्द पाता है। ●

● वेदोपदेश

इन्द्र क्रतुं न आभार पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षाणो अस्मिन पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

ऋग्वेद ७-२२-२६

भावार्थ :—हे जगदीश्वर ! जैसे पिता हम लोगों को पुष्ट करता है वैसे आप पालन कीजिए। जैसे विद्वानजन विद्यार्थियों के लिए शिक्षा देकर सत्य बुद्धि का ग्रहण कराता है वैसे ही हमको सत्य ज्ञान ग्रहण कराओ जिससे हम लोग सृष्टि विद्या और आपको पाकर सदैव आनन्दित हों।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

आर्यों का धर्म ग्रन्थ 'वेद' है। जब तक इन पर आचरण हुआ तब तक सब भांति उन्नति होती रही। और जब 'वेद' के स्थान पर पुराणों की प्रतिष्ठा हुई तो हमारा भयंकर पतन हुआ। राम-कृष्ण के उपासकों को यदि अपनी उन्नति इष्ट है तो उन्हें पुराण-विष त्याग, वेद-अमृत ग्रहण कर जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त करना चाहिए। पुराणों में भरे विष का संक्षिप्त परिचय पाठक प्रस्तुत लेख में पा सकेंगे।—सम्पादक



वेद और पुराण

—— अमर सिंह शास्त्रार्थ महारथी

एक बड़ा जन समुदाय है जिसके माने हुए पण्डित लोग कहते हैं कि पुराणों की रचना वैदिक धर्म की पुष्टि और विस्तार केलिये की गई थी। परन्तु पुराणों के पढ़ने से पता लगता है कि पुराणों की रचना वेदों का महत्व घटाने और वेद विरुद्ध मत को फैलाने के लिये ही हुई थी।

वेदों का महत्व घटाने के लिये पुराणों में वेदों का नाम लेकर निन्दा नहीं की गई है पर बड़ी चतुराई के साथ पुराणों की इतनी महिमा पुराणों में गाई गई है कि वेदों की महत्ता स्वयं समाप्त हो जाय।

तुलसी कृत रामायण रामचरित मानस के नाम से आजकल छप और बिक रही है। गीता प्रेस से छपे रामचरित मानस गुटके में गोस्वामी तुलसीदास जी की संक्षिप्त जीवनी दी गई है और उसके अन्त में लिखा गया है कि

"भगवान विश्वनाथ के सामने सब के ऊपर वेद, उसके नीचे शास्त्र, शास्त्रों के नीचे पुराण और सबसे नीचे रामचरित मानस रख दिया। मन्दिर बन्द कर दिया गया। प्रातः काल जब मन्दिर खोला गया तो लोगों ने देखा कि श्री रामचरित मानस वेदों के ऊपर रक्खा हुआ है।"

वेदों को रामचरित मानस की अपेक्षा घटिया जताने का यह ढंग अधिक नंगा है पुराणों में उद्देश्य यही है पर ढंग दूसरा है-यथा

भविष्य पुराण ब्रह्म पर्व अध्याय २ श्लोक ७० में भविष्य पुराण की महिमा इस प्रकार कही गई है—

यच्छ्रुत्वा सर्व पापेभ्यो मुच्यते मानवो नृप।
अश्वमेध फल प्राप्यं गच्छेद्भानौ न संशय, ॥

अर्थात—इस पुराण को सुनकर मनुष्य सारे पापों से मुक्त हो जाता है। अश्मेध यज्ञ के फल को प्राप्त करके सीधा सूर्य लोक में चला जाता है इस में संशय नहीं है।

श्री मद्भाग्वत के आरम्भ में छपा है उसमें श्री मद्भागवत के लिये लिखा है कि

"एतस्मादेपरं किञ्चिन्मनः शुद्धयै न विद्यते ॥ २०१ श्लोक ११

मन की शुद्धि के लिये भागवत से बढ़कर कुछ भी नहीं है।

आगे इसी अध्याय के श्लोक १७ में कहा है कि

श्रीमद भागवती वार्ता सुराणमपि दुर्लभा ॥

श्रीमद् भागवत की कथा देवों को भी प्राप्त होनी कठिन है।

इसी अध्याय के श्लोक १८ में कहा है-

सत्यलोके तुलां बध्द्वाऽतोलया साधनान्यजाः ॥ १८
लघून्यन्यानि जातानि गौरवेण इदं महत् ॥ १९

अर्थात्-सत्यलोक में श्री ब्रह्मा जी ने तुला बांध कर सारे साधनों को इस भागवत के साथ तोलकर देखा। सारे साधन हलके निकले और भागवत ही अधिक पाया गया।

देखिये किस चतुराई के साथ यज्ञ, सन्ध्या, योगाभ्यास और वेद पाठ आदि को भागवत की अपेक्षा लघु बताने का प्रयत्न किया गया है।

मत्स्य पुराण अध्याय २९० के अन्त या यूं कहिये कि मत्स्य पुराण के अन्त में कहा गया है कि

अस्मात्पुराणादपि यादमेकं पठेन्तु यः सोऽपि विमुक्त पापः ।
नारायणाख्यं पदमेति नूनं, अनङ्गवादित्य सुखानि भुक्ते ॥ ३०

इस पुराण से यदि इसके किसी श्लोक एक पाद भी कोई पढ़ले तो वह पाप से मुक्त हो जाता है और नारायण नाम वाले पद को निश्चय पूर्वक प्राप्त कर लेता तथा कामदेव के समान दिव्य सुखों को भोगता है।

वेद पाठ से हटाने का यह सुन्दर ढंग है।

इसी प्रकार शिव पुराण विद्येश्वर संहिता अध्याय २ श्लोक ४-

तस्याध्ययन मात्रेण पुराणस्य द्विजोत्तमाः ।
सर्वोत्तमस्य शैवस्य, यास्यन्ति ते सुसद्गतिम ॥ ४ ॥

सूत जी कहते हैं कि-हे उत्तमद्विज मुनिजनो ! उस शिव पुराण के पठन मात्र से ही लोग सर्वोत्तम शिव गति को प्राप्त कर लेते हैं।

अस्य शैव पुराणस्य कीर्तन श्रवणादद्विजाः ।
फलं वक्तुं न शक्नोमि कात्स्यन मुनि सत्तमाः ॥१८॥
एतच्छिव पुराणां हि श्लोकार्द्धमेव च ।
यः पठेद भक्ति संयुक्तस्य पापान्युच्यते क्षणात् ॥ २० ॥

इस शैव पुराण पढ़ने और सुनने से हे द्विजोत्तमो !
जो फल होता है उसको मैं पूर्णता से नहीं कह सकता हूँ अर्थात वह वर्णन की सीमा से बाहर है।

इस शिव पुराण का एक श्लोक या आधा श्लोक भी जो मनुष्य भक्तियुक्त होकर सुने वह क्षण भर में पापों से मुक्त हो जाता है।

इन पुराणों के एक २ श्लोक से अवर्णनीय अनन्त फल प्राप्त होते हैं तो वेदों के पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? मनुष्यों को वेदों से दूर ले जाने का यह प्रकार पुराणों के सैंकड़ो स्थलों पर है।

इसी शिव पुराण के अन्त में अर्थात् वायवीय संहिता शिव पुराण माहात्म्य वर्णन नाम अध्याय ४१ के अन्तिम ४५ से ५१ तक के श्लोकों में यही बात विस्तार से कही गई है।

वाराह पुराण के अन्तिम अध्याय २१६ के श्लोक १८ से १६ देखिये—

' सर्व यज्ञेषु यत्पुण्यं सर्वं दानेषु यत्फलम् ।। १८
तत् प्राप्नोति न सन्देशे वराह वचनं यथा ।। ।।

सारे यज्ञों में जो पुण्य होता है और सारे दानों में जो फल होता है इस वराह पुराण के पढ़ने तथा सुनने वाले को वह पुण्य फल प्राप्त होता है।

पञ्च महायज्ञों में प्रथम महायज्ञ ब्रह्म यज्ञ है जिसका अर्थ है स्वाध्याय करना वेद पढ़ना उस एक यज्ञ का नहीं सारे ही यज्ञों का पुण्य वराह पुराण के पढ़ने तथा सुनने से प्राप्त हो जाता है अतः वेदादिका पढ़ना तथा अन्य यज्ञों का करना भी पुराणों की सम्मति में सर्वथा व्यर्थ है।

ब्रह्म वेवर्त पुराण प्रथम ब्रह्मखण्ड अध्याय १ श्लोक ४२-४३-५७

"सार-भूत पुराणेषु ब्रह्मावैवर्तमुत्तमम ।।४२
पुराणोपपुराणानावेदानां भ्रम भञ्जनम्
हरि भक्ति प्रदं सर्वं तत्वं ज्ञान विवर्द्धनम् ।।४३।।
सर्वेषाभीप्सित तृमं सर्वाशा पूर्ण कारणाम् ।
ब्रह्मा वैवर्तक नाम सर्वाभीष्ट फल प्रदम् ।। ५७ ।।

सारे पुराणों में सारा भूत ब्रह्मावैवर्त पुराण उत्तम है।

पुराण उपपुराण और वेदों का भी भ्रम भञ्जन करने वाला ईश्वर भक्ति देने वाला तत्व ज्ञान का बढ़ाने वाला सारी इच्छाओं और आशाओं को पूर्ण करने वाला तथा सारे अभीष्ट फलों को देने वाला ब्रह्मवैवर्त नाम वाला पुराण है।

कहिये पुराणों ने वेदों को पढ़ने की क्या आवश्यकता रहने दी है ?

पुराणों में से इस प्रकार के श्लोकों का संग्रह किया जाय तो इसी विषय पर एक विशाल ग्रन्थ लिखा जा सकता है पर मैं दो प्रमाण ही और देकर इस एक प्रसंग को यहां समाप्त करता हूँ जिससे दूसरे प्रसङ्ग का भी कुछ नमूना दिखाया जा सके—

मार्कण्डेय पुराण अध्याय १३४ के श्लोक १२–१४–१५ और १६ देखिये-

श्रुत्वा पुनश्च ते पापं कल्प कोटि शतैः कृतम् ॥ १४

ब्रम्हा हत्यादि पापानि यान्यन्यान्यशुभानिच ।

तानि सर्वाणि नश्यन्ति तृणां वातहतं यथा ॥ १५

सर्वं वेदाधिक फलं समाप्त्या चाधि गच्छति ॥ १६ ॥

यह उत्तम मार्कण्डेय पुराण सुनने से सौ करोड़ कल्प के लिये पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मा इत्यादि संपूर्ण महापाप तथा अन्यान्य सब अमंगल वायु से हटे हुए क्षण के सामान इस पुराण के पाठ से नष्ट हो जाते हैं।

इस पुराण की समाप्ति से संपूर्ण वेद पाठ से भी अधिक फल प्राप्त होता है।

सारे पुराण के माहात्म्यों का सार यही है कि इसके पढ़ने से वेद पाठ से अधिक पुण्य फल प्राप्त होता है।

अग्नि पुराण अध्याय ३८२ श्लोक ४८—५१

नास्मात्परतरो ग्रन्थो नास्मात्परतरा गति ।

नास्मात् परतरं शास्त्रं नास्मात् परतरा श्रुतिः ॥ ४८ ॥

आग्नये पुराणोऽस्मिन् सर्वं विद्याः प्रदर्शिताः ॥ ५१

अर्थात् इस पुराण से बढ़कर कोई ग्रन्थ नहीं है न इससे पर कोई गति है। इससे पर कोई शास्त्र नहीं है न इससे पर तर (बढ़कर) कोई श्रुति अर्थात वेद है। स्पष्ट है कि-यह पुराण सर्व शास्त्रों और वेदों से भी अधिक ऊंचा उत्तम है।

पुराणों में स्पष्ट वेद विरुद्ध शिक्षा

यजुर्वेद अध्याय मन्त्र २८ में प्रार्थना है—

(१) "परिमाग्ने दुश्चरिताद्बाधस्व आ मा सुचरिते भज ॥

हे पूजनीय प्रभो मुझ को आप दुश्चरित्र से बचाइये और मुझको सुचरित्र का सेवन कराइये ।

(२) अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्,, ऋ० १० । १० । १०
अथर्व १८ । १ । ११

पौराणिक लोग इस मन्त्र को बहिन भाई के सम्वाद का मानते हैं । उनके मत में मन्त्र खण्ड का अर्थ यह है कि मेरे अतिरिक्त अन्य को पति बनाने की इच्छा कर । अन्य स्व का प्रतियोगी होता है स्व का अर्थ है ज्ञानी (अपना कुटम्बी) इस प्रकार अन्य का अर्थ हुआ अपने कुल वंश आदि से बाहर का कोई व्यक्ति ।

अभिप्राय यह है कि पहले मन्त्र में सर्व प्रकार के दुराचारी का निषेध है और दूसरे मन्त्र में अपने परिवार में व्यभिचार का निषेध है ।

पापमाहुर्यः स्वसार निगच्छात् ॥
ऋ० १० । १० । १२ अथर्व १८ । १ । १४ में
बहिन भाई के विवाह सम्बन्ध का निषेध है ।

(४) अक्षैर्मा दीव्यः । ऋ० १० । ३४ । १३ में
द्यूत=जूआ खेलने का निषेध है ।

(५) मा गामनागामदितिं बधिष्ट ।। ऋ० ८। १०१ । १५

(६) यदि नो गां हंसि० तंत्वा सीसेन विध्याम । अथर्ववेद । १६ । ४

इन दोनों मन्त्रों में गोवध का निषेध है दूसरे मन्त्र में तो गोवध करने वाले को सीसे की गोली से बींध देने की घोषणा है

पुराणों में इन सभी सदुपदेशों के विरुद्ध शिक्षा दी गई है ।

(१) शिवपुराण शतरुद्र संहिता अध्याय २५ शिव जी को वेश्यागामी बताया गया है ।

शिव जी सोने का रत्न जटित कंगन पहन कर महानन्दा वेश्या के घर में गये और कङ्कण उसको दिखाकर कहने लगे कि

तुझको यह पसन्द है तो तू पहन ले पर बता इसका मूल्य क्या देगी ? वह बोली—

वयंहि स्वैरचारिण्यो वेश्यास्तु न पतिव्रता; ।

अस्मत् मुलोचितो धर्मो व्यभिचारो न संशयः ॥ २१ ॥

दिनत्रय महोरात्रं पत्नी तव भवाम्यहम् ॥ २२ ॥

हम व्यभिचारिणी वेश्या हैं हमारे कुल का धर्म व्यभिचार है। मैं तीन दिन और तीन रातों के लिये आपकी पत्नी बन जाऊंगी।

बस यह होने पर।

सा तेन संगता रात्रौ वैश्येन विटधर्मिणा।

सुखं सुष्वाय पर्यंके मृदुतल्योय शोभिते ॥ ३० ॥

वैश्य का रूप धारण किये शिवजी के साथ वह महानन्दा वेश्या कोमल तकियों गद्दों वाले पलंग पर सोगई।

(२) श्री मद् भागवत स्कंध ३ अ० १२ श्लोक २८—२९—३० में बताया है।

वाचं दुहितरं तन्वी स्वयंभूर्हरतीं मनः ।

अकामा च कमंछत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥ २८ ॥

तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।

मरीचि मुख्याः मुनयो विस्रम्भात् प्रत्यबोधयन् ॥ २९ ॥

नैतत् पूर्वैः कृतं लघे न करिष्यन्ति चापरे ।

तयं दुहितरं गच्छे रनिगृह्यांगजां प्रभुः ॥ ३० ॥

ब्रह्मा जी ने अपनी पुत्री सरस्वती के साथ रमण की इच्छा काम के वश में होकर की।

संपूर्ण पुत्र मरीचि आदि ऋषियों ने अपने पिता की खोटी बुद्धि देखकर उनको समझाया।

कि 'ऐसा पहले किसी ने नहीं किया और न कोई करेगा कि जो तुम अपने अँग थे उत्पन्न हुई पुत्री को ग्रहण करते हो यह ग्रहण करने योग्य नहीं हैं'।

(३) भविष्य पुराण प्रतिसर्गपर्व (३) अध्याय १८ श्लोक २६–२७–२८

या तु ज्ञानमयी नारी वृणोघं पुरुषं परम् ।

कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पति भवेत् ॥ २६ ॥

स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णु देवः स्व मातरम् ।

भगिनीं भगवाञ्छंभुर्ग्रहीत्वा श्रेष्ठतामगात् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो ज्ञान युक्ता नारी हैं वह पुत्र पिता भ्राता किसी को वरण कर सकती है वह ही उसका पति होगा। उदाहरण ये हैं—

अपनी पुत्री को ब्रह्मा ने ग्रहण किया, विष्णु जी ने अपनी माता को ग्रहण किया और शिवजी ने अपनी बहिन को ग्रहण किया इस प्रकार वह श्रेष्ठता को प्राप्त हुए।

भविष्य पुराण प्रत्ति सर्गपर्व अ० १७ में लिखा है कि अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसूया जी तप कर रहीं थी उनके पास शिव ब्रह्मा और विष्णु तीनों देव पहुंचे और—

मोहितास्तन्नते देताः ग्रहीत्वा तां बलान्तदा।
मैथुनाय समुघोगं चक्रुर्माया विमोहिता : ।। ७३ ।।

अर्थ—उन तीनों देवों ने काम मोहित होकर उस तपस्विनी देवी को बल से पकड़ कर मैथुन का उद्योग किया।

जुआ खेलना—पद्म पुराण उत्तर खण्ड (६) अध्याय १२२ श्लोक २५—२६—२७—२८

शङ्करश्च भवानी च क्रीडया द्यूत मास्थितौ २५
गौरी जित्वा पुरा शम्भुर्नग्नो द्यूते विसर्जितः।
अतोऽयं शङ्करो दुःखी गौरी नित्यं सुखेस्थिता।। २६ ।।
प्रथमं विजयो यस्पास्तस्य संवत्सरं सुखम् ।। २७ ।।
प्रातः गोंवर्धनः पूज्यो द्यूतं रात्रौ समाचरेत् ।। २८ ।।

शिवजी और पार्वती जी दोनों जूआ खेलने में स्थित हुए।

पार्वती ने विजय प्राप्त करके शिवजी को जूए में नंगा कर के त्याग दिया। इसलिये शिवजी बहुत दुःखी हुए और गौरी नित्य सुख भोगने लगीं।

दीपावली पर जो जूए में प्रथम वार जीत जाता है उसका वह पूरा वर्ष सुखदायक होता है। (दीपावली के दूसरे दिन) प्रातः काल गोवर्धन की पूजा की जानी चाहिये और रात्रि में जूआ खेलना चाहिये। यह स्पष्ट ही वेद के विरुद्ध शिक्षा है।

गोवध—ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृतिखण्ड अध्याय ५४ महाराजा स्वायम्भुव की प्रशंसा में लिखा है कि—

ब्राह्मणानां त्रिकोटिञ्च भोजयामास नित्यश : ४८ ॥ ४८ ॥

पञ्च लक्ष गवां मांसैः सुपक्वैर्घृत संस्कृतौः ॥ ४६ ॥

महाराजा स्वायम्भूव पांच लाख गौओं के घृतादि द्वारा अच्छे प्रकार पकाये हुए मांस से नित्य तीन करोड़ ब्राह्मणों को भोजन कराते थे। इतना तो औंरगज़ेब आदि भी नहीं करते थे।

ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृतिखण्ड अ० ६१ श्लोक ६५ से ६६ तक मण्डलेश्वर महाराजा चैत्र की प्रशंसा में लिखा है कि—

पञ्च कोटिगवां मासं सपूपं स्वान्नमेवाच ॥ ६८ ॥

एतेषां च नदी राशी भूञ्जते ब्राह्मणा मूने ॥ ६६ ॥

पांच करोड़ गोओं का मांस ब्राह्मण लोग उसके यहां खाते थे।

गोवध के भी पुराणों में असंख्य प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रमाणों में सहस्रों शिक्षाएं वेद के विरूद्ध हैं।

●

वेद की गरिमा अपरंपार

● विद्यावती मिश्र

निहत है इनमें अक्षय ज्ञान,
प्रभु के अनुभव अनुसंधान,
देन इनका है सारा ज्ञान
लक्ष्य है अग-जग का कल्याण,
विशद श्री-सुषमा के आगार !
वेद की गरिमा अपरंपार !!
देन है प्रभु की परम पुनीत,
सिखाते ऐसी अनुपम नीति,
सत्य, शिव, सुन्दरमय संगीत,
लोक की प्रीति, अलौकिक रीति,
गूढ़ चिन्तन के पारावार !
वेद की गरिमा अपरंपार !!

मर्म सारे ये देते खोल,
सत्य सारे ये लेते तोल,
लक्ष्य का लेते पथ टलोल,
कि इसका प्रति अक्षर अनमोल,
अलौकिक गाथा का विस्तार !
वेद की गरिमा अपरंपार !!
सार तुम लो इनका पहचान,
गूढ़ता लो तुम इनकी जान
और रख परम ब्रह्म में ध्यान
सृष्टि का ऐसा रचो विधान,
वेद-विधि जिसका हो आधार !
वेद की गरिमा अपरंपार !'

———

सोती सी सृष्टि शुभाने नेत्रों की पलकें खोली
मुस्कान मनोरम हीरों की मानों भर कर झोली
मधुमास रसिक ने मधु की माधुर्य सोम रस प्याली
अवनी को स्वयं पिलाकर दी शक्ति सुघढ़ हरियाली ।१।

तब शस्य श्यामला धरणी ने मानव अङ्क खिलाया
मानस की मञ्जु लहर ने जीवन जल जात खिलाया
तब अग्नि, वायु से आदिम आदित्य अंगिरा चेता
श्रुति नाटक नित्य नियति के ये बने पूर्ण अभिनेता ।।२।।

पावें सुख शान्ति सुधा सी जिससे कि विश्व के प्राणी
प्रकटी वह आद्य हृदय में प्रभु की कल्याणी वाणी
मानो यह सृष्टि सदन में सिन्दूरी ऊषा आई
या महा प्रलय की जिससे थी नील निशा शरमाई ।। ३।।

पाकर यह दिव्य धरोहर कोकिल ने तान सुनायी
चिरमौन मुनी ने मानो अपनाई वर शहनाई
हो गई प्रवाहित अनुपम विज्ञान ज्ञान की धारा
चमका संसार गगन में उद्देश्य एक ध्रुव तारा ।।४।।

शुचि ज्ञान कर्म की लहरें ये सङ्ग उपासन लाती
यह पुण्य त्रिवेणी जन के सचमुच त्रय ताप मिटाती
वर्णाश्रम वर्ण व्यवस्था का शुभ आधार यही है
सब सत्य साधना सुख का अदभुत आगार यही है ।।५।।

मानव ने आदिम क्षण से है इसको ही अपनाया
इसकी ही लोहित लौ से है जीवन दीप जलाया
यह आदि काव्य है प्रभु का जिसकी है अमर कहानी
इससे ही विद्या विविधा है कल्प लता लहराती ।।६।।

वेदोदय धवल धरापर अज्ञान अन्ध विन शावे
'आर्योदय' अवनीतल में अन्याय अभाव भगावे
जन मण्डल प्रेम प्रथा से परिपूर्ण पन्थ में आवे
प्रभु "प्रणव' पिता की वाणी निः श्रेयस बीन बजावे ।।७।।



अन्न की समस्या और वेद

—रामानन्द शास्त्री

इस समय 'अधिक-अन्न उपजाओ' (Grow more food) का आन्दोलन देश-व्यापी हो रहा है। मानव-समाज के जीवन के लिये अन्न एक मुख्य आधार है और कठिनता से प्राप्त भी है। पशुओं के भजन के लिये इतनी कठिनाई नहीं इनका भोजन स्वयं प्रकृति प्रदान करती है। उदाहरण के लिये दूब, पामार आदि को कोई बोता नहीं, वे स्वयं उग जाते हैं। किसी खेत को बिना जोते छोड़ दीजिये उसमें कहीं से स्वतः आकर उपज जायेंगे ! किन्तु ऐसा कहीं देखा कि—जौ, गेहूँ, धान आदि भी स्वतः उपज जाते हों इन चीजों को उत्पन्न करने के लिये परिश्रम की आवश्यकता है। ऐसे उत्पादकों को 'वेद' में वैश्य कहा गया है। वैश्य का कार्य कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य है ! इनमें प्रथम स्थान कृषि का है। क्योंकि एक कृषक किसी का माल मुफ्त नहीं खाता। उसका भोज्यतो परिश्रम का है, उसने प्रकृति से प्राप्त किया है। ऐसे ही लोगों के घर पर ब्राह्मणों को भोजन करने का आदेश है। क्योंकि मानव मस्तिष्क पर अन्न का ही प्रभाव विशेष पड़ता है।

अथर्ववेद में आदेश आता है:—

> यत्र धेनु र्न कल्याणी नानड्वान् सहते धुरम्।
> विजानीहि तत्र ब्राह्मणो रात्रि वसति पापया॥

जहां न तो कल्याण प्रदान करने वाली दूधार गौ और न बल धुरा (पंजाली) जुए को धारण करता है इसलिए तू समझ ले कि पापवृत्ति को दूर करने के लिए ब्राह्मण वहाँ वास करता है।

इसलिए कि कृषक सच्चा ज्ञानी है। यदि कोई प्रजा से टैक्स लेकर अथवा वस्तु से नफा कमा कर एक लाख रुपया लेता है और दो हजार दान करता है, मेरी सम्मति में वह दानी नहीं, दानी तो कृषक है । कृषि की प्रशंसा में ऋग्वेद कहता है:—

अक्षै र्मा दीव्यः कृषिमितत्कृषस्व—

अर्थात जुआ (फटका) आदि मत खेलो, खेती ही करो। दूसरी जगह यह आदेश है:—

अहं भूमिमददामार्य्यायाहं वृष्टिं दाशुषेमर्त्याय

ऋग्वेद ।

अर्थात् मैंने श्रेष्ठों को (जो परिश्रम करता है) भूमि दी है और दानशीलों को वृष्टि- प्रदान किया है। खेती के लिये दो चीजें आवश्यक है—पानी तथा बैल। पानी वृष्टि से प्राप्त होता है। किन्तु सर्वत्र वृष्टि ही पर्याप्त नहीं है, इसलिये वेद कहते हैं—

पर्य्याप्त ना सत्यानुदेवा मुच्चा बुध्नं चक्रथुजिह्यवारम् ।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य ।

ऋ० १।११६।९

अर्थात पृथ्वी और पानी खेती करने के लिये बहुत आवश्यक है पानी वृष्टि से प्राप्त होता है, अतः सर्वत्र वृष्टि नहीं अतः असंख्यों की पिपासा की शान्ति के लिये कूप का निर्माण करो।

यद्यपि बिजली से पम्प द्वारा भी पानी निकाला जाता है, लेकिन उसमें दोष यह है कि उससे वहाँ की भूमि नीचे से शुष्क हो जाती है और पेड़ और पौदे धीरे २ सूखने लगते हैं। इसलिये कूप निर्माण की पद्धति ही उत्तम है। वेद में बैल के द्वारा ही खेती का आदेश है।

वोढा अनड्वान्—यजु०

यजमान के बैल भार ढोने में समर्थ हों।

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृडातीदृशे।

अर्थात्—हम क्षेत्र पति के साथ मित्र के समान बैल और अश्व को पाल कर कल्याण प्राप्त करें।

शुनं वाहा शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्—अर्थात् हल चलावें इत्यादि—

इस समय कतिपय सज्जन इस महत्व को न समझ कर ट्रैक्टर (Tractor) चलाने की चिंता में हैं। बाहर से ट्रैक्टर मंगाये भी जा रहे हैं। लेकिन इन ट्रैक्टरों से भारत की खेती नहीं हो सकती है। अगर होगी भी तो कालान्तर में खेती की भूमि वञ्जर पड़ जायेगी। भारत ट्रोपिकल (Tropical) देश है। यहां तो बैल से खेती होनी चाहिये। इसलिये गौ-रक्षा का विशेष महत्व है। अब अमेरिका के भी वैज्ञानिक इस सच्चाई पर विचार करने लगे हैं। कहते हैं कि—"महा वैज्ञानिक आइनस्टीन ने कहा है कि भारत के लिए बैल से ही खेती उपयुक्त है।"

खेत की उपज को बढ़ाने के लिए खाद की आवश्यकता है। गाय के गोबर को ही सबसे उत्तम खाद माना गया है—करीषिणीं फलवतीं सुधामिरास्—अर्थात् करीषिणी=गोबर क्षेत्र के लिए अमृत है। दूसरी जगह पुनः—

सजग्माना अविभ्युषी रस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रती सौम्यं मवध्नीमया उपेतन॥ अथर्व

यहां गोबर की खाद की प्रशंसा की गई है। खेत के लिए दूसरा खाद्य=खाद (जो विदेशी है) उपयुक्त नहीं है क्योंकि इससे खेत थोड़े समय के लिये भले उपज जाय, पश्चात् उत्तेजनात्मक (Tonic) औषधी के सेवन के समान निर्बल हो जाता है।

इस समय वैज्ञानिक यह चेष्टा कर रहे हैं कि हम खेत में पौष्टिक तत्त्व डालकर पौष्टिक अन्न उत्पन्न करें। अपौष्टिक भोजन परिणाम में वहुत होने पर भी उपयुक्त नहीं है। अपौष्टिक भोजन से शरीर वृद्धि भी उचित मात्रा में नहीं होती है। प्रमाण के लिए बिहार के मुंगेर, हजारी बाग और रांची जिले को लीजिए, यहाँ की घास में फास्फोरस तत्व नहीं है, इस लिए इन जिलों के पशुओं की हड्डियाँ मोटी तथा वड़ी नहीं होती हैं। अथर्ववेद कहता है—

सा नो भूमि स्त्विषि बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे—अर्थात् बुद्धिमान् उचित रीति से जव खेत का उत्पादन करते हैं तो शस्य बल तेज आदि शक्तियों को प्रदान करने वाला होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि परमात्मा ने हमें इस मात्रा में गेहूँ, धान, मकई आदि नहीं प्रदान किया होगा। यदि इस परिमाण में प्रदान किया होता तो विना बोये ये उपजते। लेकिन ऐसा होता नहीं। कहीं नहीं देखियेगा कि धान और मकई का जंगल हो गया है। वास्तव में बात यह है इन्हें ऋषियों ने कलमी (Cross) कर वन चीजों से निकाला है। पुराणों में विश्वामित्र के सम्वन्ध में ऐसी कथा मिलती है कि उन्होंने श्यामक, कंगनी आदि की रचना की, तथा भैंस, खच्चर आदि पशुओं को भी कलमी कर उसमें सफल हुए। आज विदेशों में आम, लीची, गेहूँ, यव, नेनुआ, टमाटर आदि कलमी कर वड़े आकार में लाया जा रहा है। वेद में इसका भी सांकेतिक ज्ञान मिलता है। यजुर्वेद [१६] कहता है :—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च में तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे......... यज्ञेन कल्पन्ताम् (यजुर्वेद अ० १८।१२) यज्ञ का अर्थ संगति करण है निश्चय ही परस्पर की संगति से तीसरे की उत्पत्ति होती है। यद्यपि यह कार्य कष्ट-साध्य तथापि—अवैज्ञानिक नहीं है।

उपरोक्त प्रमाणों से विदित होता है कि वेद अन्नोत्पादन को कितना महत्व देते हैं। इन्हीं सब प्रमाणों को देखने से मैक्समूलर को भ्रम हो गया कि आर्य का अर्थ खेती हर तो नहीं है।

अब एक समस्या और विश्व के सामने है जिसका समाधान करना इस लेख का मुख्य विषय है कि—अन्न का वितरण किस प्रकार किया जाय। साम्यवादी कहते हैं—

From every body according to his capability to every body according to his need अर्थात प्रत्येक मनुष्य को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य तथा आवश्यकता के अनुसार भोजन मिलना चाहिये। सुनने में यह वाक्य कितना सुन्दर है। संसार के सभी महापुरुषों ने इसी प्रकार के आदेश दिये हैं। लेकिन साम्यवादी इसे चरितार्थ करने के लिये अशुद्ध मार्ग अपना रहे हैं। मास्को में सर्वहारा वर्ग के एकतन्त्र राज्य की स्थापना हो चुकी है। प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद का स्वप्न हवा हो गया। अब अधिनायक—वाद का गुण गाया जाने लगा है। सर्वहारा वर्ग का एकतन्त्र राज्य हो इसके लिये हिंसा को प्रधानता दी गयी। हिंसा के लिये क्रान्ति की जा रही है क्रान्ति का अर्थ हड़ताल; तोड़ मरोड़ (Sabotage) हो गया है। ऐसी स्थिति में मानवता (Humanity) खतरे में पड़ गयी है। आर्य्य समाजी दृष्टिकोण है कि देश में अन्न की उतनी कमी नहीं है जितनी कि मानवता की। अतः विश्व को मानव बनाना चाहिये। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् का प्रचार सार्वभौम होना चाहिए। जब तक मानवता का स्तर ऊँचा नहीं होता तब तक परिणाम (Ends) अच्छा नहीं होगा। वह मानवता, आदिमरत्न वेद से प्राप्त होगी। वेद ने इन सारी समस्याओं का समाधान पहले से ही कर रखा है। ऋग्वेद कहता है :—

केवलाघो भवति केवलादी—

अर्थात्—केवल अकेला खाने वाला पापी है।

गीता भी कहती है—'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्ति—आत्मकारणात्—जब तक यह आदर्श देश में कार्य करता रहा तब तक पाँच प्राणियों के परिवार वाला एक गृहस्थ अपने घर में ७ आदमियों का भोजन तैयार करता रहा। उसे मालूम था कि कोई अतिथि आयेंगे उन्हें हम क्या खिलायेंगे ? यदि भोजन पर्याप्त मात्रा में न बनाया गया। इसलिए पहली और पिछली रोटी खाना गृहस्थ पाप समझता रहा।

भिक्षु की समस्या तो हमारे देश में कभी थी ही नहीं। यहाँ तो भिक्षु होना एक गौरव समझा जाता था। भगवान् बुद्ध, शंकर, रामदास और ऋषि दयानन्द हमारे देश के भिक्षु थे। जिन्होंने देश के प्रवाह को बदल दिया।

अतः अधिक अन्न उपजाओ के साथ योग्य मानव बनाओ का भी आन्दोलन करना चाहिए। बिना एक के दूसरे की पूर्ति नहीं होगी।

वेद के राजनैतिक सिद्धान्त

—दीनानाथ सिद्धान्तालंकार

राजनीति व राजधर्म

राजनीति शब्द से प्रायः चालू शासन सम्बन्धी विविध स्वरूपों और व्यवहारों को समझा जाता है। अंग्रेजी में जिसे "पालिटिक्स" कहा जाता है, हिन्दी में उसके लिए "राजनिति" शब्द प्रयुक्त होता है। पर, वैदिक दृष्टि से "राजनिति" शब्द का व्यवहार कहीं नहीं किया गया है। वैदिक वाङ्मय में इसके लिए "राजधर्म" शब्द है। इस लिए सत्यार्थ प्रकाश के छटे समुल्लास का प्रारम्भ महर्षि दयानन्द ने "अथ राजधर्मान् व्याख्या स्याम्:"—इन शब्दों के साथ किया है। चारों वर्णों और चारों आश्रमों का वर्णन करने के पश्चात् मनु महाराज कहते हैं —

राजधर्मान् प्रवंक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथातस्य सिद्धिश्च परमापथा॥

राजा किस प्रकार का व्यवहार करने वाला हो उस राजधर्म को अन्त में बताऊँगा ताकि उसका अवलम्बन करने से परमसिद्धिको प्राप्त कर सके। फिर भी 'राजनीति' शब्द का एकदम बहिष्कार नहीं किया जा सकता है क्योंकि अब इसका प्रयोग विस्तृत रूप से होता है "नीति" और "धर्म" में मूलतः कोई विशेष भेद नहीं है। 'नीति का अर्थ धूर्त्तता, चालाकी, धोखाबाजी छलकपट इत्यादि नहीं है जैसा कि प्रायः समझा जाता है। इसका वास्तविक

अर्थ तो "सरल और सीधे मार्ग की ओर ले जाने वाले व्यवहार" का नाम है। वेद के मंत्र "अग्ने नय सुपथाराये" में "नय" शब्द का वही अर्थ है जो "नीति" का है अर्थात् प्रभु हमें उन्नति के सरल और सीधे मार्ग की ओर ले चले। फलतः, राजनीति व राजधर्म वह मार्ग है जिसके अन्तर्गत धर्म के अनुसार अर्थ प्राप्ति, अर्थात् शुद्ध साधनों के व्यवहार से "काम" की उपलब्धि अर्थात्, शुभ इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति हो।

राजनीति नहीं, प्रजानीति

आज के युग में कुछ शब्द ऐसे हैं जो अत्यन्त तिरस्कार युक्त बन गये हैं। इन शब्दों का जब कभी प्रयोग किया जाता है, तब श्रोता के हृदय में, पूर्व संचित संस्कारों और आग्रहों के कारण, एक घृणा और उपेक्षा की प्रतिक्रिया होती है। ऐसे ही शब्दों में एक शब्द, आज के व्यहार में, "राजा" है। कहा जाता है कि "राजाओं का युग लद गया, अब प्रजा का युग है।" आधी सदी से विश्व में प्रजा के विप्लवों और विद्रोहों द्वारा "राजाओं" का निरन्तर, अन्त किया जा रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भारत में ही सैंकड़ों राजा थे पर अब उन्हें भी "प्रजा" की कक्षा में बैठा दिया गया है। इसलिए "राजधर्म" की अपेक्षा "प्रजा धर्म" और "राजनीति" की अपेक्षा "प्रजानीति" पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

राजा के कर्तव्य

पर वैदिक राजनीति का मूलभूत सिद्धान्त से सदा से ही यह है कि "राजा वही हो सकता है जो रक्षक हो"—"राजा कस्मात् प्रजा रंजनात्"। इस सम्बन्ध में वेद में अनेक मंत्र आते हैं। अथर्व वेद, द्वितीय कांड, सूक्त ५, मंत्र १, उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है—

इन्द्र जुषस्व प्रवहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चका नश्चसमंदाय॥

भावार्थ—हे राजन्! इस उत्कृष्ट राज्य के भार को तू अपने सामर्थ्यवान् कंधों पर उठा। हे वीर! उत्तम रथों के द्वारा युद्ध भूमि में शत्रु पर आक्रमण

कर। प्रजा रूपी अपने पुत्र के कल्याण के लिए तू हर्ष दायक ज्ञान को ग्रहण कर।

इसी प्रसंग में अथर्ववेद कांड ६, सूक्त ९८, मंत्र २ भी उल्लेखनीय है—

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युरुचं भूरभिभूति जनानाम्।
त्वं दैवी विश इमा वि राजा युष्मत्क्षमलयरंत अस्तु॥

भावार्थ—हे राजन्! सदा रहने वाले, राजाओं के राजा उस परमात्मा की कृपा से तू जनता का राजा बना है। तू दिव्य गुणयुक्त होता हुआ इन प्रजाओं का कल्याण करने वाला हो और उस प्रभू की कृपा से तू राजधर्म का पालन करने वाला हो। हमारा यह राष्ट्र नाश रहित हो। वेद के इस आदेश के आधार पर ही राजा के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में महाभारत शान्ति पर्व में भीष्म पितामह युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं—

सदानुरक्त प्रकृतिः प्रजा पालन तत्परः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्भूयसीं श्रियमश्नुते॥

मधु स्वभाव वाला, प्रजा पालन में तत्पर, स्वभाव में विनय—ऐसा राजा कल्याण को प्राप्त करता है।

दूसरा सिद्धांत—प्रजा की सहमति और सम्पति

वेदोक्त राजनीति का दूसरा सिद्धान्त यह है कि राजा प्रजा की सहमति और सम्पति से राज्य करे। "राजा" शब्द से प्रायः, यह समझा जाता है कि वह एक स्वेच्छाचारी निरंकुश और क्रूर व्यक्ति का नाम है। पर, वेद का "राजा" इससे सर्वथा विपरीत है। उसे आदेश दिया गया है कि वह जनता के मत से राज्य का संचालन करे और जनता का मत जानने के लिए प्रतिनिधियों की तीन सभाएँ स्थापित करे। ऋग्वेद मँडल ३, सूक्त ३८, मंत्र १६ में स्पष्ट कहा गया है।

त्रीणी राजाना विदथे पुरूणी परिविश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यना मनसा जगन्वान् बुते गन्धर्वां अपि वायु केशान्॥

भावार्थ—प्रजा के लिए विविध प्रकार के सुखों की व्याख्या करने के लिए सूर्य के सदृश प्रकाशयुक्त तीन सभाओं की स्थापना करे। प्रभू कहते

है कि ऐसी तीनों सभाओं से प्रजाओं का हित साधन होगा। इन सभाओं के सदस्य वही हो सकते हैं जो सत्याचरण के व्रत पालक, विज्ञानवान् और राजकीय व्यवहार में कुशल तथा सूर्य रश्मियों के तुल्य अपने गुणों से प्रकाशित हो। इन तीन सभाओं के नाम और कार्यक्षेत्र का स्वरूप इस प्रकार है—(१) आर्य राज सभा—जिस में राजकार्यों पर विशेष रूप से विचार किया जाए। भारत के आधुनिक संविधान के अनुसार इसका स्वरूप "लोक सभा" सदृश है। (२) "आर्य विद्यासभा"—जिसके द्वारा विविध प्रकार की विद्याओं का प्रचार हो। संयुक्तराष्ट्र संघ में इस समय "संयुक्तराष्ट्र शैक्षणिक-सामाजिक-साँस्कृतिक संगठन" (यूनेस्को) जो कार्य करता है लगभग वही स्वरूप इस "आर्य विद्यासभा" का है।

(३) "आर्य धर्मसभा"—जिसके द्वारा धर्म, नीति और सदाचार का प्रचार हो। जब तक देश में विधिवत् व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वहित सम्बन्धी कर्त्तव्यों और नीतियों का प्रचार नहीं होगा और प्रत्येक राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को सदाचारी बनाने का प्रयत्न न किया जाएगा, तब तक विश्व में कभी शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

तीसरा सिद्धान्त—राजा और तीन सभाओं के सम्बन्ध में

इन तीनों सभाओं और राजा—दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हों—इसका निर्देश वेद के इस मंत्र में दिया गया है:—

सभ्य समाँ मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥

अथर्व काण्ड १९ अनु० ७, मंत्र ६,

अर्थात्—इन सभाओं के निर्णयों का राजा और सभासद्—दोनों पूरी सचाई के साथ पालन करने वाला हो। राजा कहता है कि इस प्रकार आप मेरी रक्षा करने वाले होंगे। जिस राष्ट्र में राजा और सभासद् इन नियमों का पालन नहीं करते, वहां कितनी भयावह स्थिति पैदा हो जाती है—इसका उत्तर शतपथ ब्राह्मण में, एक प्रबल चेतावनी के रूप में, निम्न शब्दों में दिया गया है—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्याद्राष्ट्री विशं घातुकः।
विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति यस्माद्राष्ट्री विशमन्ति
न पुष्ट पशुं मन्यत ॥ इति ॥ काण्ड १३, प्र० २, बा० ३।

भावार्थ—अगर राजा और राजवर्ग प्रजा से स्वतंत्र हो, निरँकुश रूप में तानाशाहों की तरह व्यवहार करें तो राज्य में अंधाधुंध घुसकर प्रजा का नाश कर देंगे। इन सभाओं के बन्धन से हीन, मनमर्जी से शासन करने वाला उन्मत्त पशु के समान राष्ट्र का घातक होता है।

वैदिक राजनीति के इस तीसरे सिद्धान्त में और इन आर्य शब्दों में कितना गहन और अटल शब्द सन्निहित है। पिछली आधी सदी के दो प्रलयंकारी विश्वयुद्ध और उसके बाद भी अभी तक विश्व के किसी न किसी देश में चल रही लड़ाइयाँ, विद्रोह, विप्लव, क्रान्ति, उथल पुथल इत्यादि एक स्वर से उसी त्रिकालाबाधित सत्य की पुष्टि कर रही है जिसका निर्देश उपर्युक्त मंत्रों में किया गया है।

चौथा सिद्धान्त—मताधिकार किसको !

आज की राजनीति में लोकतंत्र (डैमोक्रेसी) का विशेष महत्त्व समझा जाता है पर यह पद्धति सर्वथा निर्दोष हो—ऐसी बात नहीं है। "एक व्यक्ति एक मत" (वन मैन, वन वोट) यह सिद्धान्त सुनने में तो बड़ा प्रिय लगता है पर व्यवहार में लाने पर कई उलझनें पैदा करता है। इस शासन पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह है कि जनता के नाम पर कुछ लोग मिल कर एक दल बना लेते हैं और येन केन प्रकारेण, बहुमत प्राप्त कर शासन सूत्र पर अधिकार कर लेते हैं। इस प्रकार दल-गत राजनीति का प्रादुर्भाव हो जाता है। हर दल में सब व्यक्ति धर्मात्मा, निःस्वार्थ देश सेवक और श्रेष्ठ पुरुष हों, ऐसी बात नहीं होती। इसके विपरीत देखा यह गया है कि कुछ स्वार्थी, धूर्त, चरित्रहीन व्यक्ति एक सुसंगठित दल के रूप में "प्रजातंत्र" के काम पर देश का शासन संभाल लेते हैं। वस्तुतः, यह एक प्रकार प्रच्छन्न रावणराज ही होता है। इसलिए, ब्रिटेन के प्रसिद्ध साहित्यक और विचारक बर्नार्डशा ने "डेमोक्रेसी" (लोकतंत्र) को "देमन क्रोसी" (राक्षसतंत्र)

का नाम दिया हैं। विश्व का सबसे पुराना और सर्वश्रेष्ठ लोकतंत्र राज्य ब्रिटेन को माना जाता है पर बनार्ड शाने एक बार ब्रिटेन की पार्लमेंट के सदस्यों का विश्लेषण करते हुए व्यंग्य किया था कि इनमें आधे से अधिक भ्रष्टाचारी दुराचारी, असभ्य और छिपे चोर-डाकू हैं।

एक विद्वान और हजार मूर्ख

वैदिक राजनीति के अनुसार शासन का आधार "एक व्यक्ति, एक मत" नहीं होना चाहिए किन्तु योग्य, बुद्धिमान्, विद्वान् और राष्ट्र सेवकों को ही मताधिकार हो और शासन सूत्र उन्हीं की प्रेरणा से हो। वेद कहता है :—

यत्रब्रह्म च क्षत्रंच सम्यञ्चौं चइरतः सह ॥
तं पुण्येंलोकं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना ॥

यजु २०।२५

जिस देश में विद्वान, ज्ञानी, ब्रह्मवित् और शूरवीर, बलवान्: तेजस्वी—दोनों प्रकार की शक्तियों वाले व्यक्ति मिलकर काम करते हैं, वही पुण्य देश है। इसका यह मतलब नहीं है कि वैश्य और शूद्रों की उपेक्षा की गयी है। वैश्य व्यापार वाणिज्य द्वारा और शृद्र सेवा द्वारा उपर्युक्त ब्रह्म शक्ति और क्षत्रशक्ति के नेतृत्व में काम करने वाले हों। इस सिद्धान्त को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाये—, इसका निर्देश मनुस्मृति में इस प्रकार दिया गया है :—

(१) ऋग्वेदविद्यर्गुविच्च सामवेदविदेव वा अवरा परिषज्ज्ञेया धर्म संशय निर्णये ॥

(२) एकोऽपि वेदविद् धर्मं में ध्यवस्येद् द्विजोत्तमः। स विरोयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

(३) अवृतानाममन्त्राणें जातिमात्रोपजीव नाम्। सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥

(४) यं वदति तपोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः। तत्पापं शतधाभूत्वा तद् वक्तृ न नुगच्छति ॥

अ० १२।१११-११५

जिस सभा में ऋग्, यजु, सामवेद जानने वाले तीन सभासद् होके व्यवस्था करें, उसका कोई उलंघन न करे। एक भी वेदविद्, द्विजों में उत्तम, श्रेष्ठ व्यक्ति जो व्यवस्था दे वही धर्म है, लाखों अज्ञानियों द्वारा कही गयी बात कभी नहीं माननी चाहिए। जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत, वेदविद्या व विचार से रहित केवल जाति अभिमान पर निर्भर करते हैं, ऐसे हजारों व्यक्तियों से भी मिलकर परिषद् नहीं बनती है। मूर्ख और धर्म के तत्त्व को न जानने वाले, अन्धकारयुक्त व्यक्ति जिस बात को कहें, वह सैंकड़ों के प्रभाव से पाप रूप होकर उन बोलने वालों के पीछे लग जाती है। इसी प्रकरण में मनुमहाराज कहते हैं कि इस सभा में कम से कम १० विद्वान् हों जो वेद, न्याय शास्त्र, निरुक्त, धर्म शास्त्र जानने वाले ब्रह्मचारी, गृहस्थी और वानप्रस्थी हों।

पाँचवाँ सिद्धान्त—विश्वशान्ति का एक मात्र उपाय—विश्व सरकार।

वैदिक धर्म की राजनीति में चक्रवर्ती और अखंड राज्य को ही पाया गया है। वेद में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिसमें यही प्रार्थना की गयी है। उदाहरण के लिए यजुर्वेद का निम्न मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है :—

इषे पिन्वस्व। अर्ने पिन्वस्व। ब्रह्मणोपिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व। द्यावा पृथ्वी भ्यां पिन्वस्व। धर्मासिसुधर्म। अमेन्यस्मे नृम्णानि धारयं, ब्रह्मधारय, क्षत्रंधारयं, विशंधारय॥ ३८।१४

आर्याभिविनय में इस ग्रन्थ का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—"हे महाराजाधिराज पर ब्रह्मन्, 'क्षत्राय" अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों।·········अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बना रहे।

वस्तुतः, विश्व शान्ति का एकमात्र उपाय एक विश्व सरकार (वर्ल्ड गवर्नमेंट) है। प्राचीन भारत में "अश्वमेध" आदि यज्ञ इसी लक्ष्य के प्रतीक थे। वेद का राजधर्म ऐसा है जिससे संसार में साम्य भावों का विस्तार होता है और विश्व के प्रत्येक चेतन प्राणियों को लाभ पहुँचता है। तब तक विश्व में खण्डित राज्य और विविध प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ रहेंगी, तब तक शान्ति की स्थापना कभी नहीं हो सकती। प्रथम विश्व युद्ध के बाद "लीग

श्राफ नेशन्स" श्रौर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद "संयुक्तराष्ट्र,सँघ" की स्थापना इसी दिशा में प्रयत्न हैं। यद्यपि वह एकदम श्रधूरे, श्रधकचरे पक्षपात पूर्ण श्रौर ईर्ष्या-द्वेषयुक्त हैं। श्राज विश्व में प्रमुख राजनीतिज्ञ श्रौर तत्त्व वेत्ता "एक विश्व सरकार" को ही इस युग के लगातार बढ़ रहे। पारस्परिक संघर्षों का श्रमोघ साधन बता रहे हैं। इस सन्दर्भ में ब्रिटेन के प्रमुख राजनीति विशारद श्रौर इतिहास वेत्ता श्री एच० जी० वेल्स के निम्न शब्द उनकी पुस्तक "Sulvaging of Civilisationukion (सभ्यता का उद्धार) के विशेष उल्लेखनीय हैं—"

"If man is to be saved from destruction there must be such a World Government, that should have might to supercede the British Artillery, to surpass the French Artillery and, Airforce superceding all navy and air forces. For many flags there must be one sovereign flag"

अर्थात्, यदि मनुष्य को विनाश से बचना है तो विश्व सरकार होनी चाहिए यह सरकार ऐसी हो जिसकी शक्ति ब्रिटेन श्रौर फ्राँस की सेनाश्रों से श्रधिक हो। उसकी वायु श्रौरजल शक्ति सब देशों से श्रधिक हो श्रौर कई राष्ट्रीय झंडों की जगह एक ही विश्व पताका हो।"

श्राज के विश्व में जहां प्रत्येक देश परमाणु शक्ति बढ़ाकर दूसरे देश की जनता को सदा के लिए भूमि पर सुला देने के लिए गुप्त प्रयत्न कर रहा हो, जहां एक एक इंच भू-खण्ड श्रौर एक-एक जल कण के लिए सैनिक मोर्चे बन रहे हों—एक विश्व सरकार की कल्पना शेख चिल्ली की तरह प्रतीत हो श्रौर पाश्चात्यों की दृष्टि में "यूरोपिया" (स्वप्न लोक) हो, पर हमें यह ऐतिहासिक सत्य कभी नहीं भूलना चाहिए कि संसार में मानव उद्धार का प्रत्येक श्रान्दोलन, श्रालोचकों के दृष्टि में, यूरोपिया (स्वप्न लोक) ही होता है। वस्तुतः विश्व शान्ति का उपाय एकमात्र वही है जो वेदों ने बताया है।

●

वैदिक विभूति

कविवर श्री पं० हरिशंकर शर्मा

है वैदिकता का गौरव परम पुरातन,
वैदिक शिक्षा अति पुण्य मयी-अति पावन।
ऋषि-मुनि वेदामृत-पान किया करते थे,
वेदों पर प्यारे प्राण दिया करते थे।
उस दिव्य ज्योति का ज्ञान-उजाला करिए-
वेदों की विमल विभूति विश्व में भरिए।

वर वेद पूज्य कल्याण त्राण-दाता हैं,
सदा ज्ञान-भानु प्रेरक पथ-निर्माता हैं,
जब तक वेदों की ज्योति जगी जीवन में
शुचिता-समता थी, ममता रही न मन में।
वेदों के लिये जिओ, वेदों पर मरिए–
वेदों की विमल विभूति विश्व में भरिए।

जो युक्ति, तर्क, दर्शन से शुद्ध हुआ है,
वैदिक का बल पाय प्रबुद्ध हुआ है,
जो नित्य सत्य सिद्धान्त रूप में भाया,
ज्ञानी-गुणियों ने धर्म्म–रूप अपनाया,
उसको जीवन में धार विनम्र विचरिए-
वेदों की बिमल विभूति विश्व में भरिए।

जो तत्व अभ्युदय निः श्रेयस् साधक है,
जो व्यष्टि-समष्टि परम प्रभु आराधक है,
जिसने 'मानव-मंगल' की ज्योति जगाई,
जो प्राणीमात्र के लिये परम सुखदाई,
वह श्रेयस्कर है, सदा उसे अनुसरिए,
वेदों की विमल विभूति विश्व में भरिए।

वेद विषयक पठनीय ग्रन्थ

(संग्रहकर्ता—प्रो० भवानीलाल 'भारतीय' एम०ए०)

●

ऋग्वेद—

१	ऋग्वेदालोचन	नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ	१९८५ वि०
२	ऋग्वेद पर व्याख्यान	भगवद्दत्त बी० ए०	
३	ऋग्वेद रहस्य	अलगूराय शास्त्री	घासीराम प्रकाशन विभाग
४	ऋग्वेद के दशम मण्डल पर पाश्चात्य विद्वानों का कुठाराघात	शिवपूजन सिंह कुशवाहा	रुद्र ग्रन्थमाला-६ २००७ वि०
५	वेद की इयत्ता	स्वामी स्वतंत्रानन्द	ज्ञानचन्द्र आर्य ट्रस्ट दिल्ली
६	ऋग्वेद की ऋक् संख्या	युधिष्ठिर मीमांसक	प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर
७	ऋग्वेद की कतिपय दान स्तुतियों पर विचार	"	" २००८ वि०

सामवेद—

१	सामवेद का स्वरूप	शिव पूजनसिंह कुशवाहा	रुद ग्रन्थमाला-२२. २०१२ वि०
२	सामवेद के क्षुद्र सूक्त	राजाराम	आर्य ग्रन्थावली, लाहौर

अथर्ववेद—

१	ब्रह्मवेद का रहस्य	प्रियरत्न आर्ष	प्रिय ग्रन्थमाला—२१
२	अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र	"	" —२४
३	अथर्ववेदीय मंत्र विद्या	"	गुरुकुल स्वाध्याय मंजरी-१३ १९८८ वि०
४	अथर्ववेद और जादूटोना	जयदेव शर्मा विद्यालंकार	महेश पुस्तकालय, अजमेर

५ अथर्ववेद की प्राचीनता शिवपूजन सिंह कुशवाहा रुद्र ग्रन्थमाला-१
६ अथर्ववेद का निघण्टु राजाराम आर्ष ग्रन्थावली
७ अथर्ववेदीय पंचपटलिका भगवद्दत्त बी० ए०

वेद संज्ञा विचार—

१ वेद निर्णयः यमुनादत्त शाहपुरा संस्कृत पत्र व्यवहार १९५६ वि०
२ 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्' इत्यत्र कश्चिद्भिनवो विचारः युधिष्ठिर मीमांसक प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान-७ २००९ वि०
३ वेद संज्ञा विमर्श सम्पादक विद्याधर दयानन्द कालेज, कानपुर।

वेदाधिकार विवेचन—

१ क्या वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको नहीं ? स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती
२ स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार धर्मदेव विद्या वाचस्पति
३. यज्ञोपवीत तथा वेद में स्त्री शूद्रों का अधिकार स्वामी मुनीश्वरानन्द

वैदिक इतिहास विवेचन—

१ वैदिक इतिहासार्थ निर्णय शिव शंकर शर्मा, काव्यतीर्थ
२ वेद में इतिहास नहीं प्रिय रत्न आर्ष आर्य साहित्य विभाग-१५
३ यास्कयुग की वेदार्थ शैलियाँ चमूपति एम० ए०
४ क्या वेद में इतिहास है ? जयदेव शर्मा विद्यालंकार आर्य साहित्य मण्डल-अजमेर २०१० वि०
५ वैदिक इतिहास विमर्श वैद्यनाथ शास्त्री ,,

वेद और विज्ञान—

१ वैदिक साहित्य और भौतिक विज्ञान ब्रह्मानन्द आयुर्वेद शिरोमणि आर्ष अनुसंधान-१
२ वैदिक विज्ञान शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ
३ वैज्ञानिक सिद्धान्त ,,
४ सूर्य सप्ताश्व वर्णन स्व० पं० गंगा प्रसाद जज

५	वेद और विज्ञानवाद	प्रेमचंद काव्यतीर्थ	साहित्य सदन, दिल्ली-१९४८ ई.
६	वेदों में शरीर विज्ञान और शल्य क्रिया	आत्माराम अमृतसरी	वैदिक विज्ञान ग्रन्थ-२
७	वेद विद्यायें	क्षेमकरण दास त्रिवेदी	(गुरुकुल कांगड़ी में व्याख्यान)
८	वेद में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियाँ	प्रियरत्न आर्ष	
९	वेदों में आयुर्वेद	रामगोपाल शास्त्री	
१०	वेदों में कृषि विद्या	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल औंध
११	वैदिक सर्प विद्या	"	आगम निबंध माला
१२	वेद में चर्खा	"	
१३	वैदिक अग्नि विद्या	"	
१४	वैदिक चिकित्सा	"	
१५	वेद विद्या निदर्शन	पं० भगवद्दत्त	
१६	वैदिक विज्ञान विमर्श	वैद्यनाथ शास्त्री	सार्वदेशिक सभा २०२० वि०
१७	वैदिक सूर्य विज्ञान	"	

वेदार्थ प्रक्रिया

१	वेदार्थ करने की विधि	चन्द्रमणि विद्यालंकार	गुरुकुल कांगड़ी-१९७३ वि.
२	वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त	ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	रामलाल कपूर ट्रस्ट
३	वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन	युधिष्ठिर मीमांसक	प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान २००९
४	वेद का अर्थ यज्ञपरक ही नहीं—	गोपाल शास्त्री	आर्यसमाज, अमरोहा

वेद विवेचन

१	वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १	भगवद्दत्त बी.ए.	(वेद की शाखायें) १९९१ वि०
२	" भाग १	"	संशोधित रा. क. ट्रस्ट २०१३
३	" भाग २	"	(ब्राह्मण ग्रन्थ) अनुसंधान विभाग, लाहौर
४	" भाग २	"	(वेद भाष्यकार) "

५	वैदिक सम्पत्ति	रघुनन्दन शर्मा	शूरजी वल्लभदास, बम्बई १९८७ वि.
६	वैदिक ज्योति	वैद्यनाथ शास्त्री	नासिक पंचवटी
७	वेदों का यथार्थ स्वरूप—	धर्मदेव विद्या वाचस्पति	गुरुकुल कांगड़ी २०१४ वि.
८	वेदों का महत्व	,,	श्रद्धा पुस्तक माला-२४ १९६२
९	वेद रहस्य	नारायण स्वामी	प्रेम पुस्तक भण्डार बरेली
१०	वेद विमर्श	वेदव्रत शास्त्री	गुरुकुल झज्झर २०१६ वि.
११	वेद विमर्श	प्रो० रामप्रकाश	आर्य युवक समाज, चण्डीगढ़
१२	वेदवाणी	बिहारीलाल शास्त्री	वाराणसी
१३	वैदिक स्वर मीमांसा	युधिष्ठिर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट
१४	वैदिक छंदो मीमांसा	,,	,,
१५	दुष्कृताय चरकाचार्यम्' पर विचार	,,	,,
१६	क्या वैदिक ऋषि मंत्र रचयिता थे ?	,,	,,
१७	वेद में असित शब्द	प्रिय रत्न आर्ष	त्रियु ग्रन्थमाला
१८	वेद में देवृकामा या देवकामा	,,	,, २५ १९९९
१९	ऋग्वेद में देवृकामा पाठ प्राचीन तथा देवकामा नूतन' इस पर विचार	लक्ष्मीशंकर मिश्र शास्त्री आर्यसमाज,	सुलतान बाजार, हैदराबाद १९९८ वि.
२०	पाश्चात्यों की दृष्टि में वेद ईश्वरीय ज्ञान	शिवपूजन सिंह कुशवाहा	रुद्र ग्रन्थमाला-१३
२१	वैदिक देवता रहस्य	,,	वेदप्रकाश माला-४१
२२	भारतीय इतिहास और वेद	,,	रुद्र ग्रन्थ माला
२३	त्रिदेव निर्णय	शिव शंकर शर्मा काव्यतीर्थ	
२४	चतुर्दश भुवन	,,	
२५	वसिष्ठन नन्दिनी	,,	
२६	वेदतत्व प्रकाश-३ भाग	,,	
२७	वेद परिचय	स्वामी वेदानन्द तीर्थ	गो. हाः
२८	वेदों की अन्तः साक्षी का महत्व	मदनमोहन विद्यासागर	प्रेममंदिर तेनाली २००८
२९	ईश्वरीय ज्ञान वेद	प्रो० बालकृष्ण	आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश १९७३ वि.

३०	वेदों पर अश्लीलता का व्यर्थ आक्षेप	डा. सत्यप्रकाश	कलाप्रेस: प्रयाग
३१	देवता विचार	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल (औंध)
३२	३३ देवताओं का परिचय	,,	देवता परिचय ग्रन्थ माला-२
३३	तर्क से वेद का अर्थ	,,	आगम निबंध माला-११
३४	अथ मरुत सूक्तम्	बुद्धदेव विद्यालंकार	गुरुदत्त भवन, लाहौर १९८८ वि.
३५	सोम	,,	,,
३६	सप्त सिंधु सूक्त	स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती	वर्णाश्रम संघ, प्रभाताश्रम १९६४
३७	हमारे अक्षयकोष-वेद	मुनीश्वर देव 'सिद्धान्त शिरोमणि'	
३८	वेद और मानव कल्याण	गंगाप्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस, प्रयाग
३९	वेदों की तादाद	सत्यदेव	
४०	वेदोपदेश	महात्मा हंसराज	
४१	वेद मर्यादा	म. म. आर्य मुनि	
४२	वेद मंत्रों के उपदेश	रघुनन्दन शर्मा	सार्वदेशिक प्रकाशन-२०१४ वि.
४३	वेद चतुष्टय	स्वामी रामेश्वरानन्द	गुरुकुल घरौंडा
४४	यम यमी सूक्त	चमूपति एम. ए.	
४५	,,	जयदेव शर्मा विद्यालंकार	
४६	देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वैदिक स्वरूप	धर्मदेव निरुक्ताचार्य	
४७	त्वाष्ट्री सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप	,,	
४८	अनुभ्रमोच्छेद	भीमसेन शर्मा	वैदिक यंत्रालय, अजमेर
४९	,,	,,	गो. हा.
५०	वेदों में क्या है ?	भवानीलाल 'भारतीय'	आर्यसमाज, जोधपुर।

English Books on Vedas.

1.	Vedic Antnology.	Bhumanand Saraswati	R, Kapoor Trust.
2.	Eclessia Divina	,,	
3.	Conception of God head in the Vedas	Young Men	A.S. Tract Society Lahore
4.	The Message of the Vedas	,,	

5. Dialogue between Yama and Yami Pt. Chamupati M.A.
6. Western Indologists; A Study in motives. P. Bhagvad Datta.
7. Extraordinary Scientific Knowledge in Vedic work. A.S. Diwan Hall.
8. Material Sciences in the Vedas-Pannalal Parihar Jodhpur.
9. Vedic Teachings and ideals. By ATMA. Vedic Ashram Begam Pet
10. Vedic Ideals. ,, ,,
11. Vedic Terminology Part I Pt. Guru Datt M.A Virjanand Press Lahore
12. Vedic Text No 1 ,, ,,
13. Vedic Text No. 2 ,, ,,
14. Vedic Text No. 3 ,, ,,
15. Terminology of the Vedas ,, S. P. Delhi
16. Vedas as interpreted by Sawami Dayanand–Star Press Allababad
17. Vedic Text No. 1 ,,
18. Vedic Text No. 2 ,,
19. Vedic Trinity ,,
20. The Vedic Trinity Vigyan Deepak. Ratan Singh Rathore, Delhi.
21. Sublimity of the Vedas. Mehta Jaimini.
22. The Glory of the Vedas. Dharm Deo Vidya Martand.
23. The Vedas; Holy Scriptures of the Aryas Ganga Prasad Upadhyaya
24. Devas in the Vedas. ,,
25. Nature of Vedic Shakhas. Dr. Sudhir Kumar Gupta. M.A Ph.d.
26. Ancient Schools of Vedic Inter pretation ,, ,,
27. Who wrote the Vedas ?

English Translations of the Veda.

1. Yajur Veda By Lala Devi Chand. M.A.
2. Sama Veda.
3. The Divine Book of work and worship By Swami Bhumand M.A.

(पृष्ठ ३२ से आगे)

राजाओं की परम्परा हुई, अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करने लगा.........

इक्ष्वाकु, आर्यावर्त का प्रथम राजा हुआ। इक्ष्वाकु की ब्रह्मा से छठी पीढ़ी है। पीढ़ी शब्द का अर्थ "बाप से बेटा" यही न समझें, किन्तु एक अधिकारी से अर्थ दूसरा अधिकारी, ऐसा जानें। पहिला अधिकारी स्वयम्भुव था। इक्ष्वाकु के समय में लोग अक्षर स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिल्कुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ २ बन्द होने लगी (थी) जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उसका नाम "देवनागरी" ऐसा है। कारण (यह कि) देव अर्थात् विद्वान् (इन का जो नगर, ऐसे विद्वान्) नागर लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का प्रचार प्रथम प्रारम्भ किया।" —पूना का व्याख्यान

वेदों का ज्ञान नित्य है

(१) जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं, इस प्रकार से पूर्व कल्प में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि ईश्वर की जो विद्या है, सो नित्य एक ही रस वनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इन में शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्त्तमान है, इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि, क्षय, और विपरीतता कभी नहीं होती, इस कारण से वेदों को नित्य स्वरूप ही मानना चाहिए।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

(२) "जब जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है, तब २ प्रजा के हित के लिए सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है, और जब जब सृष्टि का प्रलय होता है, तब तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिए।"

(३) "जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उसके लिए वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य है।" (शेष पृष्ठ २३४ पर)

क्या वेदों में इतिहास है ?

"ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत से ऋषि महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं, और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है। वह ग्रन्थ भी उसके जन्म के पश्चात् होता है। वेदों में किसी का इतिहास नहीं किन्तु विशेष जिस २ शब्द से विद्या का बोध होवे, उस २ शब्द का प्रयोग किया है, किसी मनुष्य संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं।"

—सत्यार्थ प्रकाश समु० ७

प्रत्येक मन्त्र के साथ "ऋषि" किस लिये लिखा होता है ?

"ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद मन्त्रों के अर्थों का प्रचार करने लगे, फिर उन में से जिस २ मन्त्र का अर्थ जिस २ ऋषि ने प्रकाशित किया, उस २ का नाम उसी २ मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है, इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े २ प्रयत्न के साथ वेद मन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान लोग वेद मन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।"

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका,

"जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि के नाम स्मरणार्थ लिखा आता है, जो कोई ऋषियों को मन्त्र-कर्त्ता बतलावे, उनको मिथ्यावादी समझें, वे तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक हैं।" —सत्यार्थ प्रकाश-७

—स० प्र० स० ७

ऋषि लोगों को वेदों के अर्थ किसने और कैसे बताए ?

"परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब २ जिस २

के अर्थ जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो (कर) परमेश्वर के स्वरूप में समाधि स्थित हुए, तब २ परमात्मा ने सभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जताये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ प्रकाश हुआ, तब ऋषि मुनियों ने इतिहास पूर्वक ग्रन्थ वनाये, उनका नाम "ब्राह्मण" अर्थात् ब्रह्म जो वेद (है) उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ।" —स० प्र० स० ७

ऋषियों ने वेद मन्त्रों का प्रकाश क्यों किया ?

"वेद प्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिए तथा जो लोग वेद शास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिए निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिनके सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञान पूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश करें।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

मन्त्रों का "देवता" क्या होता है ?

"जिन २ मन्त्रों में जिन २ पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, मन्त्रमय देवता जानने चाहिएं, अर्थात् जिस २ मन्त्र का जो अर्थ होता है, वही उसका "देवता" कहा है, सो यह इसलिए है कि जिससे मन्त्रों को देख के उनके अभि-प्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाय, इत्यादि प्रयोजन के लिए देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।" —ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका

वेद मन्त्रों के स्वरों का ज्ञान और उच्चारण किस प्रकार होता है ?

"ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एक श्रुति, आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण, तथा पिङ्गल सूत्र से छंदों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, जैसे "अग्निमीळे० यहाँ आकार के नीचे अनुदात्त का चिन्ह (ग्नि) उदात्त है, इसलिए उस पर चिन्ह नहीं लगाया गया है, (मी) के ऊपर स्वरित का चिन्ह है, (ळे) - प्रचय और एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना।" —ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, प्रतिज्ञा विषय

एक वेद क्यों नहीं ?

(१) "(इसके दो हेतु हैं, एक तो यह है कि) भिन्न २ विद्या जानने के लिए, अर्थात् जो तीन प्रकार की गान विद्या है (उसके जानने के लिए वेदों का विभाग किया गया है), एक तो यह कि उदात्त षड्जादि स्वरों का उच्चारण द्रुत, अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी मध्यम वृत्ति जैसा कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद स्वरों का उच्चारण द्रुत, अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी मध्यम वृत्ति जैसा कि यजुवेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है, तीसरी विलम्बित वृत्ति है, जिसमें प्रथम वृत्ति से तिगुना काल लगता है, जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में, फिर इन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है, परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है इसलिए वेदों के चार विभाग हुए हैं।"

—ऋग्वेद भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर विषय

(२) दूसरा हेतु यह है कि:—

"ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है, जिससे उनमें प्रीति बढ़ कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके, क्योंकि बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता और आरम्भ के विना यह मनुष्य जन्म व्यर्थ ही चला जाता है, इसलिए ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है। तथा यजुर्वेद में क्रिया काण्ड का विधान लिखा है, सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है, क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक २ विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है, जिन से लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले। क्योंकि जब तक कोई क्रिया विधि पूर्वक नहीं की जाय, तब तक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता इसलिए जैसा कुछ जानना वा कहना, वैसा ही करना भी चाहिए, तभी ज्ञान का फ़ल और ज्ञान की शोभा होती है। तथा यह भी जानना आवश्यक है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है, एक आत्माका और दूसरा शरीर का, अर्थात् विद्यादान से आत्मा और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का

उपकार होता है, इसलिए ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रिया काण्ड को पूर्ण रीति से जान लेवें।"

"तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है, इसलिए चार विभाग किये हैं।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर विषय

पहिला ऋग्, फिर यजुः, फिर साम, और फिर अथर्व इस प्रकार से चार वेद क्यों गिने जाते हैं ?

"जब तक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्यों को नहीं होता, तब पर्यन्त उनमें प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसके बिना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था इसलिए वेदों के चार विभाग किए हैं कि जिससे प्रवृत्ति हो सके। क्योंकि जैसे इस गुण-ज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है, वैसे ही पदार्थों के गुण ज्ञान के अनन्तर क्रिया रूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित सिद्ध हो सके। इस विद्या के जानने के लिए यजुर्वेद की गिनती दूसरी बार की है। ऐसे ही ज्ञान, कर्म और उपासना काण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहाँ तक होना चाहिए, इसका विधान सामवेद में लिखा है, इसलिए उनको तीसरा गिना है। ऐसे ही तीन वेदों में जो २ विद्या है, उन सब के शेष भाग की पूर्ति, विधान सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृति के लिए अथर्ववेद को चौथा गिना है। सो गुण-ज्ञान क्रिया-विज्ञान, इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जान लेना ? अर्थात् ज्ञान-काण्ड के लिए ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिए यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिए सामवेद और शेष अन्य शिक्षाओं के प्रकाश करने के लिए अथर्ववेद की, प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बाँधी है। क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज्, देव पूजा, सङ्गति करणदानेषु) (षोन्तकर्मणि) और (साम सान्व प्रयोगे) (अथर्व तिश्चरति कर्मा) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग, यजु, साम और अथर्व की यह चार संज्ञा रखी हैं। तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिए किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर विषय

वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल सूक्त, षट्क, काण्ड वर्ग दर्शति, त्रिक और अनुवाक् रखे हैं, यह किस लिए ?

"इनका विधान इसलिए है कि जिससे पठन पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता से जान ली जाय, तथा सब विद्याओं के पृथक् २ प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्या-व्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञान द्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्ति पूर्वक आकांक्षा योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिए अष्ट-कादि किए हैं।"

—ऋग्वदादि भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर विषय

मन्त्रों के साथ छन्द क्यों लिखा होता है ?

"जिस २ मन्त्रका जो २ छन्द है, सो भी उसके साथ इसलिए लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौनसा छन्द किस २ स्वर में गाना चाहिए, इस बात को जनाने के लिए उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं, जैसे गायत्री छन्द वाले मन्त्रों को षडज् स्वर में गाना चाहिए। ऐसे ही और २ भी बता दिए हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान विद्या में भी प्रवीण हों, इसलिए वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षडज् आदि स्वर लिखे जाते हैं।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर बिषय

भला कई २ मन्त्र चारों वेदों में क्यों आते हैं ?

"कहीं कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गान विद्या में गाया जावे। एक कारण तो यह है और दूसरा कारण यह भी है कि प्रकरण भेद से कुछ २ अर्थभेद भी होता है, इसलिए कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर बिषय

वेदों के मन्त्र कितने प्रकार के अर्थों को जनाते हैं ?

"वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्ष, अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म

अर्थात् ज्ञान गोचर आत्मा और परमात्मा को। उन में से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहने वाले "'जो' सो और वह" आदि शब्द हैं तथा उनकी क्रियाओं के अन्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों मध्यम पुरुष, अर्थात् तू, तुम आदि शब्द और उनकी क्रिया के असि भवसि, करोसि पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तम पुरुष अर्थात् 'मैं, हम" आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्याद क्रिया आती हैं। तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष, और स्तुति करने वाले प्रत्यक्ष हों, वहां भी मनुष्य पुरुष का प्रयोग होता है। यहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिए कि व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम, और उत्तम अपनी २ जगह होते हैं, अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं, सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और इससे यह भी जानना आवश्यक है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है। परन्तु इस नियम को नहीं जान कर सायणाचार्य अदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हीं के बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोप देशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो यह उनकी भूल है और इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिस का कि कहीं चिन्ह भी नहीं है।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर विषय

वेदार्थ करने में विशेष नियम कौन से हैं ?

"वेदादि शास्त्रों में जो २ शब्द पड़े जाते हैं, उन सब के बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पड़े हों, उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना, यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्र मूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो, उस विभक्ति का आश्रम करके अर्थ करना चाहिए क्योंकि वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिए होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक २ जान उनसे लाभ उठावें।

"वेदों में षष्टी विभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है लौकिक ग्रन्थों में नहीं।
—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिमा, प्रश्नोत्तर विषय

वेदार्थ करने में विशेष नियम क्यों हैं ?

"यह सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिए है कि शब्द सागर अथाह है। इसकी थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिस से शब्द सागर के पार पहुँच जाते, तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्म जन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता, इसलिए यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाये हो जाये।"

—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, प्रश्नोत्तर विषय

क्या वेदमन्त्रों के अनेक अर्थ हो सकते हैं ?

"इस आर्य्याभिविनय" ग्रन्थ में मुख्यता वेद मन्त्रों का परमेश्वर सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप से किया गया है, दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता इससे व्यवहार विद्या सम्बन्धी अर्थ नहीं किया गया, परन्तु वेद के भाष्य में यथावत् विस्तार पूर्वक परमार्थ और व्यवहारार्थ, यह दोनों अर्थ सप्रमाण किये जायेंगे ....और वेदों के का महत्व तथा वेदों का अन्नन्तार्थ जानने से मनुष्यों को महालाभ और वेदों में यथावत् प्रीति होगी।" —आर्य्याभिविनय भूमिका

वेद संस्कृत भाषा में क्यों प्रकाशित किये गये ?

"जो किसी देश भाषा में प्रकाशित करता, तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता क्यों जिस देश की भाषा में प्रकाशित करता, उनको सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने पढ़ाने की होती। इसलिए संस्कृति ही में प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं और वेद भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है, उसी में वेदों का प्रकाश किया।" —सत्यार्थ प्रकाश

●

The Vedas and Max Muller

Shri Sudhindra

It is said : "All is fair in love and war." We can safely add a rider and say that politics knows no scruples and since International Christianity is a totalitarian political creed she considers no means as foul or unfair to achieve her ends which is to force the entire world to go on its knees before her. With this object Christianity has adopted in the past, and will continue to adopt in future, many an innovation to uproot the Vedic Dharma of the Hindus. Her missionaries have impersonated as Hindu sanyasis ; *they have tried to implant a false Veda and one of their numbers, Max Muller, attempted, deliberately, to* misinterpret *the Vedas ! These acts, or rather misdeeds, can hardly be the doings of* saintly *hearts dedicated to the service of man whom God had created in His own image. Nor should they look forward to* salvation *because of this.*

SEARCH AFTER TRUTH ?

All that glitters is not gold. This statement of the wise applies to human materials as much as it does to the yellow metal. Often men conceal behind their soft exteriors hearts full of venom, desire for revenge and hatred and when the body hiding such a heart is of a person that has been introduced as a *savant* the capacity of the mind effectively to use the poison stored in the heart is increased manifold and to this the gullible fall an easy prey.

That Max Muller engaged himself willingly in the translation and interpretation of the Vedas with the explicit purpose of "uprooting" Hinduism is admitted by him in a letter addressed by him to his wife. A confession of guilt makes the crime or the sin no less reprehensible. He can claim some leniency, however, on one ground that he was not the first nor the last of those Christian missionaries who have tried their mortal hands at this hideous game of uprooting Hinduism and the Vedic Teachings. They have failed in the past and, we can be sure, they will continue to fail in the future as well and as successfully as before in their attempts because Hinduism is based on the Teachings of the Vedas which are eternally true.

Democracy, they say, loses all battles but the last. Likewise, Hinduism may lose some of the battles but it is sure to win ultimately, because 'in the end the Truth shall prevail.'—सत्यमेव जयते ।

—*Editor*

o o o o o

At one stage of human history the Romans had attempted, though unsuccessfully, to Romanise religion. Later when Christian political powers became militarily strong they planned to Christianise politics. Of the latter we find more than one examples in this country.

When on the fateful 23rd June 1757, Clive defeated the forces of Suraj-ud-Dowla at Plassy (Bengal) the British East India Company virtually took over political control of India. As a result the Company now needed more Englishmen to assist in the administration of this enormous empire.

A very large number of the Englishmen who came out to India were the products of Christian Church seminaries from where nearly all of them came out with one common conviction that the whole world must be baptised and made Christian. One such Englishman who came out to India in 1834 was Thomas Babington Macaulay on whom, later, a Lordship was conferred for the services he had rendered to the Church and the State.

What type of a man was this Macaulay is usually not sufficiently well known in this country. He was the son of Zachary Macaulay and the grandson of *Rev*. John Macaulay, a Presbyterian (one of the different sects of Christianity) minister at Inverary; Babington Macaulay's mother was Selina Mills, the daughter of a Quaker. Babington Macaulay was "*severely educated*" in the rigid Calvinism (Christian religious belief expounded by John Calvin, the French theologian—it was a rigid creed and the transgressors were severely punished—one, Servetus, was burned alive). Thomas Babington Macaulay is introduced to the world as a "historian, essayist and a politician" but to call him an historian would be a misnomer. In a cyclopaedia we read about him that "——in 1848 appeared the first two volumes of his History of England—this brilliant rhetorical exposition, although touched with *partisanship* and with a *tendency* to *paradox*, has attained the position of a classic." This need give us no surprise if we do not lose sight of the fact that in his childhood he had received severe Christian education. His young mind had gathered a bias which like any one else he too could not give up when he started writing. He believed, perhaps

honestly, that there is but only one true religion in the world and that is Christianity. We get a very clear glimpse of this attitude in one of his essays which he wrote in April 1839 when he was a mature man, 39 years old. In 'Education in India' he writes (*Historical Essays* by Lord Macaulay, pp. 387, 389);

> "The education of the people, conducted on those principles of *morality* which are common to *all forms of Christianity*, is highly valuable as a means of promoting the *main object* for which *Government* exists...There is assuredly no country where it is *more desirable* that *Christianity* should be *propagated*."

Macaulay had first come out to India in 1834 as the legal advisor to the Council of India and had stayed here for four years. In 1839 he was in England, was elected an MP and evidently wrote the above lines as a result of his experience and observation in this country during the four years of his stay. That Macaulay had a sharp intellect and a forceful pen no one denies. But it seems his rigid and severe education which he received as a Christian child stood all his lifetime in his way of becoming an impartial man and a scholar. He gave another proof of his bigoted religious zeal and partisanship when he successfully intervened for the introduction of English language. Arthur W. Jose is of the opinion (*The Growth of the Empire*, p. 204) that "by a resolution of March 7, 1835, the *brains* as well as the *swords* of all India were placed at the disposal of the (British) Indian Government." The object of the British Government, which was to try to make India a perpetual slave, appeared for a while to have been achieved but Macaulay had his eye on a far distant target. It was to convert India and the Hindus to Christianity. Only thus the political and cultural slavery of the Indians would be complete. This enemy of India and India's ancient culture and religion who has been paraded so often and so long as a *friend* of India unwittingly gave himself away when he wrote a letter, October 12, 1836, to his father. The letter reads (*The Life and Letters of Lord Macaulay* by Rt. Hon'ble Sir George Otto Trevelyan Bart, pp. 329, 330):

"Calcutta, October 12, 1836—My Dear Father...Our English *schools* are flourishing wonderfully—the effect of *this education* on the *Hindoos* is *prodigious*. No Hindoo who has received an English education, ever remains *sincerely* attached to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy, and some embrace Christianity. It is *my belief* that, if *our plans of education* are followed up, there will *not be* a single idolater among the respectable castes in Bengal *thirty years hence*. And this will be effected without any efforts to proselytise, without the smallest interference with *religious liberty* by natural operation of knowledge and *reflection*. I *heartily rejoice* in the *prospect*.—Ever yours most affectionately, T.B. Macaulay."

Letters reveal a man and this letter throws bare the ignominious mind and heart that this British Lord concealed behind the veneer and polish of English education. The docile and peace loving Hindu was told, as he is being briefed today, that English was the window to the world and that the English schools were opened to *spread education*. But this letter written by Macaulay to his father and which he would have very much wished to have been destroyed after having been received and read exposes Macaulay, who masqueraded as a Friend of India, as a bigoted Christian missionary. He rejoiced at the prospects of this land and its people becoming in the *next thirty years*, by 1866, Christians. He rejoiced, it appears, at the prospects of succeeding in his *plans of education* which aimed at slow but sure and complete destruction of the culture and faith of those of whom he feigned, professed and pretended to be *friend*. He was like a 'ravening wolf in the clothing of sheep' and that is why those who understand the role he played as a great enemy of India often exclaim in utter disgust that if *Parmatman* would save us from our such friends we would ourselves take care of our enemies !

In the holy Bible (New Testament, Luke IX : 62) we get this to read as reported to have been said by Jesus Christ: "No man, having put his hand to the plough, and looking back, is fit for the kingdom of God." Macaulay, who had been severely educated in his childhood, having once put his

mind, heart and muscles to the inglorious and irreligious job of *destroying* Hinduism did not want, like a true Christian, to look back. As a servant of God he was prepared to do all within his power to fit himself for the Kingdom of God. His *plans of education* included, without any doubt, additional plans of attack on Hinduism from different directions. His keen eyes were in search of someone who would prove handy and agree to become a tool in his hand to further his mission. He was in search of a scholar who could, and would, translate to twist and interpret (or rather misinterpret) Hindu Shastras to Macaulay's liking. Macaulay's eyes fell on Friedrich Max Muller (1823-1900) who was a German by birth. He picked him for his purpose.

At this point we shall allow ourselves a little diversion and explain another side-event which had gone a long way in the willful and planned misinterpretation of the Vedas in which Max Muller was to engage himself. One Col. Boden had founded at Oxford the Boden Chair of Sanskrit. That the intention and the purpose behind the founding of this chair of Sanskrit was only and exclusively to find ways and means to convert the Hindus to Christianity is very clear from Col. Boden's will that he made before his death. Writing the Preface of his Sanskrit-English Dictionery M. Monier Williams makes a mention of Col. Boden's will in these words : "I must draw attention to the fact that I am only the second occupant of the Boden Chair, and that its Founder, Colonel Boden, stated most *explicitly* in his *Will* (August 15, 1811 A.D.) that the *special object* of the munificent bequest was to promote the translation of Scriptures into Sanskrit so as to enable his countrymen to proceed in the *conversion of the natives of India* to the *Christian religion*." It was thus at *Oxford*, the much advertised seat of learning, that the conspiracy to kill Hindu culture and convert Hindus to Christianity was hatched. Macaulay was a product of this cell and to this cell had been attached in his fruitful years that scholar of Sanskrit whom we know today as Max Muller.

We have no ground to believe that Max Muller had originally himself wanted to *misinterpret* the Vedas. He was a man and a scholar of integrity and, perhaps like nearly all

scholars, a man *without* any means. The political conditions in Germany in those days were so unsettled that it must have imposed additional strains, mental and monetary, on Max Muller. So when Macaulay called Max Muller for discussions Max Muller saw in this interview a rare chance for continuing his scholarly researches which must have been extremely dear to his heart. This infamous interview (28th December, 1855) between Macaulay and Max Muller was the real undoing of Max Muller. In 1855, while Macaulay was an experienced worldly man of about 55 years, Max Muller was an immature youngman of 32. Against Macaulay who was a *politician* and, as the saying goes, who had already arrived, Max Muller was a scholar...a man of letters and thought...still struggling to make his mark in the difficult field of scholarship that he had chosen for himself. The youthful ambitions in his scholarly heart gave him many a painful pangs. The simple, inexperienced scholar in him was no match for the crafty *politician* that was Macaulay. From what Mux Muller said afterwards about this interview we can safely persume that Macaulay had put all his might, skill, craft and rhetoric to subdue, vanquish and win over the scholar Max Muller. Max Muller had to choose between a life of unrenown, squalor and want and in the end die unsung and unremembered and a life of fame and plentiful which Macaulay promised him. He knew and realised that in his acceptance of Macaulay's proposition lay hidden the chance of succeeding as a scholar and in the refusal the possibility of fading into oblivion. Macaulay had made up his mind either to win over Max Muller to his side or jettison him and render him completely innocuous. He was prepared to attack the young scholar with all his might and his job was made easy by the unpreparedness of Max Muller who was caught off balance. Without any doubt Macaulay used every means to confuse, confound and muddle Max Muller's independent thinking to prevent him from reaching, for himself, a sane, just and correct decision. To achieve this Macaulay very much used, and played upon, Max Muller's emotions to defeat him. He gave such heavy and alternate doses of 'fear' and 'hope' that under the well planned onslaught Max Muller's determination to resist gave way and he succumbed. "Fame is the thirst of youth" and "is the last infirmity of a noble mind." The *noble*

mind of *young* Max Muller fell a prey before the rosy prospects of fame held out before him by this British politician. Max Muller was now in Macaulay's bag.

In India we usually fail to appreciate fully the harm that Christiantiy has done to us by robbing us of our intellectuals and thinkers. By a calculated process she has always tried and attempted to siphon off to her side the intelligentsia of our society—the thinkers who can influence the masses. According to this Christian plan, concerted attempts were made in Calcutta to convert to Christianity Raja Ram Mohan Roy, the great Indian intellectual. Conscious of their failure to succeed in Raja Ram Mohan Roy's conversion the Rev. Deocar Schmid had written to the Secretary of the Church Missionary Society London on December 1, 1819 to say that "I know how much interest you take in what concerns Ram Mohan Roy. I cannot altogether be silent about him, altho' I have not any *joyful* news to report. His state of mind is still quite the same." Raja Ram Mohan had ultimately smashed all their hopes when he told these Christian Fathers : "I was born a Hindu and shall die a Hindu." Max Muller had very high regard for the teachings of the Vedas and had his thinking been not subverted by Macaulay he might have been one of the greatest supporters and exponents of the Vedic Truths. In his conversion we not only lost a possible *friend* but instead got a bigoted enemy. The loss was therefore doublefold.

We have ample evidence to prove to the hilt that Max Muller himself was unhappy over the decision he had taken. He was conscious of the wrong he had committed on the advice and instigation of Macaulay. After his interview with Macaulay on December 28, 1855 Max Muller had said with a heavy heart: "I went back to Oxford a sadder man and a wiser man." Sadder because as a scholar he had yielded to the politician ; because he had succumbed to the temptation of gold which, he knew, had undone many a scholar in the past. In the bargain thus struck between him and Macaulay he had agreed to prostitute his scholarship for a purpose in which, till then at least, he hardly had any faith. He had bartered away his pen and brain for the glittering gold *mohars*. He was sadder because it simultaneously announced the death of the free Max Muller in him and

the birth of the slave Max Muller. We (the Hindus) have in this country a very well known saying which is very dear to our hearts. According to this : "For the family sacrifice the individual ; for the community the family ; for the country the community and for the soul (*atma*) the whole world." According to a similar Christian saying : "What doth it profit a man if he gain the whole world and suffer the loss of his own soul." Max Muller was sad because he had faltered both as a true Christian and as a true Vedantist ; he had sold his *atma* (soul) to feed his *body*. He was a *wiser* man because he had now shed all his spiritually ideological thinking in order to live and lead a comfortable worldly life. As time passed, Max Muller grew, in this respect, wiser and yet more wise except perhaps during the last few years of his life when he might have been repenting. Man can be as great an hypocrite as he wishes to be but an intellectual can easily outdo, outstrip and outdistance an average man in this field and Max Muller was no exception. He was paid by the British East India Company for *misinterpreting* the Vedas and in all fairness to him it must be admitted that he did well and to his best ability the job that was assigned to him and for which he, his pen and his scholarship had been hired. In this respect he was a conscientiously honest man though the same cannot be said of him as a *scholar*. In India we often hear it said that it is extremely hard and difficult to be a *sadhu* (साधु) but any one might easily become a 'missionary' which at its best is a mercenary profession like many another. Max Muller had now turned a Christian missionary and he did what is usually expected of one. He bent all his energies, henceforth, in running down Hinduism just for the sake of running it down. He admits this in one of his letters written in 1866 A. D. to his wife. He says : "This edition of *mine* and the translation of the Veda will *hereafter* tell to a great extent on the *fate* of India—it is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of *uprooting* all that has sprung from it during the last three thousand years." *(Life and Letters of Frederick Max Muller)*. It is clear that the *uprooting* of the Hinduism was the only *mission* in which the scholar (?) and savant (?) Max Muller was engaged. In another letter he made a confession of his collusion in the theo-political conspiracy hatched and perfected by the British East India Combany to

wipe out Hinduism and supplant Christianity. Admitting this guilt, which in the present day we call by the new political name of 'subversion', Max Muller had written (December 16,1868 A.D.) to the Duke of Argyl, the then Minister for India : "*The ancient religion of India* is doomed and if *Christianity* does not step in, *whose* fault will it be ?"

That the ancient Hindu religion of India was doomed was the verdict of Max Muller and since time has proved this prophecy to be utterly false its prophet must now be turning most uneasily in his grave. When Max Muller made this prophecy the post of the British Prime Minister was held by Viscount Henry John Temple Palmerston, better known as Lord Palmerston. At the resignation of Lord Aberdeen, he became the British Prime Minister in the year 1855—the same year in which Max Muller had his infamous interview with Macaulay. Palmerston was a product of another Christian seminary—St. John's College—and was a *Christian* like Macaulay. He lent full support to Macaulay in his *mission* and himself was of the opinion that *it was not only the duty of Britain but also in her ultimate interest that Christianity should be propagated in India.* During the years 1859-1866 Lord Halifax (Sir Charles Wood) was the Secretary for India and this policy of propagating Christianity in India received his support too as according to him *each and every Christian was a link in the chain and a source of strength to the British Commonwealth.* With so many powerful supporters around him Max Muller was overawed and found the climate and environments very suitable for the furtherance of his ignominious *mission* on which Macaulay had launched him.

Macaulay had planned a multi-pronged attack on Hinduism. From one side Christianity was to be introduced to the Hindu through the medium of Sanskrit and from another Hinduism was to be misrepresented to him through the medium of English. It was therefore thought necessary, officially and unofficially, to decry *all other translations and interpretations* of the Vedas and commend, uphold, prize, laud, applaud, eulogise and recognise the one and the only one translation by Max Muller which on purpose *misinterpreted* the Vedic teachings.

This was a part of the *plans of education* or rather miseducaton clandestinely thought out by Macaulay to subvert and

pervert the Hindu mind and create in it doubts and misgivings about Hinduism. That the purpose was to shut out from the Hindus any interpretation of the Vedas by a *Hindu* is clear from more than one vituperations of Max Muller. In one instance, while reviewing the *La Bible dans L'Inde* Max Muller wrote that "the author seems to have been taken in by the *Brahmins* in India."

Here, has not Max Muller given himself away ? His distrust and mistrust of the Brahmins is symptomatic. He knew it too well that Brahmins as a class were devoted to the reading and the teaching of the Vedas and their (the Brahmins') interpretation of the Vedas was *likely* to differ from his. He also realised that there would surely be some voices raised in protest, and of dissent. As a clever strategist, therefore, he planned to run down *Brahmins* and *their teachings*. He had made up his mind to disparage and slight all others who differed from *his mis*-interpretation. His above quoted review was written to reprove, rebuke and censure Louis Jacolliot, the French scholar, who was the author of *La Bible dans L'Inde* because in his book he had glorified India by calling her "the Cradle of Humanity and land of love."

The big idea of an universal Christianity had not only been successfully sold to Max Muller but he had also become himself its zealous vendor and a hawker. He had now reached a mental stage where nearly every Christian missionary not only accepts himself but tries to enforce on others the belief that there is but only one true religion in this world and that is Christianity.. He reacted impolitely, and often haughtily, towards those who ever opened their mouth, or wrote, to question or even slightly doubt anything that the Bible contained. When another German scholar Dr. Spiegel expressed his opinion that the Biblical theory of the creation of the universe was borrowed from outside, Max Muller retorted, as if stung by a wasp, to say: "A writer Like Dr. Spiegel *should* know that he can *expect* no *mercy;* nay, he should *himself* wish for no mercy, but invite the *heaviest artillery* against the *floating battery* which he has launched in the troubled waters of Biblical *criticism." (Chips from a German Workshop* by Max Muller, 147). Max Muller was being true to his salt and when he said that Dr. Spiegel should expect

no mercy for his criticism of the Bible he perhaps implied as much that he should expect, like him, no *money* either.

That Max Muller was consistent in his antics is evident from another letter (in 1897 A.D.) which he wrote to Shri B.V. Kamesvara Aiyar who had translated in English Sandhya-vandana and Purushasukta. Decrying Kamesvara Aiyar's efforts in low tones Max Muller wrote to him : "I think you are sometimes *unfair* to *western* scholars. Sayana himself offers one or more interpretations of a *rik;* why should not *western* scholars be allowed the same privilege ?" Commenting on this letter of Max Muller Shri Kamesvara Aiyar says in his foreword that "If I have here and there appeared to *speak* lightly of the work of western scholars it is not because I *think* lightly of their work but because I feel sad that...they appear to me to have failed to grasp the spirit of the Vedic teaching."

Max Muller accepted that there could possibly be "one or more interpretations of a *rik*" but stubbornly chooses and sticks only to *his* own interpretation presumably because it serves his nefarious purpose best. It is only religious bigotry that prevents him from accepting the possibility that *his* interpretation might be *wrong* and the other man's *correct*. He seems to have gradually and completely lost the power to think independently. Of this he gave another proof when he wrote a letter to his son. He said : "Would you say that *any one sacred book is* superior to *all* others in the *world ?* It may sound *prejudiced* but taking in all I say, the New Testament." When we consider what some other people think of, and have said about, the New Testament and its teachings the statement made by Max Muller looks like the one made by a child who does not mind uttering untruth for a handful of sweets. There can be no doubt that he knew the world shall not believe his word because, as he feared, *his* statement *was* highly prejudiced. As he wanted to boost himself and his interpretation of the Vedas Max Muller did not like any other interpretation (of the Vedas) to get into the hands of the Hindus. If this happened, he was mortally afraid, the other interpretation might explode the myth of his scholarship built up deceiptfully and cunningly on stilts provided by Macaulay and the British East India Company. That is why Max Muller relentlessly criticised and censured the translation

of the Vedas done by Swami Dayanand. In his letter (January 29, 1882) addressed to Byramjee Malabaree he advised the Indians to be careful and keep away from those interpretations of the Vedas which like the one by Daya Nand Saraswati "over value" their teachings. Max Muller was a past master in the art of running down his rivals and contemporaries. He chose the medium, time and the occasion carefully whenever he wanted to decry any of them. We get a glimpse of the masterly touch in his letter to Byramjee Malabaree. He said, "I wanted to tell those *few at least* whom I might hope to reach in *English*, what the *true* historical value of this *ancient religion* is, as looked upon, not from an exclusively European or Christian, but from a historical point of view. I *wished* to *warn* against two dangers, that of undervaluing and despairing the ancient national religion, as is often done by your half-Europeanised youths, and that of *overvaluing* and interpreting it as it was *never meant to be interpreted* of which you may see a painful source in Daya Nand Saraswati's *labour* on the Vedas." With other odious failings Max Muller combined in him, in good measure, presumptuousness of a religious fanatic. He thought that the Vedas were *meant to be interpreted* in the way he had done and also that the way they should be interpreted was to be exclusively decided by *him*. He presumed that he knew more about, and of, the Vedas than the Hindus who grow with them and under their teachings and that he was the only authority to interpret them. This is akin to something tike saying that a Jew is more competent to interpret the Qoran and Muslim the Old Testament ; that a physicist is more competent than a horticulturist to explain the way different fruits grow. Max Muller indulged too heavily and too often in the abuse ef self-publicity and thought that he was always to have the last word.

What was really wrong with Max Muller is not easy to state with much accuracy. We can nevertheless make some sincere efforts to guess it as best we can. The lofty teachings of the Vedas had tickled his imagination, in the earliest stages of his studies, to an extent that he found it difficult to contain himself. He was young and as Byron said, "fame is the thirst of youth." Max Muller wished to be *famous* and when Macaulay called him into his presence and explained his *scheme* Max Muller

at once recognised his opportunity. Like Thomas Moore "who woke one morning and found himself famous", Max Muller found fame within his easy grasp when he met Macaulay. "I am not covetous of gold ; but if it be a sin to covet *honour*, I am the most offending soul alive." so said the great Shakespeare. When Max Muller saw the possibility of getting *gold* and *honour* both he found the temptation too great to resist. He fell a prey to *the* sin and agreed to do what Macaulay wanted of him, viz., engage in *willful misinterpretation* of the Vedas of the Hindus with the explicit purpose and aim of *uprooting* Hinduism. "Some are born great, some achieve greatness, and some have greatness thrust upon them" and greatness was virtually thrust upon Max Muller by Macaulay who could have as easily *picked up another* person as well to do this ignominious task. It is not hard to imagine that Macaulay must have pointed out *this* possibility to Max Muller and used it to overcome his resistance. When all is said it has to be admitted, however, that unless Max Muller had that grain in him Macaulay would have not been successful in making him agree to undertake the odious and soul killing job. "In Fame's temple", in the words of Zimmerman, "there is always a niche to be found for rich dunces, *importunate* scoundrels, or successful *butchers* of the *human race*" and in search of fame, and gone blind and mad after it, Max Muller undertook the job, and pledged to do it well, of butchering the culture of the Hindus and uproot their *Dharma*—the task in which he engaged himself thereafter laboriously, systematically and also sincerely.

Why did Macaulay pick up only Max Muller for doing the abominable and the hideous job and not another European scholar ? Was Max Muller then the only European who called himself, or pretended to be, a Sanskritist ? We shall endeavour to answer both questions. It is ordinary common sence that for any important mission or project to succeed it is absolutely necessary to have a *right* person for each right job. Only dirty souls will stoop sufficiently low to do an equally dirty job. An astute politician like Macaulay would not pick up a wrong person and risk his entire scheme. Then, for his project he would pick up only a man who would agree to be hired to become a *killer* of Hinduism. Macaulay must have made careful and

secret enquiries concerning the suitability of Max Muller, his temperament and his inclinations and found him 'fit' for the job. Macaulay had planned to annihilate, or rather inject poison into the veins of, Hinduism. He was on the lookout for an assassin. As a true 'fisher of men' he had thrown his net wide and ultimately *caught* Max Muller. There were several other Europeans who had *equal* knowledge of Sanskrit and dabbled in the study and the interpretation of the Hindu Scriptures. However, as honest men and scholars of integrity they owned and accepted, unlike the presumptuous Max Muller, their shortcomings. To illustrate the point we shall here quote what Schopenhauer, another great German scholar, thought of the knowledge of, and the proficiency in, Sanskrit of European scholars : "I add to this the impression which the *translation* of Sanskrita words by *European scholars*, with very few exceptions, produce on my mind. I cannot resist a certain suspician that *our* Sanskrita scholars do *not* understand their text better than the higher class *school boys* their Greek or Latin." We shall also add here the opinion of Swami Daya Nand. It reads, "The impression that the Germans are the best Sanskrit scholars, and that no one has read so much of Sanskrit as Professor Max Muller, is *altogether unfounded*. Yes, in a land where lofty trees never grow, even *ricinus communis* or the castor oil plant may be called an oak. The study of Sanskrit being altogether out of question in Europe, the Germans *and* Max Muller may there have come to be *regarded* as highest authorities." A self-conceited man that was Max Muller he could not ignore or forgive this forthright criticism of his talents and scholarly abilities and so he did his best to advise people to keep away from translations of the type made by Daya Nand Saraswati. Here is another opinion of a great Sanskrit scholar (Guru Datt Vidyarthi) concerning these European Sanskritists and Max Muller : "For, if the Vedic philosophy be true, the interpretation of the Vedas, as given at present by Professor Max Muller and other European scholars, must not only be regarded as defective and incomplete, but as *altogether false*." All these opinions were snuffed out by heavy publicity and the official recognition, which clandestinely supported whatever distorted and falsified versions of the Vedas emanated from the pen which Macaulay had pushed into Max Muller's fingeres. ***Patronised by the State (British Government) a***

quack Sanskritist was insidiously hoisted up as the greatest scholar of this language and to complete the job of uprooting Hinduism his spurious and altogether false interpretations of the Vedas were made the subject of study in Indian schools and colleges to the exclusion of all others.

Schopenhauer once said that "In India our religion (Bible) will now and never strike root; the primitive wisdom of the human race will never be pushed aside by the events of Galilee. On the contrary, Indian Wisdom will flow back upon Europe, and produce a thorough change in our knowledge and thinking." All this proved to be a bitter dose for the Christian Max Muller who reacted in the only manner that can be expected of a religious bigot. He said: "Here again the *great* philosopher seems to me to have *allowed* himself to be carried away *too far* by his enthusiasm for the *less known*. He is blind to the *dark side of the Upnishads* and he willfully shuts his eyes against the *bright rays* of *eternal truths* in the (Christian) *Gospel*, which *even* Ram Mohan Rai was quick enough to perceive behind the mist and clouds of tradition that gather so quickly round the sunrise of every religion." Max Muller had preconceived notions and ideas engrafted on his mind in favour of Christianity and against Hinduism. He not only saw, as a result, only defects in Upnishads where they did not exist but also wanted every one else to accept *his* versions.

That Max Muller was an enemy of Hinduism in the shining garb of a friend cannot be doubted any more. That he was also a Christian missionary like many others is a fact which we in this country often fail to recognise though he was not the first Christian missionary to attack Hinduism from behind carefully concealed identity. Before Max Muller there was one Robert de Nobili (1577-1656) who was an Italian Jesuit (a sect of Roman Catholics, a member of the Society of Jesus founded by Ignatius Loyala in 1533 and with which St. Xavier was connected) and who came to India in 1605. We get this description of this Nobili in Stephen Neill's *A History of Christian Missions* (pp. 183, 184, 185): "To win the Indians he would *become* an *Indian*, and abandoned everything that could offend, such as the eating of meat and the wearing of leather shoes. He adopted the Ochre *(Kavi)* robe of the *holy* man, and as far as could he

converted himself into a *sannyasi guru*. He mastered calssical Tamil. To this he was later to add Telugu and Sanskrit; he was, it is believed, the first European ever to study the ancient classical languages of India. The *secret* could not be indefinitely kept. A Parava Christian told some of the converts that Nobili was really a Parangi (*Farangi*). In order to defend himself he wrote a declaration in Tamil on *Olais*, the strips of palm-leaf locally used in place of paper and had it nailed to a tree in front of his house : I am *not* a Parangi, I was not born in the land *of* Parangis *nor* was I ever connected with their race." This description of Nobili says that to win the Indians he would become an *Indian* but not a *Hindu*. The distinction is clever indeed and is intended to cover his impersonation. In another book (*Introduction to the Science of Language* by A.H. Sayce, Vol I, pp. 43, 44) this point is more than made clear by the author who affirms that Nobili transformed himself into a *Brahman*, learnt Tamil, Telugu, and Sanskrit, adopted the cord (sacred thread), marks, garb, diet and submitted to caste. A man like Nobili who was nothing but an impostor was decribed by the "celebrated philologist Max Muller" as "*our* first Sanskrit scholar". Birds of the same flock fly together and as a Christian missionary Max Muller could not have but praised Nobili, another Christian missionary, and what he had done. Both had engaged themselves in a *covert* attack with the fixed purpose of destroying and uprooting Hidnuism. Both had a common objective ; only the means and the methods and mediums each chose for himself differed and this was done only to avoid being detected which usually happens when an old method is utilised the second time for the purpose of *subverting from within*.

Max Muller did not hesitate, whenever he got a chance, to praise, exalt and extol to the sky Christianity and its virtues. He often overdid it to an extent that immediately he gave himself away. By siding persistently on the side of Christianity, day in and day out, he securely laid the foundation for a solid charge against his sense of impartiality, scholarly integrity and truthfulness. However hard his supporters and admirers might try, their protestations cannot and shall not ever absolve him of the accusation that he suffered incurably from partisanship which he exercised in favour of Christianity. Here is what he once said :

"History seems to teach that the *whole human race* required a gradual education, *before*, in the fulness of times, it could be admitted to the *truths of Christianity*—that religion, the religion of Buddha, was spread far beyond the limits of the Aryan world and, to our limited vision, it may seem to have *retarded* the advent of *Christianity* among a *large portion* of the human race. But in the sight of Him with whom a thousand years are but as one day, that religion, like all the ancient religions of the world, may have but served to prepare the way of Christ by helping through its very *errors*, to strengthen and deepen the *ineradicable yearning* of the human heart after the truths of God."

Max Muller was a Christian Missionary and as one he not only sang songs in its praise, he also *solicited* and made efforts to *secure converts* to *his* religion. We shall quote one of his letters in extenso to show that he was always ready to prompt, persuade and encourage people to embrace Christian *faith*. Addressing N.K. Majumdar, a Brahm Samajist, he wrote in 1899 : "You know, for many years I have *watched* your efforts to *purify* the *popular religion* of India and thereby to bring it *near* to the *purity and perfection of other religions, particularly of Christianity*. The first thing you have to do is to settle how much of your ancient religion you are willing to *give up*, if not all, as *utterly false*, still as antiquated. You have given up a great deal—polytheism, idolatry and your elaborate sacrificial worship. Take then the *New Testament* and *read* it for yourself, and judge for yourself whether the *words of Christ* as contained in it satisfy you or not. *Christ* comes to you as he comes to *us* in the *only trustworthy* records preserved of him in the Gospels. We have *not even the right to consider* how differently we interpret them overselves. If you accept *his teachings as they are recorded*, *you are a Christian*. Tell me some of your chief difficulties that *prevent* you and *your countrymen* from openly *following Christ*, and when I write to you I shall *do my best* to explain *how I and many who agree with me have* met them and solved them. From *my point of view*, *India, atleast the best part of it*, *is already converted to Christianity*. You want no persuasion to become a follower of Christ, then *make up your mind* to work for yourselves. The *bridge has been built for you by those who came before you*. Step boldly forward, it will not

break under you and you will find many *friends to welcome you on the other shore and among them none* more will be delighted than your *old friend and fellow labourer* F. Max Muller."

According to Max Muller Christ comes in the "only trustworthy records preserved of Him in the Gospels" and the "bridge has been built" and there will be "many friends to welcome" on the other shore any one who became a Christian. Does all this not smack of monomania and religious zealotry? This writing which emanated from the pen of the so-called celebrated Max Muller looks like an excerpt taken from some cheap and commonplace Christian tract issued for free distribution in some mission land. This Christian missionary whom the British Imperialism and the Christian Church extolled as *Professor* Max Muller, thought that the ancient Hindu religion was *false* and Christianity was nothing but truth and that the former needed to be *purified*. Max Muller indulged in dubious writing and knew how afterwards to twist it to his own advantage. Sometimes he brought in other people's names to impress the reader, play upon his emotions or to soften the opposition. In his reply to Schopenhauer he had referred to Raja Ram Mohan Roy in these words : "He is *blind* to the dark side of the Upnishads and he willfully shuts his eyes against the bright rays of eternal truths in the Gospel, which *even Ram Mohan Rai* was quick enough to perceive—." The only purpose here of dragging in the name of Raja Ram Mohan Roy is to impress the Hindus and tell them an untruth which on the strength alone of Max Muller's statement they would reject as a lie. Raja Ram Mohan Roy was a far greater intellectual than the partisan Christian missionary who thus made use of his name. Ram Mohan Roy was an honest and straightforward man who loved and worshipped truth. He wrote several tracts and books during his life time. He wrote against the *Satee* custom and the Chrisitan Church applauded him when he wrote against idol worships. As is usually the case, the Christian Church tried hard to twist Raja Ram Mohan's writings to her advantage and present the whole thing as if influenced by the Christian Church and as if Raja Ram Mohan Roy had *turned* a Christian. This is an old tactic which Christianity has employed, often with success, to alienate a Hindu from the Hindu society. At this time efforts were

being made actually to convert Raja Ram Mohan Roy to Christianity. The Christian missionaries and Fathers pestered him so much that they nearly got on his nerves, especially because they tried to impose Christiantity on him and the people from the back door. As a result, Raja Ram Mohan Roy decided to write his *The Precepts of Jesus* which, when it appeared, made those Christian missionaries very angry and annoyed. According to one Christian writer, Stephen N. Hay, the Assistant Professor of History, the University of Chicago : "Then, in January, 1820, he (Raja Ram Mohan Roy) published *The Precepts of Jesus* which *immediately* aroused the *ire* of the *missionaries, both* in Calcutta and at Serampore. As early as February, 1820, *The Friend of India* (This was the newspaper which was first established by Christian missionaries and which later became *The Statesman*, now publisned from Calcutta and New Delhi. The Statesman proudly used to announce its direct descent from the *Friend of India*.) published an anonymous article 'Some Remarks on Publication', entitled 'The Precepts of Jesus'. This was the review which Deocer Schmid acknowledged *privately* was *his* and Joshua Marshman's work." From the foregoing we can easily understand how mischievously and wrongly did Max Muller use, and bring in, the name of Raja Ram Mohan Roy to gain a hearing.

When Max Muller was introduced as a *Sanskrit* scholar, a savant and a Hindu *Rishi* born in Germany, many people in this country were easily taken in by this Christian propaganda. Luckily, and as it always happens, the Truth has now gradually started dawning on the gullible Hindu. He knows now for certain that Max Muller was only a Christian missionary and was no better or worse than another though he excelled nearly all others in one respect, viz., he chose for himself a highly sophisticated weapon with which to annihilate Hinduism and which he weilded with dexterity. This truth that he was a Christian missionary is not now hidden from the world. His friends have admitted it to the great chagrin and embarrassment of International Christianity. To quote one here. Rev. Edward Bonverie Pusey D.D., who was educated at Christ Church, Oxford, and was Max Muller's friend, wrote to him saying :

"*Your work* will form a *new era* in the efforts for the

conversion of India, and *Oxford* will have reason to be thankful for that ; by giving you a home, it will have *facilitated* a work of such *primary and lasting importance* for the conversion of India."

The cat is out of the bag and we can be sure no one shall be able again to put it back. How far Macaulay and Max Muller were able to harm and damage, and how much of this damage is irreparable, of it only time and posterity will be the judges. There is no doubt, however, that *both* strived hard and planned meticulously to murder Hindu culture and *Dharma*. But as no one can bring about a perfect murder they too failed in their irreligiously ignominious and despicably opprobrious intentions. While Macaulay, who was first and last a *politician*, could have some valid excuse for engaging himself in this heinous pursuit, there is none to absolve Max Muller, who pretended himself to be a *scholar*, of the shameful charge of complicity and collusion in this gigantic theo-political plot.

[*Author's Italics. Copyright reserved.*]

तदेवाग्निस्तदादित्यः तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म, ता आपः स प्रजापतिः ।।२।।

यजु० ३२–१

He is Agni, He is Aditya, He is Vayu and He is Chandrama. He is Shukra, He is Brahman, He is Ap and He is Prajapati.

वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है. वही अप् (सर्वव्यापक) है और वही प्रजापति है ।

The Vedas and the Bible

—— Brahm Datt Bharti

Christianity has been the loudest in condemning Polytheism while herself supporting the Christian brand of the cult of the plurality of Gods under the very bemusing TRIDEISM. The Christians need only to be told that they knoweth not what they are doing. Christianity needs hardly to be reminded of the advice that Jesus Christ is reported to have given in His Sermon on the Mount : "Why beholdest thou the mote that is in thy brother's eye, but considerest not the beam that is in thine own eye ?"



VEDIC MONOTHEISM AND CHRISTIAN POLYTHEISM

Hardly any one seems to have created so much confusion, and successfully too, around monotheism as has been done by the Christian advocates of the theory of *three* Gods in *three* Godheads represented by God the Father, God the Son (Christ) and God the Holy Ghost (Spirit). According to them the worship of these three (they mean *these* three alone and no *other* threes or twos) is monotheism although the worship of any others, even of two, would be nothing but pagan polytheism. To confuse the mind still more they further assert that this is a mystery and that three *is* one is to be accepted on *faith*. But didn't the ancestors believe too in mysteries and accepted them and so many other isms on faith alone? To this we can have but only one answer: There is difference between a faith and the Imperial Faith.

Putting words in other people's mouth was an art which has now been developed in the West into a modern science. In the theological field none does it with greater impunity than Christianity. While she accuses Hinduism and the Vedas of Polytheism and Henotheism she refuses, merrily, to accept, though she accepts it otherwise obliquely and every day, that she believes in, and practises the cult of, *three* Gods which cult Shri Bharti very rightly calls by the name of TRIDEISM. Christianity fails to notice the beam in her eye but she points out her accusing finger to the mole in the eyes of others. How she tries to do this, on this ample and fresh light is thrown here by Shri Brahm Datt Bharti in this article. —*Editor*

o o o o o

Whenever *young* Hindu boys and girls go to England or the United States of America for studies they usually share a common experience. Sooner or later they are invited (this happens more readily in the States than elsewhere) to an evening (Christian) church meeting where *nearly always* an elderly, fatherly looking person puts a question to the young Hindu student, though the person putting the question takes due and predetermined precaution to look and appear as agreeable as possible according to the exigencies of each case. The qustion that is *always* asked is : "What do you think of the Vedas ?" The purpose hidden behind this question is manifold and the enquirer is more than assured in his mind of the inability of an average *young mind*, whether Indian or British, whether Hindu or Christian, to answer a question of this type. Yet the elderly, fatherly looking person makes it a practice to put the very question which he does not expect to be sufficiently and well answered, to every young Hindu girl or boy student purposefully invited to these (Christian) church meetings. This purpose is shrouded in the confusing impression that is intended to be left on the young mind when he or she finds himself or herself unable adequately to answer the question. That is not all. The confused young mind is further confounded by the answer which the elderly, fatherly looking person usually offers after pausing for a while. According to the elderly, fatherly looking person the Vedas are primitive by which is meant that they are crude, old fashioned and uncivilised.

Why is all this done and done so subtly and dramatically is something that would interest all serious students of theo-psychology. It is not difficult at all to understand that the elderly, fatherly looking person while describing the Vedas as *primiive* only uses the phrase which was first used by Max Muller who in his letter (1866 A.D.) to his wife had admitted *(Life and Letters of Frederick Max Muller)* : "This edition of mine and the translation of the Veda will hereafter tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three

thousand years." The aim of this modern elderly, fatherly looking person is as much to *uproot* Hinduism as it was of Max Muller. Hence the description of the Vedas as *primitive* by both.

The Vedas are described by the Christians as the Bible of the Hiudus. Taking a cue from such definitions the Hindus have now started defining the Bible as the Veda of the Christians. Whatever it might mean, all would agree on the statement which applies equally to both that each set of these books describes and defines a particular religion—in one case Hinduism and in the other Christianism. A comparison would, therefore, be possible between the Vedas and the Bible only on one plane, viz., of the capacity of each of these two sets of books to give a true and correct picture of the Supreme Being whom both the Hindus and the Christians accept to exist unlike the atheists. Apart from this, both can be treated as collection of so much paper and ink though the one may be less or more old fashioned than the other in respect of the cover and the bindings which hold the pages together. The primitiveness or otherwise of those two sets of religious books can be better judged, and only, by scrutinizing what each of them teaches in this behalf and this is what we propose doing here.

We come across the following well known *mantra* in Rig Veda :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
ऋ. : म. १० : सू. १६४ : मन्त्र ४६

Translated into English this would mean : Supreme Spirit is the protector *of all*, and pervades and gives light to all bright things. He is called *Indra*, or the glorious ; *Mitra* or the friendly ; *Varuna* or the greatest and the best ; *Agni* or the adorable. Though one, Brahm (He) is called by the learned by many names, such as *Agni* (the adorable), *Yama* (the ruler), *Matrishiva* (the mighty).

In Rig Veda we again get the following to read :

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरोकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
ऋ. : म. १० : सू. ११४ : मन्त्र ५

which means that the learned and the wise describe (and imagine) the One God by many forms of expressions.

Speaking of Brahm (Him) as the creator of *all* creatures Yajur Veda tells us :

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजाप्रतिः ।।
यजु : अ. ३२ : म. १

Here again we have the same thought. This *mantra* says that he is *Agni* (adorable) ; He is *Aditya* (imperishable) ; He is *Vayu* (omnipresent) ; He is *Chandrama* (the giver of happiness) ; He is *Shukra* (the creator) ; He is *Brahma* (the great) ; He is *Apah* (all pervading) ; He is *Prajapati* (the Lord of all creatures). None can entertain any doubt whatever that the creator of *all* creatures can be no one but the One Supreme Being and only the One Being.

The Yajur Veda again tells us :

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमषता ।

He (God) is one, He does not move, and yet is swifter than the mind ; the senses *(devas)* cannot reach Him, although he is already in them.

In the ten *mantras* (Rig, Mandal 10, Sukta 121, Mantras 1 to 10) we have absolute clarification in support of the monotheism that is preached and taught by the Vedas. The first of these ten *mantras* tells us that in the *beginning* there was God; He was the One Supreme of all created beings. Is it defficult to uuderstand that *beginning* means *the* beginning and not removed in *time* and space from that that was the *beginning*.

In Rig Veda (X:121:9) we again get the same affirmation that the religion of the Vedas is only monotheism. Here we (His children) take a vow saying that "Unto that Great God *alone* shall we offer (our) prayers." In Atharva Veda we read स नः पिता जनिता स एव बन्धुः, i.e., He is *our father*. Only the self-bigoted will refuse to accept that one can have only *One* father. In Atharva Veda (13:4:20) we are told स एष एक एकवृदेक एव : that Brahm (Ishwar) is One and truly is One only. Rig Veda (6:36:4)

once again tells us एको विश्वस्य भुवनस्य राजा : that He is *the* master of all the worlds. We know it too well that the master does not mean someone who shares his mastership with any one else.

Rig Veda advises us (8:92:22) न त्वामिन्द्रातिरिच्यते : O *Indra* (the glorious), there is none superior to Thou. Rig Veda says again (1:94:13) देवो देवानामसि : that Thou are the greatest (God) of all. The Rig tells us once again (8:96:4) that among those who deserve our respects Thou are the *most* respectable *of all*.

Anyone who sets out to find for himself the religion of the Vedas is sure to come to the one and only one conclusion that the Religion of the Vedas is a pure and unadulterated Monotheism. However, a bigot, a religious fanatic and someone whose faculty of independent reasoning has been badly tempered in his childhood shall find it difficult, or rather near to impossible, to be objective and detached and impartial in his studies and judgement of the religion of the Vedas. Such people usually start with some preconceived ideas implanted on their immature minds by ecclesiastics who have an axe of their own to grind. Such people have continuously tried to distort the Teachings of the Vedas and present the Vedic Religion as Polytheism or Henotheism. They did this because it suited their theo-political purpose and in their hideous plans they received more than ample support from the Hindus who while watching these depredations of these propagandists did not care to stir and repudiate these false allegations of Polytheism and Henotheism. There is no doubt that an appreciable number of the Hindus worshipped, and still worship, idols. Because *some* Hindus indulged in idol worship and because the Vedas are of the Hindus some non-Hindus, especially some Christian missionaries mischievously suggested that idol worship was permitted *by* the Vedas and that the religion of the Vedas was Polytheism *or* Henotheism. This is like saying that homoeopathic system does not rest on the principle of *similia similibus curontur* (like is cured by like) because, BECAUSE, *some* homoeopaths use allopathic medicines. What a logic ! This is exactly how Christianity tried first to throw Polytheism into the lap of the Hindus and then accuse Hinduism of believing in Polytheism or Henotheism. This theo-political conspiracy against Hinduism was lent great support by

Christian missionaries like Max Muller who on purpose misrepresented and misinterpreted the Vedic Teachings with the sinful and villainous aim of uprooting Hinduism. This intrigue against the Hindus and their monotheistic religion of the Vedas was carried another step forward, and afforded great impetus, by the British East India Company who had then on its staff rabid communalists and religious fanatics like Thomas Babington Macaulay. These misinterpretations of the Vedas by Max Muller were officially prescribed as text books in schools and colleges with the aim of implanting on the minds of *young* Indians (Hindus in particular) the harmful and the false idea that the religion of the Vedas was *not* monotheism and that the Aryans worshipped forces of nature. Side by side the same young people were being constantly told in achools and colleges that monotheism was a discovery of Christianity. That is how by this *dual* attack Hinduism was desired to be uprooted.

What is this Henotheism which Christianity has tried to force upon the unwilling Hindus ? Henotheism is described by the *Concise Oxford Dictionary* as the "belief in one God without asserting that he is the only God". A little careful examination of this definition of Henotheism ought to convince any impartial person of the depravity of the mind who first coined this word. If the One God is not the only God how He can be the One God ? This new word was coined with the explicit purpose of confusing the world and throw something meaning near-to-nothing and suggest an ism between Monotheism and Polytheism. This was thought to be necessary by some Christian missionaries because the enlightened section of Christianity had refused to accept in whole the Christian theory that Polytheism was the religion of the Vedas. The bigoted section, therefore, decided, as a compromise, to tone down their claim and make it less sweeping. With this in mind they invented Henotheism—belief in one God without believing that He is the only one God, which is equal to saying "belief in Monotheism without believing that He is the only Supreme being" !

The Hindus have said it time and again that the religion of the Vedas is Monotheism but some non-Hindus want them to believe otherwise. They insist on this merely because, according to them, Hindus call God by more than one names like

Indira, *Agni*, *Varuna* and others. Some of the people who raise this objection do this honestly because majority of them fail to comprehend what the Hindus mean when they address Him by these names. But there are many more who refuse to try to understand because it will go against their ecclesiastical interest. We shall try to explain this riddle allegorically. A man owns a house which has, we arbitrarily fix the number, three rooms. When he thinks of an enemy or theives attacking him he imagines the house to be a 'citadel or a fort'. When he sits near the fireplace in the sweet company of his family he calls it his 'paradise' and at another time when he is doing his studies he describes it as his 'Nalanda'. Now, is there anything wrong with this ? No, because he every time means only the one house that he possesses. He has only different names for it. Do not some parents sometimes have more than one names for their *only* (one) child ? Do these several names mean, then, more than one child ? No, never. Does not a man call his wife by more than one names ? Sometimes she is 'darling', sometimes 'dear', sometimes 'my love and soul', sometimes 'my trouble', sometimes 'mother of--.' Does it all mean more than one wives ? No, not at all. From the foregoing discussion we can come only to one inescapable conclusion, and it is that the Religion of the Vedas is Monotheism.

Before we try to find out the religion of the Bible one point would need clarification. The Bible consists of two parts and the second part is known as the New Testament which defines Christianity. In the present discussion we are concerned only with the New Testament because Christians base their religion (Christianity) only on the teachings of Christ and disown the Hebrew part (the old Testament) of the Bible.

The Christians believe in God the Father, God the Son (Christ) and God the Holy Ghost (Spirit). This is the corner-stone of their belief. They also assert that not only there are three persons (God the father, God the Son and God the Holy Ghost) but also that each God is equal in power and glory and that these Three are One. Is it not analogous to saying that $a+b+c=D$ and also that a and b and c *each* is equal to D ? If a and b and c each is equal in power, then each of the three should be equal to one-third of D in power. Supposing that

each a and b and c is equal in power to unity then a+b+c should be equal to I+I+I, i.e. three, and not unity as is claimed by Christianity. Again if God the Father, God the Son and God the Holy Ghost are accepted to be equal in power and glory there must be another Being who must be above them and who must have created them. Or, if no fourth Being created them, then they must have created one another, but the one who is not yet created cannot have the power to create someone else. If these *three* coexisted, then they must have been so brought into existence by some other Being that they would find it possible to *begin to coexist* in *time*. Examined from whatever angle, this theory of three in one and three equal to one falls to ground. For yet further probe we shall again bring in the allegory of the house we introduced earlier while trying to know the religion of the Vedas. This new owner, this time a Christian, appears to be saying something like this : "I have this house of three rooms. *Each* room is *equal* in size and also that *each* room is *equal* to the *whole* house which has *three* rooms !" There is nothing to prevent likewise Christianism from calling its Trideism (three Deities) by the name of Monotheism ! Christianism might as well, and with equal indifference, create another dozen, a score or a hundred Gods and still describe it as Monotheism provided it has backing of high pressure publicity which it today enjoys all over the globe.

There is absolutely no doubting the fact that Christianism worshipped *three* Gods and that thus the religion of the New Testament was *limited* Polytheism which we shall call Trideism. It was *only* when Christianism came in contact with the Vedas that it discovered Monotheism. This discovery made some Christian theologians more than uneasy and over a period they developed, as usually happens in such circumstances, a sort of inferiority complex which soon ended into a strong hatred for the Hinduism and their Vedas. Christianity had preached too long, for about sixteen centuries, this Trideism which she preferred to call Trinitarianism and found now herself incapable of undoing the damage that had already been done. As she could no longer think of rising to the high level of Vedic Monotheism she decided to pull down Hindusim to her own spiritual level. This meant thus either Polytheism or at least Henotheism.

In 1605 one Robert de Nobili had set his feet on the Indian soil. He was an Italian, then 28 years old, and was a Jesuit. His mission was to convert the Hindus to Christianity and with this in his mind he learnt and studied Tamil and Sanskrit. He studied the Vedas and other religious books and was evidently impressed by the lofty teachings of the Hindu *Dharma* but as his mind was closed he wanted somehow to convert the Hindus of this country. With this purpose alone he caused a false and concocted fifth Veda to be written so that the Hindus might be mislead off the right Vedic Teachings. He was in constant correspondence with Rome and some other religious eentres of Europe. As he himself came from Italy and was a Jesuit he had more intimate contact with the Italian intelligentsia who were interested to know more, and as much as possible, about Hindu *Dharma* of the Vedas. There is no doubt that Nobili had made the personal discovery that the Vedas taught nothing but pure monotheism. There is no doubt either that he reported this discovery to Rome with a sense of theological surprise.

In the 16th century there had lived another man in Italy, Laelius Socinus (b. 1525, d. 1582), who had rejected the Christian Trideism as irrational and unaceeptable to reason. But since Christianity believed fully in Trideism he was declared a heretic *because he preached monotheism.* In 1546 he had become a member of a secret society at Vicenzay, formed for the purpose of discussing religious matters and which had arrived at the conclusion that the doctrine of three Gods in one (Trideism) was untenable and that many of the dogmas of the Roman Catholic Church were repugnant to reason. When the nature of the deliberation of the members of this secret society were made known it was broken up ; several members were put to death and others including Laelius Socinus had to flee to other places of safety. While still in exile he died at Zurich. This Socinus had a nephew, Faustus Socinus, who was born in 1539 and lived till 1604. He too was obliged to leave his town for his heretical views (monotheism). The senior Socinus had written several religious treatises *(Dialogue inter Calvinum et Vaticanum, De Sacramentis, De Resurrectione Corporum)* some of which fell into the hands of Faustus who started publishing these. As the Church regarded all this heretical, Faustus had to flee to Basel to

escape the Inquisition. Laelius and Faustus had committed the sin of preaching monotheism which was against the established Trideism of Christianity and the very fact that they were for this reason in constant danger of losing their lives proves beyond doubt that monotheism was not acceptable to Christianity.

Faustus died in 1604 and Nobili came to India in 1605 when he was 28 years old. Nobili could not have come, therefore, to India without some impressions of the cult of monotheism that was preached by Laelius and Faustus. On arrival in India he found in the Vedas a reconfirmation and reaffirmation of monotheism. As a Jesuit and member of the Catholic organisation which was responsible for the Inquisition, he could not accept monotheism of the Vedas because this was opposed to the Christain theory of three Gods in one, i.e., Trideism. The attempts started being made, therefore, to prove (on false evidence) that the Vedas taught something worse, i.e., Polytheism or Henotheism. Despite all these efforts no one can deny that the Vedic Teachings had their impact on the Christian thinking. There is additional, and sufficient, historical evidence to prove that the Christian Church frowned on anyone, and all, whoever rejected, or did not accept, Trideism or expressed a belief in One God. In 1662 a large number (2000 at least) of clergy were ejected from the Established Church under the Act of Uniformity *because* they had refused to accept Christian Trideism and professed instead monotheism which they called unitarianism. They considered Christ as a mere mortal and believed in One God. *This* was not acceptable to the Christian Church and, therefore, in 1658 they were banished from Poland under pain of death ; in England and on the continent the Unitarians were burnt at stakes. It was only in 1813 that they were freed from these disabilities from which for so long they suffered. All this shows conclusively that Christianity is a religion which believes in three Gods and abhors the idea of monotheism which the Vedas preach.

In 1813 the Christian Church under pressure of public opinion agreed to accept Unitarianism as one of the many isms in which Christianity believes and is today divided and subdivided. In 1793, on November 11, William Carey (b.176I, d. 1834) had arrived in India as a Christian missionary. He was emplo-

yed on an indigo plantation and operated in different parts of Bengal. In 1799 another group of Christian missionaries arrived which included Joshua Marshman (b. 1768, d. 1837) and William Ward (b. 1764, d. 1823). These missionaries settled near Calcutta at Serampore where Carey soon joined them. It is from here that the Christian newspaper *Friend of India* was started and from which the *Statesman*, now published from Delhi and Calcutta, claims a 'direct descent'. This group tried very hard to convert Raja Ram Mohan Roy to Christianity and in 1818 (on March 19) another Christian missionary arrived in Serampore to join this group. He was Rev. William Adam. This Adam came in frequent touch with Raja Ram Mohan Roy because it seems he was especially charged with the *sacred* duty of subverting and perverting the mind of this great Hindu intellectual. What happened is of immense importance and of great historical value. It concerns *directly* the topic that is under discussion here. Raja Ram Mohan Roy was a Hindu ; he believed in the Vedic Teachings and he was a staunch monotheist. In the course of their (friendly?) discussions the Raja often laughed and made a merry sport of the Christian dogma of three Gods (Trideism) to which Rev. Adam was wedded. He could find no answer to the arguments of Raja Ram Mohan Roy who supported monotheism and then the strange thing happened which usually happens in such circumstances. The Christian missionary, Rev. William Adam, who had set out to convert Raja Ram Mohan Roy to Christian Trideism, gave up (sloughed off) his belief in three Christian Gods and became a monotheist *and* ultimately a *Vedantist*. The Christian publicity machine always tries either to conceal this historical news from the public or tries hard to twist it to suit her own purpose. The fact that Raja Ram Mohan Roy did convert this Rev. William Adam was mentioned in *Anglo-India*, Vol. III, on page 238 and cannot be denied. Rev. William Adam had gone for wool but went away shorn. From this time onward Adam started preaching monotheism or Unitarianism as they call it. *This* again was unaceptable to the established Christian Church for the reason that it went against the established teachings of limited Polytheism, i.e., Trideism of Christianity. For this sin, therefore, the Rev. William Adam, the Christian missionary, who was especially sent to India to convert the Hindus to Trideism

(limited Polytheism), was *expelled* from the Christian Church ! In the Annual London Report of the Missionary Society, which is dated 20th June 1822, a statement in regard to Adam appears in these words : "We mention with deep regret that Mr. Adam, late one of their number (i.e., of the workers in Calcutta), had embraced opinions *derogatory* to the honour of the Saviour, denying the proper divinity of 'Our Lord Jesus Christ' *in consequence of which* the connection between him and the Society has been dissolved." Rev. Adam had to pay this price because he had revolted against Christian Polytheism, disguised cleverly from the view of the common man under the sophisticated name af Trinitarianism. This proves once again and to the hilt that Christianity not only believes in, and practises, the cult of *three* Gods but also scoffs at and tries to punish all those who show any signs of drifting away from this particular brand of Polytheism.

Some Christians have been heard to remark that Christians call the one God by the three different names in the same manner as the Hindus call their One Brahm by so many names. This explanation holds no water at all. Firstly, because Christianity accuses for so doing Hindusim of practising the cult of Polytheism or Henotheism. Why then Christianity must fall into the same error knowingly ? Secondly, the Hindus call by different names the One Brahm but Christianity calls by *three* names *three* different persons. Christianity admits that these *three* persons are *equal* in power and glory. Equal ? Who and equal to whom ? When it is a matter of equality, then the comparison must be between two or three *separate entities*. Father and son are always *two* different persons and never one, however anyone might try to quibble.

Raja Ram Mohan Roy (Rammohun Roy) was engaged, over a long period, in discussions of a religious nature with the Christian missionaries of Serampore. In 1823 he published his *Final Appeal to the Christian Public in Defence of "The Precepts of Jesus"*. On page 634 we get the following to read :

> "Lastly, I tender my humble thanks for the Editor's (of *Friend of India*) kind suggestion in inviting me to adopt the doctrine of the Holy *Trinity* ; but I am sorry to find that I am unable to benefit by this abvice......I have long relin-

quished every idea of a *plurality* of Gods, or of the persons of the *Godhead*......Whatever arguments can be adduced against a plurality of Gods strike with equal force against the doctrine of a plurality of persons of the Godhead ; and, on the other hand, whatever excuse may be pleaded in favour of a plurality of persons of the Deity can be offered with equal propriety in defence of Polytheism."

It is abundantly clear that the Christian missionaries of Serampore who knew thoroughly the Christian scriptures wanted Raja Ram Mohan Roy to adopt only the doctrine of *three* Gods (Trinitarianism) and *not* of One God. Since the Raja continued to believe in, and practise, the cult of the One Supreme Being as preached by the Vedas he continued to remain a Hindu as before; he could not be accepted as a Christian as long as he did not accept the theory of *three* Gods or Godheads !

Discussing the same point Raja Ram Mohan Roy wrote on page 612.of his *Final Appeal (Ibid) :* "I answer, because commonsense tells us that a son, as well as a servant, must be acknowledged to be inferior to his father or master. Again, we find David called the son of God, Solomon the son of God, Adam the son of God, and in short the whole children of Israel denominated sons of God; yet represented in scriptures as inferior to God their father; nay, moreover, Jesus the son of God positively declares himself to be inferior to his father...'My father is greater than I'." Is it not interesting theological history that one of the three persons in the trinity on whose behalf Christianity speaks readily and willingly admits himself to be inferior to the first person in the Trinity but that his followers should insist on disputing his inferiority vis-a-vis the father ? Why ? Because Christianity cannot reconcile itself to the idea of One God (monotheism). She is wedded to this limited Polytheism (Trideism) and she has already gone too far to retrace her steps. Acceptance of Monotheism so late in the day threatens her of complete extinction as a religion. Can she possibly do this ? No, never. The entire heirarchy will rise in revolt to safegaurd its vested interests.

The question that remains to be answered is whether or not the Bible (the New Testament) lays down this cult of Tri-

deism. We can very confidently say 'yes' and can be sure of receiving the full support of the established Christian Church. Here is what we find on page 115 of the *Christian Faith*, 1960, by David H.C. Read, D.D. : "There is no question about this emphasis. Not only is the Trinity expressed in creed and catechism, but it is a constantly-recurring note in Christian prayers, hymns, and blessings. We baptise 'in the name of the Father, the Son, and the Holy Ghost', we sing 'Glory be to the Father and to the Son, and to the Holy Ghost', we pray 'God the Father, God the Son, and God the Holy Ghost'. All the Churches that are members of the World Council, as well as the Roman Catholic Church, are avowedly and explicitly Trinitarian." The auther of this book lends a mystical touch to it when he further says : "We find another *clue* to the *importance* of this doctrine in a *curious* feature of Church life and history. It seems to be generally true that the Christian community in *every age* has been *nourished* by a belief in the *Trinity*, so that when this belief has waned the *strength* of the Church has waned with it... Christian communities that abandoned the doctrine of the Trinity have *nearly* always tended to *die away*." A Unitarian when asked to comment on this remarked that it is an age old practice with the Trinitarians to play upon the fear complex of the believers in order to boost up their crumbling creed. Whatever might be the differences between the two it gives us sufficient evidence in support of the assertion already made that Christianity believes in, and practises, Polytheism under cover of Trideism and that the Bible supports this belief in the three Gods or three Godheads.

We now come back to the beginning of this discussion. The Vedas preach and teach us the **cult of One Supreme Deity (Monotheism)** and there is no reason to believe the contrary despite the insinuations and misinterpretations purposefully made against the Vedic Teachings by some Christian missionaries. The Vedie Teachings on the Supreme Being are unchangeable now or in the distant future. Writing in *Superiority of the Vedic Religion* W.D. Brown, the British philosopher, agreed that **"It (Vedic Religion) recognises but One God.** It is a thoroughly scientific religion, where religion and science meet hand in hand. Here theology is based on Science and Philosophy." While

giving some quotations from the Vedas Count Bjornsjerne said that "these truly sublime ideas cannot fail to convince us that the **Vedas recognise only one God."** As against this the **Bible of the Christians teaches (limited) Polytheism (Trideism)** and as such spiritually the Biblical teachings are not only very primitive but they also look, in this age, to have already grown stale.

Just as chariots, running in battle-fields, affording protection, conquering foes, bring us wealth, so do these Vedic hymns full of knowledge and delight rise unto God, out of the hearts of the devoted scholars.

—Sama Veda

Vedic Philosophy

Shri Ganga Prasad Upadhyay, M.A.

In common parlance "Vedic Philosophy" means 'Vedanta', and 'Vedanta' means *monism*, chiefly of Shankaracharya. But philosophers have divergent views on the question. The medieval Indian philosophy is generally divided into two classes—orthodox or that based upon the Vedas, and heterodox, denying the Vedas altogether. The six well-known schools belong to the first category, and Charvakas, Jains and Buddhas belong to the second. Thus all the six schools claim to be Vedic. But the stream of philosophic thought in India has never flown between two hard-bound rocks. Once started, however narrow at the outset, it broadens its channel and goes on branching off in numerous ramifications, baffling the *logician's* efforts to define them. For instance, Shankar took his cue from Gaudapada, who was the teacher of his teacher and elaborated the theme and put it into a definite shape. This is what is commonly known as "*Vedanta*" (the end or quintessence of the Vedas). But Shankara's followers and devotees amplified it in all sorts of ways and a vast literature grew up ; and for an ordinary reader it becomes difficult to make his way out through the unmanageable tangle. Neither the Vedanta of Shankar is the same as of Gaudapada, nor of Anandgiri as of Shankar, nor of the Vedantists of modern times, such as of Vivekanand and Tagore, the same as of Anandgiri. But outside the pale of Shankar's Vedanta, there are philosophers who refuse to agree with Shankar, though they are as devoted to the Vedas as anybody else. They do not say that the world is a mere illusion, an offspring of Avidya or nescience. There are modified non-dualists (e.g. Ramanuja), dualists (e.g. Kapila), atomists (e.g. Kanada) and several others with shades of differences (e.g. Ballabha). They all claim for themselves the title of "Vedantin". In modern times there arose another orthodox

philosopher, Swami Dayananda, who, basing his philosophy on the Vedas, boldly announced that Shankar's Vedanta is only a Neo-Vedanta, differing basically from the Vedanta of Vyasa (on which Shankar has written a very elaborate commentary) and therefore from the Vedanta of the Upanishads and of the Vedic seers of old.

When we speak of Vedanta (Veda+anta, the end of the Veda), we totally ignore *Vedadi* (Veda+adi, the beginning of the Veda), the starting point. Does any student of the Vedas find the nescience (maya)-theory at the beginning of the Rg. Veda or any other Veda ? Even sage Vyasa starts with the desire to know Brahma and the description of Brahma as one who causes creation etc. of the world (जन्माद्यस्य यतः). Where is Maya or Nescienee here ? No illusion. The victim of llusion would not be anxious to know Brahma. And a seeker after Brahma cannot be dubbed as the one bewitched by illusion. The third aphorism of the Vedanta is still more significant. Brahma is the fountain-head of all Shastras (scriptures). Shastra in Sanskirta is only that which propounds the true principles of living. If from Brahma emanate the Shastras or the Veda, how can the Veda inculcate a philosophy of nescience or illusion as from the very Brahma emanates the world ? Then, take the first verse of the Rg. Veda—"Agnim-ide" (अग्निमीडे). Here there is no hint whatsoever of illusion. The whole Sukta presents a realistic view of the universe and its maker.

Shankar, though a powerful champion of the Vedas and a formidable foe of Buddhism, takes his cue of *illusion* from the nihilist Buddhists* who built their philosophy upon dreams. They argued that just as dreams are unreal, so is the world and the phenomena. Their starting point was dream. They likened the wakefulness with dream. This was the upsetting of the two component parts of the argument. It was just like this. The picture of a flower is not a real flower and as the flower is like the picture, so the flower is also not real. Should the flower be first,

---

*क्लेशाः कर्माणि देहश्च फलानि च। गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः ॥
(नागार्जुनकृत माध्यमिकसूत्र)

गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्न सन्निभाः। (चन्द्रकीर्तिकृतभाष्य)

and then the picture? Or the picture first and then the flower? Shall we argue from the flower to the picture or from the picture to the flower? Should we infer the properties of the picture from those of the flower or vice versa? Which is primary and which secondary? Is the wakefulness the reflection of the dream, or dream the reflection of the wakefulness? Even Shankaracharya was forced to admit, though in another context, that dreams are simply a sort of copies of the knowledge derived in the wakeful state. (Vedanta Sutra II. 2.29)

It is a well known maxim that those who are born blind have no colour-dreams. This shows that whatever philosophy starts from dreams and makes dreams its bed-rock is very shaky and misleading.

So much about the socalled Vedanta. We have only given a hint of "beware", so that the reader may not confuse the Vedanta, as is commonly supposed, with Vedic Philosophy. If we want to know what Vedic philosophy is, we shall have to make a direct approach to the Vedas. To rely upon the subsequent literature, produced by the polemics of various thinkers, will be highly misleading.

Take the Rig Veda. Begin to read it anywhere. The first thing that will strike you is the bold realism of the Vedas. In the first Sukta we begin with the adoration of Agni (अग्नि), the purohita or the foremost placed (i.e., the most prominent) Supreme Being, the creator of seasons and the master of all gems (precious objects). He has been the object of adorations of the ancients and moderners alike. Is it not realistic? Sometimes the Sun is addressed as it appears on the horizon and bewitches us with his grandeur, sometimes the early dawn (Ushas) is admired for its darkness-killing qualities. Winds, streams, mountains and other objects of nature present themselves to our eye. Are they all dream? How did you conclude that they are dreams?

Then again, not only the Vedic seers sing and admire, they seek and discover. They invent and build. They are the builders of a stupendous and most lasting civilization. There is hardly any branch of science—physics, chemistry, geology, astro-

nomy, which did not receive due attention from them and which they did not develope and utilize in their daily behaviour.

We admit that behind the concrete realism there are not wanting traits of abstract ideas. But the very fact that we abstract (with our mind) from the objects of observation which by themselves are not abstract but exist inspite of and outside of our brain, shows that the Vedic philosophy is *Realism*.

There is a well known verse of the Rg. Veda which is often quoted as proving the germ of the theory of illusion in the Vedas : नासदासीत् नोसदासीत् : Nasadasit Nosadasit (Rg. X 129-1) It means : "There was not non-existence, nor existence. But those who read illusion or Maya in this verse were highly misled. Perhaps they tried to make the Vedas consistent with the prevalent theory of illusion. The first part clearly negatives the non-existence. The second part simply denies the effect, i.e., creation, previous to its being created. In the fourth verse of this very Sukta the following words clearly explain the Knot : सतो बन्धुमसति निरविन्दन् : "Sages who searched with their heart's thought discovered the existent's Kinship in the non-existent."

This does not refer to illusion. This only says that every effect which is first son-exintent and then becomes existent, has a Kinship with its cause which exists before the effect. In the things seen in dreams this Kinship is either loose or sometimes broken. Shankarcharya has dwelt upon these features of dreams in his commentary on the Sutra quoted above (II, 2.29). Every jar has a Kinship with its cause clay. Ice has a Kniship with its cause water. If there is an illusion and by seeing a piece of white cotton we mistake it for ice, the Kinship is broken.

We stop here for brevity's sake. For further elucidation we refer the reader to our "Philosophy of Dayananda".

The second significant point of Vidic Philosophy is the due place provided for "Soul" or "Life". To sum up in a short sentence, the Vedic philosophy is not theo-centred, but *bio-centred*. Many religious creeds are theo-centred. They start with the conception of God, they elaborate this conception and they merge everything into God-head. But the Vedas deal differently. In other philosophies soul and matter appear by the way, as if by-

products, products not at all important. God is the only eternal entity. From it emanates everything else, and into it it all disappears in the end. There is the creation, and there is its creator. The action is there and so is its actor. But the further analysis of an action is wanting. The very purpose of the creation is wanting. It has been unscrupulously ignored. The whole universe is teleological. All thinkers are at one on this point. But in all theo-centred philosophies this teleology (the purpose of creating) is missing. If God is the only eternal entity, then why does He create ? The *theologians* in general shirk from the duty of answering this question They shudder at the false apprehension of invoking God's wrath by such sceptic or *heretic* attitude. They forget that the best and the most successful devotee is he who understands the heart of his master by discovering the purpose of his activities. You cannot say that this vast universe with its stupendous complexities has been created by a whimsical creator with no definite purpose. And if there be such a God, as in fact He is not, his devotion would mean the surrender of a noble nature to an unprincipled master.

Take any object in the world, or any event. All have a purpose. And what purpose can God have, if there is no other entity ? Such a God would be an imperfect being. Will it not be more blasphemous ? The Vidic philosophy does not postulate such a being. Every thing that we find in the world is for the sake of some needy being, some soul, some living thing, which constantly requires help. You have eyes, why ? To see with. Does God need your eyes ? What purpose will your eyes serve if you are not in the picture ? Then, the sun. He helps your eyes in seeing, and the eyes of myriads of other creatures—men, dogs, insects, etc. Of what use is the sun if no other living beings exist ? And if you say that God first creates these living beings and then the other substances for their use, the question still stands unsolved. What purpose do these beings serve of God ? First create a hungry soul, then let him cry of hunger, and then provide food for him. Why all this fun ? Such a belief may be a pious musing, but not a philosophy.

Vedic philosophy, therefore, is bio-centred. It deals with life, and as life implies a creator and preserver, it inculcates the existence of a Supreme Being over and above the existence

of other beings. All schools are scholar-centred and not teacher-centred, though teachers are required for the sake of students. As in dealing with students, so in dealing with living beings, you must conceive the existence of God too. We proceed from ourselves to our maker and not from our maker to ourselves. Therefore Vedic philosophy envisages the eternality of three things—God, souls and matter. You can call it trinity or trinism as distinguished from monism. This thing has been very clearly described in the Vedas by a beautiful allegory. We give here the three relevant verses. On the same tree live embracing each other two beauteous birds of equal age and friendly. Of these two, one tastes the fruit (of the tree). The other, not eating (the fruit), supervises (Rg.) V. I. 164, 20-22) Here beautifully-phumaged (soul birds), knowing their shares in the nectar (sweet food), incessantly receive inspiration. The Lord-protector of these whole universes, Lord of Wisdom enters into my immature self. (He inspires souls.)

The tree on which honey-tasting beauteous birds—they all live and propagate, the fruit of which, the fore-part, people call sweet, that sweetness is not realized by that (Bird) which does not understand the father or the Supreme bird (God).

(Here I have tried to translate verbatim in order to help the reader in realizing all phases of the meaning.)

Let us clear the allegory. There is an insentient tree (an inanimate dwelling place) on which dwell two sentient birds, one the lower sentient or soul and the other the higher sentient or God; one the eater and the other the feeder. This triad you will find everywhere, in every phenomenon. A child is born. There is the material body (the tree); there is the lower sentient bird, the soul, the helpless soul, crying for food, having no control upon any part of the tree; yet there is a third entity, the higher bird, which does not eat but feeds. When a man dies, there too is the same *triad*; the insentient tree, diseased and worn out, quite helpless in doing any service; the lower bird or lower self clinging to the tree, still an eater; but over and above there is a higher self, the feeder, which has stopped feeding and is forcing it to quit the tree. This is called death. Between birth and death, there is a succession of states and stages, where

this triad is conspicuous—God, soul, and matter. What you call life is the joining together of the insentient matter and the sentient soul, the former serving the needs of the latter. But neither of the two is powerful enough to act and react. There is a power over the two that brings them together, the Great Feeder, that puts the food and the eater together. The food is prepared according to the needs of the eater. The feeder has no interests of his own in determining the nature of food. He is, no doubt, the determining agency but the chief factor of determination is the requirement of the eater. This is what I mean when I say that Vedic Philosophy is bio-centric. The Vedas are full of prayers addressed to God, the higher bird, but even the names by which God is called show the relation in which the eater looks upon the feeder—father, brother, friend, Lord, etc. The devotee is all through seeking his own interests, livelihood, peace, strength, bliss, etc.

Many knotty doubts that trouble a thinker regarding the problems of life can be satisfactorily cleared on this basis of the eternality of this triad—God, souls and matter. This universe in which we find ourselves is neither illusory, nor a modification of God, nor a part or piece of God's being. God is neither modifiable nor divisible. A perfect being must be above these limitations. Souls or lower selves are many (infinite in number. countless). They are subject to pain, pleasure, hatred or affection. They constantly strive to liberate themselves from pain. They have to struggle hard. They are constantly in need of insentient matter, which they strive to utilize, but not always successfully, because these souls being many, and having different requirements, come into clash with each other, and Lord God supervises the interests of all and keeps them within bounds.

These souls have a share in the creation, as birds have a share in the fruit of the tree. God or nature (matter imbued with God's immanence) provides with raw material. Look at your own town. The matter will be clear. It is the souls living in the town that have made what the town is—buildings, parks, etc. God did not create them. So is the case of dens of the beasts and nests of the birds or bee-hives. Thus we souls are co-sharers in the economy of nature. Our social organizations with so many implications are the result of this co-sharing. This

means freedom of action on the part of the soul. We are not hard and fast bound. It is not all that God does. He leaves sufficient margin for the free action of all souls, thus making them responsible for making their own destiny.

The eternality of souls, with their dependence on matter for their activities, postulates that the souls' contact with the material bodies must be temporary and ever-recurring. This means transmigration of souls from one material body to another. The Bhagwat Gita beautifully descibes it by comparing the body with our clothes. We change our bodies like our clothes. Souls never die. They are never born. They are eternal. It is their contact with the material bodies that begins and ends. Thus Vedic philosophy is always optimistic. It helps us in always hoping for the better. No eternal hell. No eternal heaven. No eternal doom. The door of bliss is always open. This has been called by sacred scriptures as "triumph over death"—Mrityunjaya मृत्युंजय. He who understands Vedic philosophy loses all fear from death. The "death" for him is but a change, not always for the worse, may be for the better, according to the doings of these souls. The moral values of our actions are to be measured by this test. Here is a conjunction of mental and moral philosophies of the Vedas.

As the universe is one, not a congeries of accidentally or fortuitously joined together elements but a well set up organism, its parts are inter-connected. Therefore the Vedic philosophy cannot be split up into two independent sections, moral and mental. They are simply two facets of the same thing. What I should do depends upon what I am. Know thyself first, then, "Do thyself". Duty is what is due from you, and "due from you" is the debt that you owe on account of the place you hold in the universe. The last sentence of the Rg. Veda is very significant : "Act so that your cooperation may be obtainable for all." यथा वः सुसहासति (Rg. Veda X. 191.4). All the moral virtues are a corollary to this principle—ahinsa or non-violence, satya or truth, etc. etc. (vide Yoga Sutras). They are social virtues, as well. Because no society is possible unless the individuals base their actions upon sound principles.

On the principles briefly sketched above is founded the all comprehensive Vedic civilization, of whose grandeur, vastness

and imperishableness we hear so much. The division of human life into four ashramas or stages (Celibacy or student stage, Grihastha or household stage, Vanaprastha or ascetic stage of non-attachment, *sanyas* or "quit worldliness" stage) constitutes a well devised programme of spiritual evolution. Then the division of the society into thinkers (Brahmans), soldiers (Kshatriyas), economists (Vaishyas), labourers (Shudras) also aims at the accomplishment of the same end, the tasting of the fruit of the tree by hungry souls and the over-seeing of the non-taster Providence above.

In the above allegory of the tree and the two birds the most significant thing is the emphasis laid upon the fact that the lower-self tastes, while the higher-self does not taste. It only *oversees* or superintends over the whole organisation of the Universe. This is an indication that higher the lower self rises in divinity and nearer it approaches the Higher-self or God, its greed for tasting the fruit of the tree becomes less, till it is reduced to the irreducible minimum. Self-abnegation is the highest morality. God is ideally selfless. In order to be *God-like* we must be selfless. Self-less-ness is Godly. Selfishness is dogly. This is the crux of all morals.

To recapitulate, the Vedic philosodhy is :—

1. Realistic, as distinguished from idealistic.
2. Bio-centric, as distinguished from theo-centric.
3. Trinism, as distinguished from monism.
4. Altruistic, as distinguished from individualistic.
5. Catholic, as distinguished from communalistic.

Modern Hindu religion, as is generally known as Hinduism, is a congeries of several warps and woofs derived from many sources woven together in different times by different agencies and under different circumstances.

Dayanand's Concept of Science in Vedas

Dr. Satya Prakash
Professor, Allahabad University.

Swami Dayananda's concept of the Vedas is the same as of the seers of the Vedic age which includes the age of the Vedangas and Upangas. This concept is a theistic one. Swami Dayananda has shown that all the six systems of Indian philosophy regard the Vedas as the revealed one. God is not only the creator and sustainer of this phenomenal world but also the origin of knowledge as so clearly indicated by the Vedanta Sutras. Theism and atheism both attempt to solve two problems along with a host others posed before them : What is the origin of creation, both living and non-living, and what is the origin of knowledge ? If you are not a theist, your only answer could be "evolution"; that is, orderliness, design and purpose which we see around in creation was born out of chaos by a very slow process of chance and accidents, and the purposeful orderliness in relation to organism appeared only at a very late stage. For atheism there is no alternative answer to these most defficult problems of the origin of creation and of the origin of knowledge. The answer of theism is simpler : chaos exists in nature and the Great Designer and Creator introduces in it the elements of orderliness, design and purpose. When one acknowledges the concept of a personal God of this type, he ascribes to Him the source of knowledge also. The problem of revealed knowledge appears in this context. This is an answer given by theism and it is meant to satisfy theists only. It is not meant to satisfy them who have not accepted the oncept of theism for solving the riddles of creation.

All the organic species possess adequate revealed knowledge, for which they are neither educated nor instructd. We might like to say that God reveals this knowledge to each individual of the species. For example, bees, white ants and the birds who make their hives or nests do not get their training of the craft in an Institute of Technology; they have no researchers and discoverers; they have been pursuing their profession as it is from the times immemorial. This knowledge which every individual possesses to the extent he is meant to possess has been called *instinct* in a convenient terminology; in fact, it is the divine or revealed knowledge as against the acquired or evolved knowledge.

It is not an accident that man separated himself from other organisms; in fact, it was meant for him to be different from other organisms. Why did he deprive himself from the benefits of instinct or that type of divine knowledge as given to other species ? Man by instinct neither flies in air, nor swims on water, nor even trods on the surface of the earth. He has to learn and he has to be instructed. This helpless creature is regarded as the highest form of evolved species. The question of revealed knowledge has to be tackled in this context. We the theists have an answer to these difficulties. Of course, the divine knowledge given to man could not be and should not be as given to the individuals of other species. Nor we can be totally deprived of a bit of divine knowledge which is absolutely necessary for us if we want to evolve, as actually we have done, within a limited period given to human existence.

Let us be modest and say that the first man appeared in this creation one hundred thousand years ago. For a creature devoid of instincts and instructions, this period, a theist has a right to argue, is absolutely insufficient even for the development of a language we find with earliest man of the Vedic period. From the absolutely rudimentary phonetic unintelligible sounds to a perfect sentence comprising of words with nouns, pronouns and verbs and the syntax of speech, even a very modest estimate would take us to a duration which is not given to man for evolution in this creation. Man has not only to evolve his language, he has to evolve in numerous other dimensions. The

non-theistic answer is hardly convincing in this context. In the Creator's design, man was to be different from other creatures. To him alone was given the discretion of right and wrong, he alone is an ethical species with the concept of righteousness as opposed to sins, he alone was given an individuality where he, if he so desires, might raise himself to the highest stature, or otherwise fall down to the lowest pit. Instinctively he was nothing, and yet potentially he was such that if he would he could evolve to high dimensions. For this man was given a divine knowledge with the option to derive advantage out of it without any compulsion.

The concept of divine knowledge is to be judged, examined and adapted in this background. The Vedic seer, when he marched on the path of civilisation, was not utterly a helpless creature, devoid of instincts ; he did not start with zero ; he started with the treasure of the Divine. He had two sources of inspiration : (i) the divine revelation which he called the Veda, and (ii) the organic and inorganic creation ; and since these both originated from the same source, there could be no contradiction between the two. God's written or revealed law and the law permeating the universe, both of them were in complete harmony. This is exactly the meaning of the author when Swami Dayananda declared that the Vedas are books of all true knowledge, and when he made the study of the Vedas obligatory to his followers he meant that the study of the Vedas should be undertaken in coherence with the open book of the Nature. Thus, there cannot be a conflict between the study of science and the study of the Vedas. God's creation and divine knowledge are in perfect concordance.

The divine knowledge, the Veda, is to be distinguished from the Vedangas and the Upangas. The study of science is the subject of the Vedanga and Upanga. Swami Dayananda, in the tradition of the ancient seers, declared that the Vedas contairn *seed* of knowledge, and since science is also knowledge, the implication is that the Vedas have the seed of the sciences also. While accepting it, one must remember that the Vedas are not the *text books* of science, just as they are not the text books of grammar, prosody and logic, the subjects covered by the Vedangas

or the Upangas. Just as the Upanishads derive their inspiration of spiritual knowledge from the Vedas, or just as the Yoga system derives its basic ethics and psychology from the Vedas, in the same sense the positive sciences also look to the Vedas as their primordial source. This is exactly the theme which has been ably developed by Swami Dayananda in his teachings. We should look to the Vedas not only for spiritual knowledge but for the positive scientific knowledge also is the conception which has been emphasised by Swami Dayananda. The Vedas are divine and the creation is divine, and hence the two cannot be contradictary. The study of one should be supplemented with the study of the other.

Swami Dayananda is the first great man in the modern galaxy of Indian thinkers who has welcomed the study of science and who bases his theism on science. The study of science, Swami Dayananda is convinced, would dispel superstitions. He in the tradition of the ancient seers of this land would like to interpret the Vedas in the light of what one observed in nature, and therefore in India there has never been in history a conflict between science and religion, science and theism or between divine knowledge and science. It was again Swami Dayananda who declared that the Vedic seers were not merely the spiritual leaders, they were the discoveres of many scientific thoughts which became the foundation bricks of human knowledge which developed through ages. Thus we find that Atharvan, the Rishi of a number of Vedic hymns, discovered fire for the mankind; Vishwamittra, another Vedic Rishi, evolved the attrition device for the production of fire; again inspired from the Vedic Mantras, Medhatithi extended the knowledge of numerals through billions and trillions; inspired again from the Vedic texts, another historical seer Dirghatamas discovered the Vedic era; and Gargya enumerated constellations. The Vedic seers, inspired from these Hymns, considerably developed the science of anatomy and medicine.

The Vedic hymns themselves do not contain history or historical record of human knowledge, but the names of Vedic Rishis associated with these hymns indicate to a considerable extent the traditions which were followed in this land in the field

of positive knowledge. And we have to give credit to Rishi Dayananda to have drawn our attention to the rich inheritage of this land.

A word of caution is also necessary in this connection. It is often asked whether the Vedas contain every detail of the present day scientific knowledge. This is a queer question, the answer of which needs considerable restraint. As I have said before, the scientific treatment of a subject falls under the domain of Vedanga or Upanga and not directly under the Veda. For example, the number of proofs or pramanas are four or eight, this may be a subject of the Vedanga or Upanga. Similarly, the number of elements, whether five, hundred or more is also a part of the Vedanga, and not of the Veda. The subject matter of the Vedanga would change from time to time depending on the intensity of its treatment and the state of knowledge at that particular age. It is, therefore, dangerous to ascribe to the Vedas most of those details which have been worked out in any particular age of our historical evolution. To expect in the Vedic texts, for example, radio or transistor, jet planes, penicilline or sulpha drugs or the different developments in the field of physical and biological sciences and technology would be rather too much. Swami Dayananda never propounds these views.

Contents Of The Vedas

Prof. Bhawani Lal Bhartiya

Our Sacred Vedas are the most ancient work in the vast range of world literature, as Prof. Arthur Anthony Macdonell has aptly said : "The Rigveda is undoubtedly the oldest literary monument of the Indo-European languages."[1] So also Prof. F. Max Muller also described the Rigveda as the oldest book in the library of the world. The word Veda is derived from the root 'विद' which means knowledge. Thus the etymological meaning of the Veda is the book of true knowledge—physical as well as spiritual. Although the Veda is one but on account of its dealing with different topics it has been further divided into four books or Samhitas which are called the Rigveda, the Yajurveda, the Sama Veda and the Atharva Veda. The Rigveda is the biggest of all, having more than 10000 hymns or mantras. Total number of hymns in all the four Vedas is above 20 thousand.

Rigveda deals with knowledge mostly superhuman. It has been divided into ten Mandals which consist of many Suktas written in the praise of God, though one in existence but having different names. As the famous Rigvedic hymn says that God is one, but the wise men call Him by different names[2]. Agni, Indra, Mitra, Varuna, Pushan, Soma are the different names of the same power which is seen working in the world and the whole universe has been created by his superhuman power.

Yajurveda mainly deals with different yajnas or sacrifices as the European scholars call them. This Veda can be called as the divine book of work and worship. Agnihotra, Ashvamedha, Rajsuya, Sarvamedha, Narmedha and many other types of sacrifices have been mentioned in the different chapters of this Veda, the last being the Ishopanishat which deals in the nature of the Supreme Spirit. It contains only eighteen mantras but at the

1. A Vedic Reader for Students : Introduction.
2. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

same time it shows the highest flight of Indian mysticism and spiritualism. Its first hymn describes the fact that by one Supreme Ruler is this universe pervaded, even every world in the whole circle of Nature. Enjoy pure delight, O man, by abandoning all thoughts of this perishable world, and covet not the wealth of any creature existing.

Sama Veda is specially arranged for musical set-up of the mantras. It has very little originality of its own, as most of the hymns have been borrowed from the Rigveda. Sama Veda is further divided into three Kandas or parts - आग्नेय काण्ड, पवमान काण्ड and एन्द्र काण्ड।

Atharva Veda is related with physical and material sciences, such as physics, chemistry, medicine and biology, astronomy and mathematics. It also deals with Psychology, Sociology and Political Science. Swami Dayanand was the first Vedic Scholar who specifically mentioned that the Vedas contain the element of all true knowledge and it is the primary duty of every Arya to study and propagate the Vedic teachings which are contained in these holy scriptures[1]. Swami Dayanand has elaborated this subject in detail in his Preface to the Commentary of the Vedas. Prof. Max Muller accepting the importance of this valuable book has aptly written in his monumental work 'India—What can it teach us ? Lecture III' as follows : "We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rigveda and ending with Dayanand's Introduction to his edition of Rigveda, his by no means uninteresting Rigveda Bhumika, in two great periods"[2] Same Prof. Max Muller in his Biographical Essays writes thus— "To Swami Dayanand, every thing contained in the Vedas was not only perfect truth, but he went a step further and by their interpretation succeeded in persuading others that every thing worth knowing, even the most recent inventions of modern science, were alluded to in the Vedas. Steam engine, electricity, telegraphy, and wireless were shown to have been known, at least in the germs, to the poets of the Vedas."

Yogi Arvinda of Pondycherry remarks thus about Swami

---

1. The third Principle of the Arya Samaj.
2. भूमिकाप्रकाश, द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री में उद्धृत।

Dayanand and his views regarding the existence of material sciences in the Vedas—"There is nothing fantastical in Dayanand's idea that Veda contains truths of science as well as truths of religion. I will add my own conviction that Veda contains other truths of science which the modern world does not possess at all." and he concludes his remarks about Swami Dayanand's Commentary on the Vedas in the following words—"In the matter of Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final and complete interpretation, Dayanand will be honoured as the first discoverer of the right clues."[1]

Western scholars have a different outlook regarding the Vedas. Their views are prejudiced while they judge the Vedas and their subject matter, as will be clear by the following quotation of Prof. A.A. Macdonell taken from his History of Sanskrit Literature—"He (Rishi) still looks out upon the workings of nature with childlike astonishment. One poet asks why the sun does not fall from the sky, another wonders where the stars go by day, while another wonders that the waters of all rivers constantly flow into it but never fill the ocean."

So also Prof. Winternitz observes : "We have in the Rigveda incest, seduction, conjugal unfaithfulness, the procuring of abortion as also of deception, theft and robbery."—History of Indian Literature, 1927.

But at the same time there are other learned European scholars like Mrs. Wheelar Willox who rightly says—"We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great Vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas on a perfect life, but also facts which all the sciences have since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the seers who found the Vedas."

1. Swami Dayanand and Veda.

Message of Vedas

Principal Lakshmi Datta Dikshit, Panipat

The traditions of literary research founded by European scholars of repute were unfortunately coloured with race prejudice and their attitude towards Christianity. The fact remains that we cannot develop the faith of an exalted nation and a sense of pride in our ancient culture if we still continue to depend upon the version of our scriptures of the European type for telling us what we were. Looking through the eyes of the white man whose race prejudice, pure and simple, prevails upon him to persist in his views about India, even most of the so called orientalists have depicted the people of Vedic Age in the darkest possible colours.

These European scholars when they sat down to write felt themselves to be judges sent down from some region far away from and high above the world of humanity and the Vedas and the country of the Vedas to be criminals whose case they had to judge. It was pre-eminently a communal and racial cobweb of numerous theories broadcast to keep under and reduce to servility in the sphere of literature and culture the oldest and most cultured of the races. To quote only one, the most typical among them, Max Muller thus wrote to his wife :

"I hope, I shall finish that work and I feel convinced, though I shall not live to see it, that this edition of mine and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years."

To the then Secretary of State for India, he wrote in his letter of 16th December, 1868 :

"The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be?"

In his book "The Creative Art of Life" Shri K.M. Munshi admitted that "Westernism has taught us false values and that to understand, to recapture and live up to the best in our culture it is necessary for a student to discover for himself the Aryan discipline, character and outlook and to wrest the secrets of the Vedas ...." Researches have revolutionised methods of Vedic interpretation but the average Indian scholar persists in the old wrong and damaging views about India's heritage, the Vedas.

In the matter of Vedic interpretation, as in historical research, the theories of European scholars ought not be considered to have any value, especially in contrast to the ancient sage Yaska or more recently Swami Dayanand Saraswati whom Shri K. M. Munshi described as "learned beyond the measure of man." Dayanand found the Vedas to be the source of all true knowledge and based his theories on them.

The Arya Samaj was founded by Swami Dayanand Saraswati in 1875 with the object of serving humanity through the revival of India's ancient culture. It presents the Vedic Religion in its pristine purity and abhors as false and accursed any form of religious propagandism which deviates from ordinary rectitude and which denies tolerance, justice and charity to persons of other faiths, including atheists and sceptics. The Arya Samaj enters the battlefield of thought, armed with the heavenly weapons of Light, Truth, Love and Fearlessness. It stands for absolute freedom of conscience and wages war against all sort of superstitions.

The Arya Samaj stands pledged to the spread of the imperishable Arya culture which is synonymous with true spiritual advancement. Such an advancement ensures peace and goodwill to all. It vigorously protests against a sickly view of the world as a place of torment to be despised and dreaded on account of its varieties. It aims at the re-establishment of spiritual practicality as the right key to the Vedic Law of life which governs the progress of the soul in all spheres.

The Arya Samaj accepts the Vedas as the final authority and asserts the right of all men and women, high or low, to study them. It believes in one Omnipresent, Omniscient, and Omni-

potent God and does not recognise the need for any subordinate deities or prophets to intercede with the Almighty on behalf of the human soul for its salvation. It believes in the eternity of God, Soul and Matter. The Arya Samaj denounces idolatry as false worship which far from bringing light and strength to the soul envelopes it in darkness. There is no place in the Arya Samaj for the hereditary priest or for an ecclesiastical authority over the people. It does not countenance the innumerable rituals and ceremonies which choke the spirit and make religion a mockery.

The Arya Samaj believes in the fatherhood of God and the brotherhood of man. It looks with disfavour upon the present day invidious distinctions of caste and denies that the Vedas warrant any such system. It, however, advocates an intelligent recognition of the four varnas or social orders based on worth and not on birth. It yields to none in its holy zeal for the uplift of the depressed classes whom it befriends, not in a spirit of patronage or condescension but entirely as a matter of social justice.

The Arya Samaj insists on strict observance of Brahmacharya by the young of both sexes, viz., the attainment of a proper degree of maturity of body and mind before marriage. It calls for abstinence from all intoxicants and animal food and considers killing of animals, particularly that of the cow, as most sinful.

The formation, existence and continuance of the Arya Samaj itself is a wide programme of reformation—religious, social and political. It has always participated with voluntary zeal and energy in all patriotic movements in the service of the Motherland. It has always been an intensely nationalistic movement and has developed a virile manhood in the nation. It sings the glories of ancient India and by so doing arouses a feeling of national pride in its followers who are made to feel that their country's history is not one tale of humiliation as many others seek to do.

The Arya Samaj aspires to make the whole world noble with truth in the soul, truth in vision, truth in act and truth above all. It furnishes the best contingent of soldiers of truth

to uphold the honour of India in all matters—spiritual as well as temporal.

The Arya Samaj calls men to sift all creeds with impartiality and choose only that which points to the fulfilment of their highest destiny. It appeals to man's highest reason but never resorts to force, fraud or intrigue just to gain adherents. No doubt, it is a proselytizing organisation but it advocates conversion or reconversion only by honourable means and on the sole condition of a "bonafide" acceptance of the Vedic Faith without any sordid motives of monetary gains or material aggrandisement.

O learned persons, go nigh to God, this storehouse of knowledge, through the aid of sages. Realise, through the sermons of renowned scholars, God the Exhibitor of the path of rectitude !

—Sama Veda

आप अपनी औषधियाँ

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी से ही क्यों खरीदें ?

क्योंकि--

● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी विशुद्ध आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण शास्त्रोक्त ढंग से तथा सर्वश्रेष्ठ उपादानों द्वारा करती है।

●● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की आय किसी व्यक्ति की जेब में नहीं जाती, वरन् आपके बच्चों की शिक्षा आदि पर व्यय होती है।

●●● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी द्वारा निर्मित औषधि क्रय करने पर आप जहाँ निश्चय ही श्रेष्ठ औषधि प्राप्त करते हैं। साथ ही आपकी जेब से निकला एक-एक पैसा राष्ट्र के निर्माण तथा जनता की सेवा में खर्च होता है।

इसलिए आप अपनी आयुर्वेदिक औषधियाँ तथा तेल आदि किसी भी खरीद के लिए गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी (हरिद्वार) का नाम अवश्य ही याद रखें।

आपका सन्तोष हमारा उद्देश्य है।

नोट—१. किसी भी रोगी के सम्बन्ध में पत्र द्वारा या मिलकर सम्मति प्राप्त करें।

२. गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की औषधियां बेचने के लिये नियम मुफ्त मंगावें।

गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी P.O. गुरुकुल काँगड़ी (सहारनपुर)

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, जालंधर द्वारा

प्रकाशित साहित्य

१ —कुलियात आर्य मुसाफिर (हिन्दी अनुवाद पं० लेखराम) ६-००

२—स्वतन्त्रानन्द लेखमाला १-२५

३—आत्मानन्द लेखमाला (स्वामी आत्मानन्द जी के लेखों का संग्रह) १-२५

४—वैदिक सत्संग पद्धति (सन्ध्या हवन, प्रार्थना अर्थ सहित) ०-४०

५—धर्मवीर पं० लेखराम जीवन चरित्र (लेखक स्वामी श्रद्धानन्द) १-२५

६—आर्यसमाज क्या मानता है (ट्रैक्ट) ०-१२ (८ रु० सैकड़ा)

७—बलिदान जयन्ती स्मृति ग्रन्थ (आर्य शहीदों की जीवनी) ४-५०

८—उर्दू सत्यार्थ प्रकाश (अनु० पं० चमूपति जी एम० ए०) ३-५०

९—वेदों का यथार्थ स्वरूप (वेदों पर किए गए आक्षेपों का उत्तर) ६-५०

१०—बुद्ध एण्ड दयानन्द (पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय) २-००

११—आर्यसमाज के प्रवेश-पत्र १-२५ सैकड़ा

१२—प्रिंसिपल आफ आर्यसमाज (चमूपति जी एम० ए०) १-५०

१३—नीहारिकावाद और उपनिषद् (ले० चमूपति जी एम० ए०) १-२५

१४—पंजाब का आर्यसमाज (ले० प्रिंसिपल रामचन्द्र जावेद एम० ए०) २-००

१५—सुशीला गीत शतक (सभी प्रकार के गीतों का अनुपम संग्रह) १-००

१६—विश्व को आर्यसमाज का सन्देश (ले० पं० भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार) ०-१० । ८) सैकड़ा

१७—आर्य नेताओं के वचनामृत पं० साईंदास भंडारी ०-१२ १ रु० सैकड़ा

१८—जीवन ज्योति —ले० पं० चमूपति जी, एम० ए० ३-००

प्रकाशन विभाग

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुदत्त भवन

८०) की पुस्तकें मुफ्त मंगाएं

जो आर्य समाजें आर्योदय के १० सदस्य बनाकर उनका शुल्क ८०) हमें भेज देंगी उन्हें निम्न पुस्तकों में से कोई सी ८०) की पुस्तकें मुफ्त भेज दी जायेंगी।

A Challenge to the Christian Faith.	मूल्य १५ पैसे।
Christianity Unmasked.	मूल्य ५० पैसे।
The Christian Love ?	मूल्य १५ पैसे।
The Conflict Between Science and Christianity.	मूल्य २५ पैसे।
ईसाई मत की वास्तविकता	मूल्य १० पैसे।
पादरियों को चुनौती	मूल्य १० पैसे।
ईसाइयों की प्रचार प्रणाली	मूल्य १० पैसे।
पादरियों से ३६ प्रश्न	मूल्य ५ पैसे।
सत्यार्थप्रकाश का तेरहवाँ समुल्लास	मूल्य ३० पैसे।
सत्यार्थप्रकाश सार (कपड़े की बढ़िया जिल्द) पृष्ठ ४००	मूल्य ३)
अवैदिक मत खण्डन अङ्क पृष्ठ २००	मूल्य ७० पैसे
जीवन-ज्योति (स्व०पं० चमूपति लिखित वेद-मन्त्रों की अद्भुत व्याख्या) पृष्ठ ३०० (सुनहरी जिल्द)	मूल्य ४)
आर्य-समाज अङ्क (प्रचारार्थ पृष्ठ ७२)	मूल्य २० पैसे
महाशय कृष्ण अङ्क पृष्ठ १००	मूल्य ५० पैसे
स्वाध्याय अंक पृष्ठ २००	मूल्य १)

व्यवस्थापक-'आर्योदय', १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली

आर्य साहित्य के उत्तम ग्रन्थ

● चारों वेद सरल हिन्दी अनुवाद सहित—१४ जिल्दों में मूल्य ११२, रु० डबल क्राउन १६ पेजी सुलभ आकार में प्रत्येक जिल्द पूरे कपड़े की बँधी हुई—सामवेद १ जिल्द ८) रु०, अथर्ववेद ४ जिल्द ३२) रु०, यजुर्वेद २ जिल्द १६) रु०, ऋग्वेद ७ जिल्द ५६) रु० ।

● महर्षि जीवन चरित्र—श्री देवेन्द्रनाथ जी द्वारा संगृहीत व पण्डित घासीराम जी मेरठ द्वारा अनुवादित, दोनों भाग सजिल्द व अनेकों घटनापूर्ण चित्रों से युक्त, ८) रु० प्रति भाग ।

● दयानन्द वाणी—पुस्तक में महर्षि के वचनों व उपदेशों को उत्तमोत्तम ढङ्ग से संगृहीत किया गया है, टाइप बड़ा, कवर दो रंग का, पृष्ठ संख्या ३४०, केवल १.५० रुपये ।

● क्या वेद में इतिहास है ?—लेखक स्व० पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालंकार । युक्ति एवं खोज पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ, मूल्य २.२५ रुपये ।

● कर्म मीमांसा—लेखक—आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री । पुस्तक में नीति के मूल तत्व, आपद्धर्म कर्त्तव्य और अधिकार, नीति और विधान नीति आदि पर मौलिक तथा सारगर्भित सामग्री है । मूल्य २.२५ रुपये ।

● धार्मिक शिक्षा—डा० सूर्यदेव जी शर्मा की आर्य बालक-बालिकाओं को पढ़ाने के हेतु कक्षा १ से १० तक के लिए बहुत ही उत्तम पुस्तकें । १० भागों का मूल्य ५ रु० ५८ पैसे ।

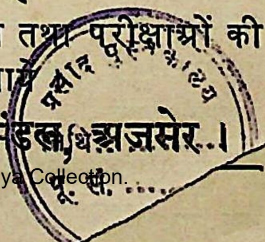
● उपनिषद् संग्रह—अनुवादक पं० देवेन्द्रनाथ जी शास्त्री सांख्यतीर्थ । इसमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय और छान्दोग्य उपनिषद् का सरल और सुबोध भाषानुवाद है । संशोधित संस्करण सजिल्द मूल्य ६) ।

भारतवर्षीय आर्य विद्यापरिषद् की विद्याविनोद, विद्यारत्न, विद्या विशाविशारद तथा विद्यावाचस्पति आदि परीक्षाएं मण्डल के तत्वावधान में प्रतिवर्ष होती हैं, सबमें उपाधि मिलती है । परीक्षाओं की समस्त पुस्तकें पुस्तकविक्रेताओं के अतिरिक्त हमारे यहां से भी मिलती हैं ।

वेदों व अन्य आर्ष ग्रन्थों का सूचीपत्र तथा परीक्षाओं की पाठविधि मुफ्त मंगायें

व्यवस्थापक—आर्य साहित्य मंडल, अजमेर ।





श्री रामलाल क...

स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी...

अष्टाध्यायी-भाष्य

स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु आर्ष... विधि के प्रधान उद्धारक और प्रचारक थे। उन्होंने सम्... आदेश की पूर्ति में लगा दिया और प्रारम्भिक काल में अ... ...ने वाली अष्टाध्यायी महाभाष्य के पठन-पाठन शैली की श्रेष्ठता का लो... केवल आर्य जगत् में अपितु पौराणिक विद्वानों के हृदयों में भी जमा दिय... आपने ४५ वर्ष के अध्ययन अध्यापन के अनुभव के आधार पर अन्तिम का... में अष्टाध्यायी भाष्य की रचना की। इस ग्रन्थ में ऋषि के निर्देशानुसार प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद विभक्ति समास अनुवृत्ति अर्थ उदाहरण, और उनके अर्थ खोल कर दिए हैं। भाषा जानने वालों के लिए भाषानुवाद भी साथ में है। ग्रन्थ के अन्त में प्रत्येक उदाहरण की सोधनिका दी है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़ने पढ़ाने वालों के लिए प्रकाशस्तम्भ है। मूल्य भाग १ (अ० १-२-३) १२-००, भाग २ (अ० ४-५) १०-००।

निरुक्त भाष्य

अन्तारराष्ट्रिय ख्याति प्राप्त प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी ने निरुक्त का हिन्दी में एक महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक भाष्य लिखा है। इसमें निरुक्त शास्त्र और वैदिक वाङ्मय पर पाश्चात्यों वा उनके अनुयायियों द्वारा किए गए आक्षेपों का प्रामाणिक रूप से प्रथम वार निराकरण किया है। इस दृष्टि से निरुक्त शास्त्र पर हिन्दी में यह प्रथम कार्य है। मूल्य १५-००।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से इस प्रकार के अत्यन्त प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण लगभग ३५ प्रकाशन हो चुके हैं। बृहत् सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवायें।

पुस्तक मिलने के पते

रामलाल कपूर एण्ड सन्स प्रा. लि. पेपर मर्चेण्ट

नई सड़क देहली। — बारी मार्केट सदर बाजार देहली।
विरहाना रोड, कानपुर। — ५१ सुतार चॉल, बम्बई।
वेदवाणी कार्यालय, मो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी-६
...च्य विद्याप्रतिष्ठान, ३१।१४४ अलवर गेट, अजमेर

● चारों वेद ... -विद्या-प्रतिष्ठान का ...

डबल क्राउन ... प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान एक ...
हुई—सामवेद ...रतीय और आर्य दृष्टि से ...
१६) रु०, ... अभी तक लगभग ...

● म... निम्नलिखित ...
घासीराम...स्कृत व्याकरण ...
पूर्ण ...न सं... बना...

ढङ्ग ... हम ...
...नकी ...
करने ...
प...
...र ...पुस्त...